पुण्य पाप तत्त्व

लेखक : कन्हैयालाल लोढ़ा

प्रकाशक :
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
(संरक्षक : अखिल भारतीय श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ)

आगम एवं कर्मसिद्धांत के आलोक में

पुण्य-पाप तत्त्व

लेखक

कन्हैयालाल लोढ़ा

सम्पादक

डॉ. धर्मचन्द जैन

प्रकाशक

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

(संरक्षक : अ. भा. श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ)

आगम एवं कर्मसिद्धांत के आलोक में

पुण्य-पाप तत्त्व

प्रकाशक

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

दुकान नं. 182 के ऊपर,

बापू बाजार, जयपुर-302003 (राज)

फोन 0141-2575997

फैक्स : 0141-4068798

Email : sgpmandal@yahoo.in

लेखक

कन्हैयालाल लोढ़ा

82/127, मानसरोवर, जयपुर

0141-2785356, 9413764911

सर्वाधिकार सुरक्षित

सम्पादक

प्रो. (डॉ.) धर्मचन्द जैन

एसोशिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग

जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

मूल्य : 40.00/- (चालीस रुपये)

संस्करण : तृतीय, सन् 2017

मुद्रित प्रतियाँ : 550

मुद्रक : दी डायमण्ड प्रिन्टिंग प्रेस, जयपुर

अन्य प्राप्ति स्थल :

- **श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ**
  घोड़ों का चौक, **जोधपुर-342001**
  (राजस्थान)
  फोन : 0291-2624891

- **Shri Navratan ji Bhansali**
  C/o. Mahesh Electricals,
  14/5, B.V.K. Ayangar Road,
  BANGALURU-560053
  (Karnataka)
  Ph. : 080-22265957
  Mob. : 09844158943

- **श्री प्रकाशचन्दजी सालेचा**
  16/62, चौपासनी हाउसिंग बोर्ड,
  जोधपुर-342001 (राजस्थान)
  फोन : 9461026279

- **श्रीमती विजयानन्दिनी जी मल्हारा**
  ''रत्नसागर'', कलेक्टर बंगला रोड़,
  चर्च के सामने, 491-ए, प्लॉट नं. 4,
  जलगाँव-425001 (महा.)
  फोन : 0257-2223223

- **श्री दिनेश जी जैन**
  1296, कटरा धुलिया, चाँदनी चौक,
  दिल्ली-110006
  फोन : 011-23919370
  मो. 09953723403

प्रकाशकीय

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल की स्थापना विक्रम सम्वत् 2002 (ईस्वी सन् 1945) में हुई थी, तब से यह संस्था सत्साहित्य एवं 'जिनवाणी हिन्दी मासिक पत्रिका' का प्रकाशन कर सम्यग्ज्ञान के प्रचार-प्रसार में महती भूमिका का निर्वाह कर रही है।

जैनदर्शन में मोक्ष-प्राप्ति के लिए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध एवं मोक्ष इन नौ तत्त्वों का ज्ञान आवश्यक माना गया है। जीव-अजीव तत्त्व पर जैन जगत् के विद्वत्मनीषी श्री कन्हैयालालजी लोढ़ा की पुस्तक पहले प्रकाशित हुई थी। उसी क्रम में 'पुण्य-पाप तत्त्व' के विवेचन पर यह पुस्तक प्रकाशित करते हुए हमें प्रमोद का अनुभव हो रहा है। इस पुस्तक के प्रथम संस्करण का प्रकाशन प्राकृत भारती अकादमी की अनुमति से द्वितीय संस्करण का कुछ संशोधन करने के साथ अब तृतीय संस्करण का प्रकाशन किया जा रहा है।

प्रस्तुत 'पुण्य-पाप तत्त्व' पुस्तक जैनागम एवं कर्मसिद्धांत को आधार मानकर पुण्य एवं पाप का विशद् विवेचन करती है तथा इन तत्त्वों के संदर्भ में प्रचलित भ्रान्तियों का निराकरण कर तत्त्व जिज्ञासुओं के चिंतन को नूतन प्रकाश से आलोकित करती है। पुस्तक में पाप को हेय एवं पुण्य को प्रमाणोपेत युक्तियों से उपादेय सिद्ध किया गया है। पुण्य तत्त्व को लोढ़ा साहब ने विशुद्धि के रूप में तथा पाप तत्त्व को संक्लेश के रूप में व्याख्यायित किया है।

परमश्रद्धेय आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा. के आज्ञानुवर्ती तत्त्वचिन्तक श्री प्रमोदमुनिजी म.सा. ने अपने प्रवचन में पुण्य की उपादेयता का प्रतिपादन किया है। इस संदर्भ में यह पुस्तक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

मूर्धन्य मनीषी विद्वान् डॉ. सागरमलजी की भूमिका से इस पुस्तक की विशेष महत्ता बढ़ गई है। सम्पादन के दायित्व का निर्वाह 'जिनवाणी' मासिक पत्रिका के सम्पादक प्रो. (डॉ.) धर्मचन्दजी जैन ने किया है। मण्डल आप दोनों के प्रति आभार प्रकट करता है।

उदारमना, सरलमना सुश्रावक श्री नवनीतजी मुणोत, मुम्बई के प्रति हम विशेष कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं जिन्होंने आदरणीय श्री लोढ़ा साहब की इस 'पुण्य-पाप तत्त्व' पुस्तक के प्रकाशनार्थ उदारमना होकर मुक्त हस्त से सहयोग प्रदान किया है।

इस पुस्तक की सामग्री को व्यवस्थित करने का तथा प्रूफ संशोधन का कार्य आध्यात्मिक शिक्षा समिति में सेवारत शिक्षक श्री राकेश कुमारजी जैन, जयपुर द्वारा सम्पन्न किया गया है। कम्प्यूटर टाईप सैटिंग कार्य में मंडल में कार्यरत श्री प्रहलादजी लखेरा का सहयोग प्राप्त हुआ है। इन सभी के प्रति सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल आभारी है।

आशा है इस पुस्तक का स्वाध्याय करने से पुण्य-पाप तत्त्व के संबंध में पाठकों की दृष्टि अवश्य परिमार्जित होगी।

निवेदक

पारसचन्द हीरावत	प्रमोदचन्द महनोत-पदमचन्द कोठारी	विनयचन्द डागा
अध्यक्ष	कार्याध्यक्ष	मंत्री

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

विषयानुक्रमणिका

सम्पादकीय ---------- VII

प्राक्कथन ---------- XV

भूमिका ---------- XXI

01. पुण्य तत्त्व : स्वरूप और महत्त्व ---------- 1

02. पाप तत्त्व : स्वरूप और भेद ---------- 8

03. पाप ही त्याज्य है, पुण्य नहीं ---------- 17

04. पुण्य-पाप तत्त्व और पुण्य-पाप कर्म में अंतर ---------- 28

05. पाप-पुण्य का आधार : संक्लेश-विशुद्धि ---------- 31

06. कषाय की मंदता पुण्य है, मंद कषाय पाप है ---------- 39

07. कर्म-सिद्धांत और पुण्य-पाप ---------- 43

08. तत्त्वज्ञान और पुण्य-पाप ---------- 55

09. पुण्य का उपार्जन कषाय की कमी से और
पाप का उपार्जन कषाय की वृद्धि से ---------- 87

10. क्षयोपशमादि भाव, पुण्य और धर्म ---------- 99

11. अहिंसा, पुण्य और धर्म ---------- 110

12. पुण्य-पाप का परिणाम ---------- 126

13. पुण्य-पाप कर्मबंध का मुख्य कारण कषाय है, योग नहीं - 131
14. पुण्य की अभिवृद्धि से पाप का क्षय ---------- 138
15. पुण्य-पाप की उत्पत्ति-वृद्धि-क्षय की प्रक्रिया --------- 143
16. पुण्य-पाप की बंध-व्युच्छित्ति : एक चिंतन --------- 148
17. मुक्ति में पुण्य सहायक, पाप बाधक ---------- 151
18. पुण्य के अनुभाग का क्षय किसी साधना से नहीं ------- 161
19. पुण्य-पाप के अनुबंध की चौकड़ी ---------- 163
20. पुण्य-पाप आस्रव का हेतु : शुद्ध-अशुद्ध उपयोग ------- 167
21. शुभयोग (सद्प्रवृत्ति) से कर्म क्षय होते हैं ---------- 181
22. अनुकम्पा से पुण्यास्रव व कर्मक्षय दोनों होते हैं -------- 197
23. आत्म-विकास, सम्पन्नता और पुण्य-पाप ---------- 200
24. सम्पन्नता पुण्य का और विपन्नता पाप का परिणाम ---- 210
25. पुण्य का पालन : पाप का प्रक्षालन ---------- 237
26. पुण्य : सोने की बेड़ी नहीं, आभूषण है ---------- 242
27. पुण्य-पाप विषयक ज्ञातव्य तथ्य ---------- 244

❑❑❑

सम्पादकीय

क्या 'पुण्य' भी 'पाप' की भाँति हेय है? यह एक यक्ष प्रश्न है, जिसका समाधान तत्त्वमनीषी पं. कन्हैयालालजी लोढ़ा ने अपनी इस कृति में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर स्रोतों के आधार पर प्रस्तुत करने का महनीय प्रयास किया है। लेखक ने पुण्य तत्त्व को विशुद्धिभाव के रूप में निरूपित करते हुए उसे कर्मक्षय एवं मुक्ति-प्राप्ति में सहायक माना है, जबकि पाप को मुक्ति में बाधक प्रतिपादित किया है। लेखक ने पुण्य को सोने की बेड़ी नहीं, अपितु आभूषण बताया है।

कुछ लोग जैनधर्म की यह विशेषता मानते हैं कि इसमें पुण्य भी हेय कहा गया है। यह सच है कि सिद्धावस्था में न पुण्य रहता है और न पाप। किन्तु इससे पुण्य को पाप की भाँति हेय नहीं कहा जा सकता। साधक के लिए पुण्य उसी प्रकार उपादेय है, जिस प्रकार कि संवर एवं निर्जरा। पुण्य की उपादेयता को आपेक्षिक दृष्टि से समझना होगा। इसकी उपादेयता संसारी जीवों की अपेक्षा से है, सिद्धों की अपेक्षा से नहीं। जब तक जीव मोहकर्म के अधीन है तब तक कषाय की हानि रूप विशुद्धिभाव अर्थात् पुण्य उसके लिए उपादेय है। संसारी प्राणी के लिए कषाय में कमी आना, भावों में विशुद्धि आना, आत्मा का पवित्र होना कदापि हेय नहीं हो सकता।

दुःख-मुक्ति रूप साध्य के लिए पुण्य भी एक साधन है। इसलिए वह

उपादेय है। यदि पुण्य तत्त्व को उपादेय नहीं माना जाए तो साधना का मार्ग ही अवरुद्ध हो जायेगा। संक्लेश से विशुद्धि में आना साधना का अंग है, जो पुण्य रूप ही है। जैन दर्शन में पुण्य से उपलब्ध होने वाली मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, वज्र ऋषभनाराच संहनन, समचतुरस्र संस्थान आदि पुण्य प्रकृतियों के बिना मोक्ष स्वीकार नहीं किया जाता। अतः इनकी प्राप्ति के लिए भी पुण्य तत्त्व की उपादेयता असंदिग्ध है।

पुण्य को हेय मानने का एक परिणाम यह भी हुआ कि दया, अनुकम्पा, करुणा, सहानुभूति जैसे सद्गुणों को भी पुण्य का कारण मानकर हेय समझा जाने लगा, जिससे इन गुणों का महत्त्व भी समाप्त हो गया। पाप हेय है, पुण्य नहीं। प्रशस्त योग को पुण्य एवं अप्रशस्त योग को पाप कहा जाता है। इस प्रशस्त योग को उत्तराध्ययन सूत्र में ज्ञानावरणादि घाती कर्मों का क्षय करने वाला बताया गया है-**'पसत्थजोगपडिवन्ने य णं अणगारे अणंतघाइपज्जवे खवेइ।'** (उत्तराध्ययन सूत्र 29.7) अशुभ से निवृत्ति एवं शुभ में प्रवृत्ति को चारित्र का लक्षण बताया गया है-**'असुहादो विणिवित्तिं, सुहे पवित्तिं च जाण चारित्तं।'** असंयम घातक है, इसलिए उसे छोड़ने एवं संयम में प्रवृत्ति करने के लिए आगम स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करता है-

एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं।।

-उत्तराध्ययन सूत्र 31.2

पुण्य एवं पाप तत्त्व की गणना नौ तत्त्वों में होती है। नौ तत्त्वों का प्रतिपादन स्थानांग (नवम स्थान), उत्तराध्ययन (28.14), पंचास्तिकाय (गाथा 108) एवं गोम्मटसार जीवकाण्ड (गाथा 621) में स्पष्ट रूपेण हुआ है। किंतु उमास्वाति ने पाप एवं पुण्य का समावेश आस्रव तत्त्व में करके सात ही तत्त्वों का प्रतिपादन किया है। इससे उनके न चाहते हुए भी पुण्य एवं पाप तत्त्वों के संबंध में अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गईं। यथा-पुण्य को

भी पाप की भाँति हेय मान लिया गया। आचार्य कुंदकुंद ने पाप को लोहे की बेड़ी कहा तो पुण्य को सोने की बेड़ी। इस प्रकार पुण्य को भी पाप की भाँति मुक्ति में बाधक समझा गया।

पुस्तक के लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पुण्य को पाप की भाँति हेय की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। लेखक का यह मन्तव्य है कि जिस प्रकार मोक्ष की साधना में संवर एवं निर्जरा उपयोगी है, उसी प्रकार पुण्य भी उपयोगी है। लेखक ने पुण्य को तत्त्व के रूप में भी निरूपित किया है तो कर्म के रूप में भी। पुण्य तत्त्व को वे साधना की दृष्टि से उपयोगी मानते हैं तो पुण्य कर्म के उत्कृष्ट अनुभाग को केवलज्ञान के प्रकटीकरण में भी आवश्यक मानते हैं। पुण्य कर्म का उदय केवल ज्ञान की प्राप्ति में कदापि बाधक नहीं हैं, क्योंकि पुण्य कर्म की प्रकृतियाँ अघाती होती हैं, अतः इनसे ज्ञान, दर्शन आदि आत्मा के किसी भी गुण का अंश मात्र भी घात नहीं हो सकता।

पुण्य को लेखक ने सर्वार्थसिद्धि में प्राप्त लक्षण **'पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा'** के अनुसार आत्मा को पवित्र करने वाला स्वीकार किया है। इस संबंध में उन्होंने प्रज्ञापना सूत्र, धवला टीका एवं कर्मग्रन्थों में प्रयुक्त संक्लेश एवं विशुद्धि शब्दों को भी आधार बनाया है। विद्यमान कषाय में हानि (कमी) होना विशुद्धि है एवं उसमें वृद्धि होना संक्लेश है। विशुद्धि की अवस्था में आत्मा में पवित्रता आती है तथा संक्लेश की अवस्था में आत्मा का पतन होता है। अतः श्री लोढ़ा साहब ने विशुद्धि को पुण्य एवं संक्लेश को पाप कहा है। 'कषाय की मन्दता पुण्य है, एवं मंद कषाय पाप है' नामक लेख में लेखक ने स्पष्ट किया है कि विद्यमान कषायों का कम होना जहाँ पुण्य है, वहाँ अवशिष्ट रहे कषाय तो पाप रूप ही होते हैं।

पाप त्याज्य है, पुण्य नहीं, इस तथ्य की पुष्टि आगमों के उन

वाक्यों में होती है, जिनमें सर्वत्र पाप को ही त्याज्य निरूपित किया गया है। सर्वत्र पाप कर्मों को क्षय करने का संकेत किया गया है, पुण्य कर्मों के क्षय का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। **'तवसा धुणइ पुराणपावगं'** (दशवैकालिक सूत्र 9.4.4) **'संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ'** (उत्तराध्ययन सूत्र 29.55) आदि वाक्यों में पाप कर्मों के आस्रव-निरोध या उनके क्षय करने का ही संकेत प्राप्त होता है, पुण्य कर्मों के आस्रव-निरोध एवं उनके क्षय का नहीं।

'तत्त्वज्ञान और पुण्य-पाप' प्रकरण में लेखक ने प्रतिपादित किया है कि आस्रव, संवर, निर्जरा आदि तत्त्वों का आधार पाप कर्म है, पुण्य नहीं। जब आस्रव त्याज्य होता है तो पुण्य का आस्रव त्याज्य नहीं होता, पाप का ही आस्रव त्याज्य होता है। संवर भी पाप प्रवृत्ति या सावद्य प्रवृत्ति का ही किया जाता है, शुभ प्रवृत्ति का नहीं। इसी प्रकार साधना के द्वारा निर्जरा भी पाप कर्मों की ही की जाती है, पुण्य कर्मों की नहीं। पुण्य कर्म अघाती होते हैं, अत: वे लेशमात्र भी आत्मगुणों को हानि नहीं पहुँचाते। लेखक का तो 'कर्म सिद्धांत और पुण्य-पाप' प्रकरण में यह भी मन्तव्य है कि अघाती कर्म की पाप प्रकृतियों से भी जीव के किसी गुण का घात नहीं होता है तब पुण्य प्रकृतियों को जीव के लिए घातक या हेय मानना नितान्त भ्रान्ति है। इस प्रकरण में पुण्य-प्रकृतियों के संबंध में विशेष सूचनाएँ दी गई हैं, यथा-

(1) जब तक पुण्य कर्म-प्रकृतियों का द्विस्थानिक अनुभाग बढ़कर चतु:स्थानिक नहीं होता है तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता है और यह चतु:स्थानिक अनुभाग बढ़कर उत्कृष्ट नहीं होता है तब तक केवलज्ञान नहीं होता है।

(2) देवद्विक, पंचेन्द्रिय जाति आदि 32 पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध उसी भव में मुक्ति प्राप्त करने वाले जीव ही करते हैं।

(3) चौदहवें अयोगी गुणस्थान के द्विचरम समय तक चारों अघाती कर्मों की 85 पुण्य-पाप प्रकृतियों की सत्ता रहने पर भी केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि क्षायिक लब्धियाँ प्रकट होने में बाधा उपस्थित नहीं होती।

(4) मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, सुभग, आदेय, यशकीर्ति आदि पुण्य-प्रकृतियों के उदय की अवस्था में ही साधुत्व (महाव्रत) तथा वीतरागता की साधना एवं केवलज्ञान, केवलदर्शन की उत्पत्ति सम्भव है।

(5) चारों अघाती कर्मों की मनुष्यायु, उच्चगोत्र, मनुष्यगति, यशकीर्ति आदि 12 पुण्य प्रकृतियों का उदय 14वें गुणस्थान में मुक्ति-प्राप्ति के अंतिम समय तक रहता है।

पुण्य-पाप का संबंध अनुभाग बंध से है। जब परिणामों में विशुद्धि होती है तो पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग में वृद्धि होती है तथा पाप प्रकृतियों के अनुभाग में कमी होती है। इससे पुण्य एवं पाप के परस्पर विरोधी होने का बोध होता है। एक विशेष बात यह है कि पुण्य एवं पाप दोनों कर्मों का स्थिति बंध कषाय से होता है। अतः परिणामों में विशुद्धि होने पर दोनों की स्थिति का अपवर्तन (ह्रास) होता है। विशुद्धिभाव होने पर पूर्वबद्ध पाप प्रकृतियों का पुण्य प्रकृतियों में संक्रमण होता है, पापस्रव का कथंचित् संवर होता है, आदि तथ्यों का निरूपण 'पुण्य-पाप का परिणाम' लेख में किया गया है। एक विशेष बात यह कही गई है कि पुण्य कर्म के अनुभाग में वृद्धि स्थिति बंध के क्षय में हेतु होती है।

'पुण्य का उपार्जन कषाय की कमी से और पाप का उपार्जन कषाय के उदय से' प्रकरण में पुण्योपार्जन एवं पापोपार्जन की विस्तृत चर्चा करने के साथ यह प्रतिपादित किया गया है कि (1) क्रोध कषाय के क्षय (कमी) से सातावेदनीय (2) मान कषाय के क्षय से उच्चगोत्र (3) माया

कषाय के क्षय से शुभ नामकर्म और (4) लोभ कषाय में कमी होने से शुभ आयु कर्म का उपार्जन होता है। इसके विपरीत इन चारों कषायों में वृद्धि से क्रमशः (1) असाता वेदनीय (2) नीचगोत्र (3) अशुभ नामकर्म और (4) अशुभ आयु का बंध होता है।

जितना पुण्य बढ़ता है अर्थात् विशुद्धिभाव बढ़ता है उतना ही पाप कर्मों का क्षय होता है। क्षायोपशमिक, औपशमिक एवं क्षायिकभाव शुभभाव हैं। इनसे कर्मों का बंध नहीं होता है। कर्मों का बंध औदयिकभाव से ही होता है। इस प्रकार का प्रतिपादन 'पुण्य-पाप की उत्पत्ति-वृद्धि-क्षय की प्रक्रिया' प्रकरण में किया गया है।

लेखक का यह सुदृढ़ मन्तव्य है कि मुक्ति में पुण्य सहायक है एवं पाप बाधक है। पुण्य आत्मा को पवित्र करता है, बद्ध कर्मों की स्थिति का अपकर्षण करता है, इसलिए वह मुक्ति में सहायक है, जबकि पाप कर्म विशेषतः घाती कर्म मुक्ति में बाधक है। लेखक का यह भी कथन है कि पुण्य के अनुभाग का क्षय किसी प्रकार की साधना से संभव नहीं है।

पुण्य और पाप की चौकड़ी के अंतर्गत श्री लोढ़ा साहब ने असातावेदनीय के उदय में संक्लेश भावों से होने वाले कर्मबंध को पापानुबंधी पाप बताया है। उन्होंने धवला टीका के आधार पर सातावेदनीय के उदय में संक्लेश भावों से होने वाले कर्मबंध को पापानुबंधी पुण्य एवं विशुद्धि भावों से होने वाले कर्मबंध को पुण्यानुबंधी पुण्य बताया है।

पुण्य शुभयोग रूप होता है। जयधवला टीका में कहा गया है कि यदि शुभ एवं शुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता-**'सुह-सुद्धपरिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो'** (जयधवला पुस्तक, पृष्ठ 5) इसी ग्रन्थ में अनुकम्पा एवं शुद्ध उपयोग को पुण्यास्रव का एवं अदया और अशुद्ध उपयोग को पापास्रव

का कारण कहा है। अनुकम्पा से पुण्यास्रव भी होता है तो कर्मक्षय भी होता है, क्योंकि पुण्यास्रव विशुद्धिभाव से होता है एवं विशुद्धिभाव कर्मक्षय का भी हेतु है।

पुण्य को लेखक ने धर्म के रूप में प्रतिपादित करते हुए कहा है कि विशुद्धिभाव रूप पुण्य अथवा सद् प्रवृत्ति रूप पुण्य धर्म है। सकारात्मक अहिंसा को भी वे धर्म एवं पुण्य के रूप में प्रतिपादित करते हैं। 'क्षयोपशमादि भाव, पुण्य और धर्म' में क्षायोपशमिक, क्षायिक और औपशमिकभाव को मोक्ष का हेतु होने से धर्म एवं पुण्य के रूप में निरूपित किया गया है।

पुण्य तत्त्व को आत्म-विकास का और पुण्य कर्म को भौतिक विकास का सूचक बताते हुए लोढ़ा साहब ने प्रतिपादित किया है कि पुण्य तत्त्व का संबंध आत्मगुणों के प्रकट होने से है, जो आध्यात्मिक विकास को द्योतित करता है तथा पुण्य कर्म का संबंध पुण्य तत्त्व के फल रूप में मिलने वाले शरीर इन्द्रिय, गति आदि सामग्री एवं सामर्थ्य की उपलब्धि से है जो भौतिक विकास को इंगित करता है। आध्यात्मिक विकास एवं भौतिक विकास में घनिष्ठ संबंध है। संसारी अवस्था में प्राणी का जितना आध्यात्मिक विकास होता है उतना ही उसका भौतिक विकास स्वतः होता जाता है।

लेखक के अनुसार सद्गुणों का होना ही सम्पन्नता है एवं दुर्गुणों का होना ही विपन्नता है। सद्गुण रूप सम्पन्नता पुण्य का एवं दुर्गुण रूप विपन्नता पाप का परिणाम है।

कृति के अन्त में पुण्य-पाप विषयक 118 ज्ञातव्य तथ्य दिए गए हैं जो लेखक के व्यापक अध्ययन एवं मौलिक चिंतन को प्रस्तुत करने के साथ पाठक को नई दिशा प्रदान करते हैं।

पुण्य-पाप तत्त्व का आगम एवं कर्म-सिद्धांत के आलोक में किया गया प्रतिपादन मौलिक-चिंतन एवं तार्किक कौशल से परिपूर्ण है। पं. श्री लोढ़ा साहब आगम एवं कर्मसिद्धांत के विशेषज्ञ होने के साथ प्रखर समीक्षक एवं साधक भी हैं। उन्होंने आत्मिक-विकास क्रम के आधार पर पुण्य तत्त्व एवं पुण्य कर्म दोनों की उपयोगिता सिद्ध की है।

आदरणीय प्रो. सागरमलजी जैन ने विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखकर जहाँ इस कृति को सुगम बनाया है वहाँ इसके महत्त्व का भी प्रतिपादन किया है। प्रो. जैन का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि पुण्य न बंधनकारी है और न हेय, अपितु उसके साथ रहा हुआ कषाय, ममत्व, आसक्ति या फलाकांक्षा बंधनकारी है, जो त्याज्य है।

'पुण्य-पाप तत्त्व' पुस्तक के प्रथम संस्करण का प्रकाशन प्राकृत भारती अकादमी से हुआ था, उसमें कुछ संशोधन एवं अध्याय-क्रम में परिवर्तन किया गया है। परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा. के आज्ञानुवर्ती सन्तप्रवर तत्त्वचिन्तक श्री प्रमोदमुनिजी म.सा. के पुण्य-पाप विषयक चिंतन का भी पुस्तक के लेखक श्री लोढ़ा साहब द्वारा समादर किया गया है, जिससे यह पुस्तक स्थानकवासी एवं अन्य परम्पराओं के लिए भी सर्वथा उपयोगी बन गई है।

आशा है विद्वद्वर्य पं. कन्हैयालालजी लोढ़ा की यह कृति सभी जैन सम्प्रदायों में अध्ययन का विषय बनेगी एवं इससे विचारों को नई दिशा मिलेगी।

-प्रो. धर्मचन्द जैन
प्रधान सम्पादक-जिनवाणी

प्राक्कथन

वर्तमान में कतिपय विद्वान् दया, दान, करुणा, अनुकम्पा, वात्सल्य, वैयावृत्त्य (सेवा) आदि सद्प्रवृत्तियों को तथा नम्रता, मृदुता, मित्रता, सरलता, सज्जनता, मानवता, उदारता आदि सद्गुणों को धर्म नहीं मानते हैं, पुण्य मानते हैं। प्रकारांतर से कहें तो सद्गुणों एवं सद्प्रवृत्तियों को हेय व त्याज्य मानते हैं। इस भ्रान्ति का मुख्य कारण पुण्य तत्त्व, पुण्यास्रव, पुण्य का अनुभाग एवं पुण्य कर्म के स्थिति बंध आदि के अंतर के मर्म पर ध्यान नहीं देना है। इस पुस्तक में इनका व इससे संबंधित अन्य विषयों का विवेचन कर वास्तविकता का अनुसंधान करने का प्रयास किया गया है।

इस पुस्तक का विषय पुण्य-पाप दोनों का विवेचन करना रहा है। परंतु पाप के स्वरूप, परिभाषा, लक्षण आदि में मतभेद नगण्य होने से पाप का विवेचन सामान्य व संक्षेप में किया गया है जबकि पुण्य के विषय में अत्यधिक मतभेद एवं परस्पर विरोधी मान्यताएँ होने से अनेक प्रश्न एवं जिज्ञासाएँ उठती हैं। इसलिए पुण्य का विविध विवक्षाओं एवं विस्तार से विवेचन किया गया है। यह विवेचन उत्तराध्ययन सूत्र, भगवती सूत्र आदि आगम, षट्खंडागम और उसकी टीका धवला-महाधवला, कषायपाहुड और उसकी टीका जयधवला, कर्मग्रन्थ, कम्मपयडि, पंचसंग्रह, गोम्मटसार कर्मकाण्ड आदि कर्म-सिद्धांत के ग्रन्थों के प्रमाणों को प्रस्तुत करते हुए किया है। लेखन के पूर्व विद्वानों से विचार-विमर्श कर, पूर्वापर विरोधों का निरसन करने का पूरा प्रयास किया है।

पुण्यकर्म धर्म नहीं हो सकता, इसमें दो मत नहीं हो सकते। कर्म पुद्गल व अजीव है, अत: जीव के स्वभाव-विभाव से इसका कोई सीधा संबंध नहीं है। आत्मा के स्वभाव-विभाव का आधार उसके सद्गुण एवं दुर्गुण होते हैं। सद्गुण सद्प्रवृत्ति के, दुर्गुण दुष्प्रवृत्ति के जनक हैं। दया, दान, करुणा, नम्रता, मृदुता आदि गुणों का क्रियात्मक रूप सद्प्रवृत्तियाँ या शुभयोग हैं जो कषाय की कमी से होते हैं। अत: ये स्वभाव के द्योतक होने से धर्म व पुण्य दोनों हैं। इस दृष्टि से पुण्य तत्त्व (शुभ व शुद्ध अध्यवसाय) व धर्म एक भी हैं। इसी प्रकार अनेक विवक्षाओं से पुस्तक में यथाप्रसंग विचार-विमर्श व मंथन किया गया है। इससे कितना नवनीत प्राप्त हुआ है, इसका निर्णय पाठक स्वयं करेंगे।

पुस्तक में जिज्ञासाओं के समाधान के लिए कुछ तथ्यात्मक सिद्धांतों एवं प्रमाणों को एकाधिक बार दोहराना पड़ा है। इसे पुनरुक्त दोष न समझा जावे। विषय के प्रतिपादन को स्पष्ट एवं पुष्ट करने के लिए यथाप्रसंग परिभाषाओं एवं प्रमाणों के उद्धरणों को बार-बार प्रस्तुत करना आवश्यक था। ऐसा न करने पर उस प्रसंग में विषय का विवेचन अधूरा रह जाता जिससे सम्यक् समाधान नहीं हो सकता था। अत: विषय के सर्वांगीण विवेचन के लिए ऐसा किया गया है। पाठकों से निवेदन है कि प्रकृत विषय पर जो प्रमाण दिये गए हैं, उन पर निष्पक्ष होकर गहन-चिंतन-मनन करें और वस्तु-तथ्य का सम्यक् निर्णय करें।

प्राणिमात्र का हित राग, द्वेष, विषय, कषाय, मोह आदि दोषों से रहित होने में, अपने स्वभाव को प्रकट करने में है, शेष सब व्यर्थ है; प्रस्तुत पुस्तक का लक्ष्य भी यही प्रतिपादित करना रहा है। अत: हम वाद-विवाद से ऊपर उठकर विवेच्य-विषय से अपने विकारों को घटायें, सद्गुणों को प्रकट करें, यही नम्र निवेदन है।

वस्तुत: जीव के हित-अहित का कारण भावों की विशुद्धि-अशुद्धि ही है। मन, वचन एवं काया की सद्प्रवृत्तियों तथा दुष्प्रवृत्तियों में मुख्यता

भावों की ही है। भावों की अशुद्धि पाप कर्मों के बंध की और भावों की विशुद्धि पाप कर्मों के निरोध, निर्जरा व मोक्ष की तथा पुण्योपार्जन की हेतु हैं। बंध व मोक्ष के मुख्य हेतु शुद्ध-अशुद्ध भाव ही है।

जिस भाव व उसकी क्रियात्मक प्रवृत्ति से आत्मा का पतन हो, उसे पाप तत्त्व कहा है। आत्मा का पतन राग, द्वेष आदि दूषित भावों से एवं प्राणातिपात, मृषावाद आदि दुष्प्रवृत्तियों से होता है। अतः राग, द्वेष, प्राणातिपात आदि दोष व दुष्प्रवृत्तियाँ पाप हैं। इन्हीं पापों के परिणाम से पाप कर्मों का उपार्जन, आस्रव व बंध होता है। इस प्रकार पापमय परिणाम, पाप प्रवृत्ति, पाप कर्मों का आस्रव व बंध आदि पाप के विभिन्न रूप (प्रकार) जीव के गुणों के घातक, भवभ्रमण कराने वाले, अकल्याणकारी, संसारवर्द्धक एवं दुःखद होते हैं। अतः ये सब हेय व त्याज्य हैं।

पाप तत्त्व के विपरीत पुण्य तत्त्व है। जिससे आत्मा का उत्थान हो, आत्मा पवित्र हो, वह पुण्य है। आत्मा की अपवित्रता का हेतु पाप व दोष हैं। दोषों में, कषायों में कमी होने से भावों में विशुद्धि या पवित्रता होती है जिससे क्षमा, सरलता, विनम्रता, करुणा आदि जीव के स्वाभाविक गुणों में वृद्धि होती है तथा ये गुण दया, दान, सेवा, स्वाध्याय आदि सद्प्रवृत्तियों के रूप में प्रकट होते हैं, इन्हें ही पुण्य तत्त्व कहा गया है जो आध्यात्मिक विकास का सूचक है। आध्यात्मिक विकास पुण्य तत्त्व का आंतरिक फल है। पुण्य तत्त्व से पुण्य कर्म की प्रकृतियों का उपार्जन होता है जिससे शरीर, इन्द्रिय, मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति आदि सामग्री मिलती है अर्थात् भौतिक विकास होता है। यह पुण्य तत्त्व का बाह्य फल है।

पाप में कमी होने से आत्मा पवित्र होती है। आत्मा की पवित्रता जीव का स्वभाव है। अतः पुण्य कर्म का उपार्जन स्वभाव से, निसर्ग से स्वतः होता है। इसके लिये पाप के निरोध व क्षय के अतिरिक्त अन्य किसी प्रयत्न की अपेक्षा नहीं है। पुण्य कर्म पूर्ण रूप से अघाती कर्म है और शुभ

फलदायक है। अत: मुक्ति-प्राप्ति में यह लेशमात्र भी बाधक नहीं होता है, अपितु सहायक ही होता है। इससे किसी भी जीव को कभी भी हानि होना संभव नहीं है। यह नियम है कि पुण्य कर्म का उपार्जन आत्म-पवित्रता से, आत्म-विकास से, आत्मिक गुणों की वृद्धि से संयम, त्याग, तप से होता है, परंतु पुण्य कर्म के उदय से आत्म-विकास व गुणों की वृद्धि होती हो, ऐसा नियम नहीं है। कारण कि पुण्य कर्म से शरीर, इन्द्रिय आदि साधन सामग्री मिलती है। प्राप्त साधन सामग्री का दुरुपयोग एवं सदुपयोग दोनों हो सकते हैं। पुण्य से प्राप्त शरीर, इन्द्रिय आदि का उपयोग विषय-कषाय के सेवन में हिंसा, झूठ, चोरी आदि दुष्प्रवृत्तियों में अर्थात् पापों में करना पुण्य कर्म का दुरुपयोग है। इससे पुण्य क्षीण होता है एवं पाप कर्मों में वृद्धि होती है, जो अहित, दु:ख एवं संसार-परिभ्रमण का कारण है। इसमें दो पुण्य कर्म का नहीं है, अपितु उसके दुरुपयोग का है। पुण्य से प्राप्त सामग्री शरीर आदि में जीवन-बुद्धि रखना, इनसे विषय-सुख भोगना इनका दास होना है, इनके अधीन होना है। आत्मा का हित दासता से, पराधीनता से मुक्त होने में है। जो पुण्य से प्राप्त सामग्री का उपयोग विषय-कषाय सेवन में न करके सेवा-साधना में करता है, वह इनकी दासता में आबद्ध नहीं होता है, इनसे ऊपर उठ जाता है, स्वाधीन व मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि पुण्य कर्म से प्राप्त सामग्री के सदुपयोग से पुण्य तत्त्व पुष्ट होता है जिससे पुण्य कर्म के उपार्जन में, अनुभाव में वृद्धि होती है। इस प्रकार पुण्य तत्त्व से पुण्य कर्म में और पुण्य कर्म के सदुपयोग से पुण्य तत्त्व में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है जिससे आध्यात्मिक एवं भौतिक विकास होता जाता है। अत: महत्त्व पुण्य तत्त्व एवं पुण्य कर्म के सदुपयोग का है। इस तथ्य को सदैव स्मरण रखना है कि पुण्य कर्म से प्राप्त शरीर आदि साधन सामग्री है; साधन, साध्य एवं जीवन नहीं है। इन्हें साध्य व जीवन मानना भयंकर भूल है, अपना घोर अहित करना है। इस भूल के रहते मुक्ति की प्राप्ति कदापि संभव नहीं है। अत: साधक का हित पुण्य

कर्म के संपादन में है, उसमें आबद्ध होने में नहीं है। साधक का कर्त्तव्य पुण्य कर्म का सदुपयोग दया, दान, सेवा, साधना में कर कर्म की दासता से छुटकारा पा लेने में है, उससे ऊपर उठ जाने में है; उसके आश्रय का त्याग कर स्वाधीन हो जाने में है। साधक के लिए पुण्य कर्म से प्राप्त सामग्री के सदुपयोग का दायित्व है, जो साधना में सहायक है, इसे कभी नहीं भूलना चाहिये अर्थात् साधक को पुण्य कर्म से प्राप्त सामग्री के दासत्व से छुटकारा पाना है, सदुपयोग के दायित्व से नहीं।

प्रस्तुत पुस्तक में पुण्य-पाप का विवेचन किया गया है। इसमें पाप तत्त्व, पापास्रव, पापकर्म, पाप-प्रवृत्ति आदि पाप के सब रूप पूर्ण रूप से त्याज्य ही हैं। परंतु जहाँ भी पुण्य को महत्त्व दिया गया है इसे मुक्ति में सहायक कहा है वहाँ पुण्य के कारणभूत कषाय में कमी रूप विशुद्धि भाव को, आत्म-पवित्रता को, पुण्य कर्म के सदुपयोग को, पुण्य के अनुभाव को ही ग्रहण करना चाहिये। पुण्य से प्राप्त सामग्री से सुख भोग को नहीं। पुण्य कर्मों के अनुभाव की उत्कृष्ट अवस्था में ही केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन संभव है। अतः पुण्य कर्म में महत्त्व आत्म-विशुद्धि का ही है।

''इणमेव णिग्गंथं पावयणं सच्चं णीसंकं'' वीतराग वाणी सत्य है, तथ्य है, हमें इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं है। केवल प्रचलित अर्थ जो वीतरागता परक नहीं है, अपितु राग-वर्धक प्रतीत हो रहे हैं, उनके सही अर्थ खोजने के लिए प्रयास किया गया है। अल्पज्ञ होने के कारण यदि जिन, जिनोपासक गुरु व जिनोपदिष्ट प्रवचन की अत्यल्प भी अवज्ञा हुई हो तो मिथ्या मे दुष्कृतम्।

इस कृति में मैंने जो निष्कर्ष दिए हैं, वे जैनागम एवं कर्म-सिद्धांत के ग्रन्थों में प्रतिपादित तथ्यों के आधार पर स्थापित हैं। मैंने लेखन में तटस्थ एवं संतुलित दृष्टिकोण अपनाने का एवं भाषा में संयत रहने का प्रयास किया है। तथापि मेरे क्षायोपशमिक ज्ञान में कमी या भूल होना संभव है।

अत: मैं उन सभी आगमज्ञ, विद्वानों, तत्त्वचिंतकों एवं विचारकों के सुझावों, समीक्षाओं, समालोचनाओं एवं मार्ग-दर्शन का आभारी रहूँगा, जो प्रस्तुत कृति का तटस्थ भाव से अध्ययन कर अपने मन्तव्य से मुझे अवगत करायेंगे।

मेरे जीवन-निर्माण एवं आध्यात्मिक रुचि जागृत करने में आचार्यप्रवर श्री हस्तीमलजी म.सा. की महती कृपा रही है। आज मैं जो भी हूँ सब उन्हीं की देन है। श्री देवेन्द्रराजजी मेहता से गत अनेक वर्षों से मेरा निकट का सम्पर्क रहा है। आप लेखन के लिए सतत प्रेरणा देते रहे हैं। यह पुस्तक आपकी ही प्रेरणा से पहले प्राकृत भारती अकादमी से प्रकाशित हुई। अब यह पुस्तक सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल से प्रकाशित हो रही है, इसका मुझे प्रमोद है। पुस्तक के प्रकाशन में मण्डल के अध्यक्ष श्री पारसचन्दजी हीरावत, कार्याध्यक्ष श्री प्रमोदजी महनोत, श्री पदमचन्दजी कोठारी एवं मंत्री श्री विनयचन्दजी डागा की विशेष प्रेरणा रही है। इस पुस्तक की पाण्डुलिपि का स्व. श्री सम्पतराजजी डोसी ने सैद्धान्तिक दृष्टि से आद्योपान्त अवलोकन कर अपने सुझाव दिये। स्व. श्री मोहनलालजी मूथा ने भी समय-समय पर हुई चर्चा में पुस्तक के सैद्धांतिक पक्ष को पुष्ट किया। आदरणीय प्रो. श्री कमलचन्दजी सोगाणी ने द्वितीय संस्करण का अवलोकन कर अपने सुझाव दिये एवं इसका प्रचार-प्रसार करने की भावना व्यक्त की। प्रिय प्रो. धर्मचन्दजी जैन ने पुस्तक का सम्पादन किया। मैं सबका हृदय से कृतज्ञ हूँ।

आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा. एवं उनके आज्ञानुवर्ती तत्त्वचिंतक श्री प्रमोदमुनिजी म.सा. की सहज कृपा से भी मैं उपकृत हूँ।

मेरे परम आत्मीय श्री मोफतराजजी मुणोत का भी मैं आभारी हूँ, जिनका मुझे मुक्त हृदय से पूरा सहयोग प्राप्त है।

-पं. श्री कन्हैयालाल लोढ़ा

❑❑❑

भूमिका
(पुण्य की उपादेयता का प्रश्न)

लोकमंगल या विश्वकल्याण सभी धर्मों और साधना पद्धतियों का सार है। जैनधर्म में तीर्थङ्कर का, बौद्धधर्म में बोधिसत्त्व का, हिन्दूधर्म में अवतार का चरम लक्ष्य लोककल्याण की साधना ही है। लोकमंगल के लिए ही वे धर्म का प्रवर्तन करते हैं। यह लोककल्याण की प्रवृत्ति ही परोपकार, सत्कर्म, कुशल कर्म, पुण्य कर्म, रक्षा आदि नामों से अभिहित की जाती है। करुणा, सेवा, रक्षा, परपीड़ा की निवृत्ति आदि इसके प्रमुख अंग हैं। दूसरों के दु:ख एवं पीड़ा को दूर कर उन्हें सुख और शांति प्रदान करना उसका प्रमुख उद्देश्य है। वैयक्तिक-विमुक्ति और आत्म-कल्याण की अपेक्षा भी सामाजिक दृष्टि से यह एक उच्च आदर्श है। इसीलिए बोधिसत्त्व कहता है कि दूसरों के दु:ख दूर करने में जो सुख मिलता है वह क्या कम है, जिसे छोड़कर वैयक्तिक निर्वाण का प्रयत्न किया जाये। इस प्रकार लोक-कल्याण के चरम आदर्श की यह उपलब्धि वैयक्तिक-मुक्ति की अपेक्षा भी श्रेष्ठ मानी गई। किंतु कालान्तर में जब वैयक्तिक मुक्ति की अवधारणा प्रमुख हुई तो लोकमंगल या परोपकार के कार्यों को आत्मसाधना से हेय माना जाने लगा। उन्हें रागात्मक, हिंसा-युक्त और बंधन का हेतु कहा जाने लगा और इस प्रकार वे अनुपादेय या हेय की कोटि में डाल दिये गये।

समस्या का इतिहास

जैन परम्परा में सर्वप्रथम उमास्वाति ने पुण्य और पाप दोनों को आस्रव के अन्तर्गत वर्गीकृत करके जो विरुद्ध धर्मी थे, उन्हें सजातीय बना

दिया। परिणाम स्वरूप पाप के साथ पुण्य की उपादेयता पर प्रश्न चिह्न लगा। इसके बाद आचार्य कुंदकुंद ने और विशेष रूप से उनके टीकाकारों ने पुण्य को बंधन रूप मानकर उसे हेय की कोटि में डाल दिया। इस प्रकार लोकमंगल रूप पुण्य प्रवृत्तियों की उपादेयता एक विवादास्पद विषय बन गई।

वैसे तो इस विवाद के संकेत सूत्रकृतांग जैसे प्राचीन आगम में भी मिलते हैं, जहाँ इस संबंध में मुनि को तटस्थ दृष्टि अपनाने के संकेत हैं। वर्तमान युग में दिगम्बर परम्परा में पूज्य कानजी स्वामी और उनके समर्थक विद्वत् मण्डल की निश्चयनय प्रधान व्याख्याओं के द्वारा इस विवाद को अधिक बल दिया गया। श्वेताम्बर परम्परा में भी आधुनिक युग में यह विवाद मुखर हुआ-तेरापंथ परम्परा और अन्य श्वेताम्बर परम्पराओं के बीच। यद्यपि श्रमण जीवन साधना में हिंसा-युक्त लोकमंगल या परोपकार के कार्यों के प्रति विधि-निषेध से ऊपर उठकर मध्यस्थ दृष्टि अपनाने के संकेत सूत्रकृतांग जैसे प्राचीन जैनागमों में मिलते हैं। फिर भी सामान्यतया दिगम्बर और श्वेताम्बर मुनिवर्ग प्रेरणा के रूप में और गृहस्थवर्ग यथार्थ में लोक-कल्याण, समाज-सेवा और परोपकार के कार्यों में रुचि लेता रहा है। चाहे सैद्धान्तिक मान्यता कुछ भी हो, सम्पूर्ण जैन समाज परोपकार और सेवा की इन प्रवृत्तियों में रुचि लेता रहा है। यद्यपि बीसवीं शती के प्रारम्भिक वर्षों में इस प्रश्न को लेकर पक्ष-विपक्ष में कुछ स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखे गये हैं।

सेवा, दान और परोपकार जैसी पुण्य प्रवृत्तियों की उपादेयता के संबंध में प्रकीर्ण संकेत तो प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान युग तक के अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं। इस संबंध में विद्वानों द्वारा कुछ लेख भी लिखे गये हैं। मैंने भी 'स्वहित और लोकहित का प्रश्न', 'सकारात्मक अहिंसा' की भूमिका जैसे कुछ लेख लिखे। फिर भी निष्पक्ष दृष्टि से बिना किसी मत या सम्प्रदाय पर टीका टिप्पणी किये मात्र आगमिक और कर्म-सिद्धांत के श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा के गन्थ्रों के आधार पर उनका गहन अनुशीलन करके प्रस्तुत कृति में पुण्य की उपादेयता के संबंध में पूज्य पं. श्री

कन्हैयालालजी लोढ़ा ने जो निष्कर्ष प्रस्तुत किये वे न केवल प्रामाणिक हैं, अपितु हमें इस प्रश्न पर पुनश्चिंतन को बाध्य करते हैं। वस्तुतः समस्या क्या है और उसका दार्शनिक समाधान क्या है, इस प्रश्न पर अग्रिम पृष्ठों में कुछ गंभीर चर्चा करेंगे।

जैन तत्त्व मीमांसा में पाप और पुण्य

भारतीय धर्म-दर्शनों में पुण्य और पाप की अवधारणा अति प्राचीन काल से पाई जाती है। इन्हें धर्म-अधर्म, कुशल-अकुशल, शुभ-अशुभ, नैतिक-अनैतिक, कल्याण-पाप आदि विविध नामों से जाना जाता है। जैन धर्म-दर्शन में भी तत्त्वमीमांसा के अंतर्गत नव तत्त्वों की अवधारणा में पुण्य और पाप का स्वतंत्र तत्त्व के रूप में उल्लेख हुआ है। हमें न केवल श्वेताम्बर आगमों में अपितु दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुंदकुंद के ग्रन्थों में भी नवतत्त्वों की यह अवधारणा प्राप्त होती है। इन नवतत्त्वों को नव पदार्थ या नव अर्थ भी कहा है, किंतु नाम के इस अंतर से इनकी मूलभूत अवधारणा में कोई अंतर नहीं पड़ता है। श्वेताम्बर परम्परा में नवतत्त्वों की अवधारणा का प्राचीनतम उल्लेख उत्तराध्ययन एवं समवायांग में पाया जाता है। पंचास्तिकायसार नामक ग्रन्थ में इन नवतत्त्वों का नव पदार्थ के रूप में उल्लेख हुआ है।

नवतत्त्वों की इस अवधारणा के अंतर्गत निम्नांकित नौ तत्त्व माने गए हैं-1. जीव, 2. अजीव, 3. पुण्य, 4. पाप, 5. आस्रव, 6. संवर, 7. बंध, 8. निर्जरा और 9. मोक्ष।

यहाँ हम देखते हैं कि नवतत्त्वों की इस सूची में पुण्य और पाप को स्वतंत्र तत्त्व माना गया, किंतु कालान्तर में आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र (लगभग ईसा की तीसरी सदी) में इन नवतत्त्वों के स्थान पर सात तत्त्वों का प्रतिपादन किया और पुण्य तथा पाप को स्वतंत्र तत्त्व न मानकर उन्हें आस्रव का भेद माना।

किंतु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि पुण्य और पाप का न केवल आस्रव होता है, अपितु उनका बंध और विपाक भी होता है। अतः पुण्य और पाप को मात्र आस्रव नहीं माना जा सकता। वस्तुतः तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वाति की दृष्टि संक्षिप्तीकरण की रही है, क्योंकि वह ग्रन्थ सूत्र रूप में है। यही कारण है कि उन्होंने न केवल तत्त्वों के संबंध में अपितु अन्य संदर्भों में भी अपनी सूचियों का संक्षिप्तीकरण किया है, जैसे उत्तराध्ययन और कुंदकुंद के ग्रन्थों में वर्णित चतुर्विध मोक्ष-मार्ग के स्थान पर त्रिविध मोक्ष-मार्ग का प्रतिपादन करते हुए तप को चारित्र में ही अंतर्भूत मान लेना, सप्तनय की अवधारणा में समभिरूढ़नय और एवंभूतनय को शब्दनय के अंतर्गत मानकर मूल में पाँच नयों की अवधारणा को प्रस्तुत करना आदि। इसी क्रम में उन्होंने पुण्य और पाप को भी आस्रव के अंतर्गत मानकर नवतत्त्वों के स्थान पर सात तत्त्वों की अवधारणा प्रस्तुत की है।

ज्ञातव्य है कि जैन दर्शन के इतिहास में कालक्रम में विभिन्न तात्त्विक अवधारणाओं की सूचियों में कहीं संकोच की तो कहीं विस्तार की प्रवृत्ति दिखलाई देती है। इसकी चर्चा पं. दलसुख भाई मालवणिया ने अपनी लघु पुस्तिका 'जैनदर्शन का आदिकाल' में की है। जहाँ तक तत्त्वों की संख्या संबंधी सूची संकुचित एवं विस्तारित होती रही है। ज्ञातव्य है कि जैनधर्म-दर्शन में तत्त्वों को श्रद्धा का विषय माना गया है। तत्त्वार्थ सूत्र (1/3) में तो स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि तत्त्व श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। किंतु जिन तत्त्वों पर श्रद्धा रखनी चाहिए अर्थात् उनको अस्ति रूप मानना चाहिए नास्ति रूप नहीं, इसकी चर्चा करते हुए सर्वप्रथम सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पाँचवें अध्ययन में बत्तीस तत्त्वों की एक विस्तृत सूची दी गई है, जो निम्न है-

1. लोक, 2. अलोक, 3. जीव, 4. अजीव, 5. धर्म, 6. अधर्म, 7. बंध, 8. मोक्ष, 9. पुण्य, 10. पाप, 11. आस्रव, 12. संवर, 13. वेदना

(विपाक), 14. निर्जरा, 15. क्रिया, 16. अक्रिया, 17. क्रोध, 18. मान, 19. माया, 20. लोभ, 21. प्रेम (राग), 22. द्वेष, 23. चतुरंग संसार, 24. सिद्धस्थान, 25. देव, 26. देवी, 27. सिद्धि, 28. असिद्धि, 29. साधु, 30. असाधु, 31. कल्याण और 32. पाप (अकल्याण)। -सूत्रकृतांग 2/5/765-78

यहाँ हम देखते हैं कि सोलह युग्मों में बत्तीस तत्त्वों को गिनाया गया है। इन युग्मों में धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य और कल्याण-अकल्याण (पाप) ये तीन युग्म ऐसे हैं जिनमें अर्थ की निकटता है। फिर भी जहाँ धर्म और अधर्म क्रमशः सम्यक् एवं मिथ्या साधना मार्ग के सूचक हैं, वहाँ पुण्य और पाप क्रमशः सत्कर्म और असत्कर्म के अथवा नैतिक कर्म और अनैतिक कर्म के सूचक हैं। जबकि कल्याण एवं पाप (अकल्याण) का संबंध उपादेय और हेय से है। फिर भी इनमें किसी सीमा तक अर्थ की जो निकटता है, उसको ध्यान में रखते हुए तत्त्व संबंधी अन्य सूचियों में इन तीन युग्मों में से दो को छोड़कर मात्र पुण्य और पाप को ही स्थान दिया गया। सूत्रकृतांग के ही द्वितीय श्रुतस्कन्ध (2.715) में यह सूची संकुचित रूप में मिलती है। उसमें निम्न 12 तत्त्वों को ही स्वीकार किया गया है-

1. जीव, 2. अजीव, 3. पुण्य, 4. पाप, 5. आस्रव, 6. संवर, 7. वेदना, 8. निर्जरा, 9. क्रिया, 10. अधिकरण, 11. बंध और 12. मोक्ष।

ऐसी ही एक अन्य संकुचित सूची आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के आठवें अध्ययन (उद्देशक 1) में मिलती है। इसमें लोक के अस्तित्व-अनस्तित्व, सादि-अनादि, ध्रुव (नित्य)-अनित्य, सान्त-अनन्त आदि की चर्चा के साथ-साथ सुकृत-दुष्कृत, कल्याण-पाप, साधु-असाधु, सिद्धि-असिद्धि और नरक-अनरक ऐसे पाँच युग्मों में दस तत्त्वों का उल्लेख है।

इसी क्रम में उत्तराध्ययन सूत्र में आते-आते तत्त्वों की इस सूची में पुनः संकोच हुआ और सूत्रकृतांग की 12 तत्त्वों की इस सूची में से वेदना,

क्रिया और अधिकरण इन तीन को निकाल देने से केवल नवतत्त्व रह गये। फिर भी यहाँ तक पुण्य और पाप की स्वतंत्र तत्त्वों के रूप में स्वीकृति बनी रही। सर्वप्रथम उमास्वाति ने ही इन नवतत्त्वों में से पुण्य और पाप को अलग करके अपनी तत्त्व सूची में मात्र सात तत्त्वों को स्वीकृति दी तथा पुण्य और पाप को आस्रव के अन्तर्गत माना।

जब पुण्य और पाप आस्रव बन गये तो उनकी उपयोगिता पर ही प्रश्नचिह्न लगना प्रारंभ हो गया। क्योंकि जो आस्रव अर्थात् बंधन का हेतु हो, वह मुक्ति-मार्ग के साधक के लिए उपादेय या आचरणीय नहीं माना जा सकता। इस प्रकार पाप को अनुपादेय या हेय मानने के साथ-साथ पुण्य को भी अनुपादेय या हेय मानने की प्रवृत्ति विकसित हुई। जिसके परिणामस्वरूप लोकमंगल और परोपकार के कार्यों की उपेक्षा की जाने लगी और उन्हें आत्म-साधना की अपेक्षा से हेय या अनुपादेय माना जाने लगा। पुण्य और पाप जब तक स्वतंत्र तत्त्व थे तब तक वे विरुद्ध धर्मी थे, अत: पाप को हेय और पुण्य को उपादेय माना जाता था। क्योंकि वह हेय पाप का विरुद्ध धर्मी था, अत: उपादेय था। किंतु जब वे दोनों आस्रव के भेद मान लिये गये तो वे परस्पर विरुद्ध धर्मी या विजातीय न रहकर सजातीय या सहवर्गी बन गये। फलत: पाप के साथ-साथ पुण्य भी हेय की कोटि में चला गया और पुण्य की उपादेयता पर प्रश्न चिह्न लग गया।

पुण्य की उपादेयता पर कैसे लगा प्रश्नचिह्न?

वस्तुत: जब आचार्य उमास्वाति ने पुण्य और पाप को आस्रव का अंग मान लिया तो स्वाभाविक रूप से यह समस्या उत्पन्न हुई कि जिसका आस्रव होता है, उसका बंध भी होता है और जिसका बंध होता है उसका विपाक भी होता है। इस प्रकार बंध और विपाक की प्रक्रिया से भव-भ्रमण की परम्परा चलती रहती है। पुन: जो भी भव-भ्रमण का हेतु होगा, वह उपादेय नहीं हो सकता।

इस प्रकार पुण्य को आस्रव रूप मानने के परिणामस्वरूप उसको हेय मानने की अवधारणा विकसित हुई। इस अवधारणा को आचार्य कुंदकुंद के इस कथन से अधिक बल मिला की पुण्य और पाप दोनों ही बंधन के हेतु होने से बेड़ी के समान ही हैं। फिर वह बेड़ी चाहे सोने की हो या फिर लोहे की हो, बंधन का कार्य तो करती ही है। इस प्रकार जब पाप के साथ-साथ पुण्य को भी समतुला पर रखकर हेय मान लिया तो उसका परिणाम यह हुआ कि अध्यात्मवादी मुमुक्षु साधकों की दृष्टि में पाप के साथ-साथ पुण्य भी अनुपादेय बन गया और परिणामस्वरूप वे परोपकार और लोकमंगल के कार्यों को भी बंधन का निमित्त मान करके उनकी उपेक्षा करने लगे। आचार्य कुंदकुंद ने तो पुण्य और पाप को क्रमशः सोने और लोहे की बेड़ी ही कहा था। किंतु उनके परवर्ती टीकाकारों ने तो पुण्य-पाप दोनों को बंधन का रूप कहकर उनकी पूर्णतः उपेक्षा करना प्रारंभ कर दिया। पं. जयचन्दजी छाबड़ा अपनी समयसार की भाषा वचनिका में लिखते हैं-

पुण्य पाप दोय करम, बंध रूप दुई मानी।
शुद्ध आतम जिन लह्यो, नमूँ चरण हित जानी।।

इस प्रकार पाप के साथ-साथ पुण्य भी अनुपादेय मान लिया गया। चाहे पुण्य को आस्रव या बंध रूप मान भी लिया जाये फिर भी उसकी उपादेयता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किंतु सही समझ के लिए कर्मों के बंधक और अबंधक होने की स्थिति की तथा उनके शुभत्व-अशुभत्व एवं शुद्धत्व की समीक्षा अपेक्षित है।

तीन प्रकार के कर्म

जैनदर्शन में **'कर्मणा बध्यते जन्तुः'** की उक्ति स्वीकार्य रही है, लेकिन इसमें सभी कर्म अथवा क्रियाएँ समान रूप से बंधनकारक नहीं हैं। उसमें दो प्रकार की क्रियाएँ मानी गई हैं-एक को कर्म कहा गया है, दूसरी

को अकर्म। समस्त साम्परायिक क्रियाएँ अर्थात् राग-द्वेष एवं कषाय युक्त क्रियाएँ कर्म की कोटि में आती हैं और ईर्यापथिक क्रियाएँ अकर्म की कोटि में आती हैं। नैतिक दर्शन की दृष्टि से प्रथम प्रकार के कर्म (क्रियाएँ) ही उचित-अनुचित की कोटि में आते हैं और दूसरे प्रकार के कर्म नैतिकता के क्षेत्र में आने वाले सभी कर्म भी एकसमान नहीं होते हैं। उनमें से कुछ शुभ और कुछ अशुभ होते हैं। जैन परिभाषा में इन्हें क्रमशः पुण्य-कर्म और पाप-कर्म कहा जाता है। इस प्रकार जैनदर्शन के अनुसार कर्म तीन प्रकार के होते हैं-1. ईर्यापथिक कर्म (अकर्म) 2. पुण्य-कर्म और 3. पाप-कर्म।

अशुभ या पाप कर्म

जैन आचार्यों ने पाप की यह परिभाषा की है कि वैयक्तिक संदर्भ में जो आत्मा को बंधन में डाले, जिसके कारण आत्मा का पतन हो, जो आत्मा के आनन्द का शोषण करे और आत्मशक्तियों का क्षय करे, वह पाप है।[1] सामाजिक संदर्भ में जो परपीड़ा या दूसरों के दुःख का कारण है, वह पाप है (पापाय परपीडनम्)। वस्तुतः जिस विचार एवं आचार से अपना और पर का अहित हो और जिससे अनिष्ट फल की प्राप्ति हो वह पाप है। वे सभी कर्म जो स्वार्थ, घृणा या अज्ञान के कारण दूसरे का अहित करने की दृष्टि से किये जाते हैं, पाप कर्म हैं। इतना ही नहीं सभी प्रकार के दुर्विचार और दुर्भावनाएँ भी पाप कर्म हैं।

पाप कर्मों का वर्गीकरण

जैन दार्शनिकों के अनुसार पाप कर्म 18 प्रकार के हैं-1. प्राणाति-पात (हिंसा), 2. मृषावाद (असत्य भाषण), 3. अदत्तादान (चौर्यकर्म), 4. मैथुन (काम-विकार), 5. परिग्रह (ममत्व, मूर्छा, तृष्णा या संचय-वृत्ति), 6. क्रोध (गुस्सा), 7. मान (अहंकार), 8. माया (कपट, छल, षड़यंत्र और कूटनीति), 9. लोभ (संचय या संग्रह की वृत्ति), 10. राग (आसक्ति), 11.

द्वेष (घृणा, तिरस्कार, ईर्ष्या आदि), 12. क्लेश (संघर्ष, कलह, लड़ाई, झगड़ा आदि), 13. अभ्याख्यान, 14. पिशुनता (चुगली), 15. परपरिवाद (परनिंदा), 16. रति-अरति (हर्ष और शोक), 17. माया-मृषा (कपट सहित असत्य भाषण), 18. मिथ्यादर्शनशल्य (अयथार्थ जीवन दृष्टि)।[2]

पुण्य (कुशल कर्म)

पुण्य वह है जिसके कारण सामाजिक एवं चैतसिक स्तर पर समत्व की स्थापना होती है। मन, शरीर और बाह्य परिवेश में संतुलन बनाना यह पुण्य का कार्य है। पुण्य क्या है, इसकी व्याख्या में तत्त्वार्थ सूत्रकार कहते हैं-शुभास्रव पुण्य है।[3] दूसरे जैनाचार्यों ने इसकी व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। आचार्य हेमचन्द्र पुण्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि पुण्य अशुभ कर्मों का लाघव है और शुभ कर्मों का उदय है।[4] इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र की दृष्टि में पुण्य अशुभ (पाप) कर्मों की अल्पता और शुभ कर्मों के उदय के फलस्वरूप प्राप्त प्रशस्त अवस्था का द्योतक है। निर्वाण की उपलब्धि में पुण्य के सहायक स्वरूप की व्याख्या आचार्य अभयदेव की स्थानांगसूत्र की टीका में मिलती है। आचार्य अभयदेव कहते हैं कि पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करता है अथवा पवित्रता की ओर ले जाता है।[5] इस प्रकार आचार्य अभयदेव की दृष्टि में पुण्य आध्यात्मिक साधना में सहायक तत्त्व है। वस्तुतः पुण्य मोक्षार्थियों की नौका के लिए अनुकूल वायु है जो नौका को भवसागर से शीघ्र पार करा देती है।[6] जैन बनारसीदासजी समयसार नाटक में कहते हैं कि-''जिससे भावों की विशुद्धि हो, जिससे आत्मा आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ता हो और जिससे इस संसार में भौतिक समृद्धि और सुख मिलता हो वही पुण्य है।''[7]

जैन तत्त्व ज्ञान के अनुसार, पुण्य-कर्म वे शुभ पुद्गल परमाणु हैं जो शुभ वृत्तियों एवं क्रियाओं के कारण आत्मा की ओर आकर्षित हो बंध करते हैं और अपने विपाक के अवसर पर शुभ अध्यवसायों, शुभ विचारों

एवं क्रियाओं की ओर प्रेरित करते हैं तथा आध्यात्मिक विकास हेतु मानसिक एवं भौतिक अनुकूलताओं के संयोग प्रस्तुत कर देते हैं। आत्मा की वे मनोदशाएँ एवं क्रियाएँ पुण्य कहलाती हैं जो शुभ पुद्गल परमाणु को आकर्षित करती हैं। साथ ही दूसरी ओर वे पुद्गल-परमाणु जो इन शुभ वृत्तियों एवं क्रियाओं को प्रेरित करते हैं और अपने प्रभाव से आरोग्य, सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान एवं संयम के अवसर उपस्थित करते हैं, पुण्य कहे जाते हैं। शुभ मनोवृत्तियाँ भाव पुण्य हैं और शुभ पुद्गल-परमाणु द्रव्य पुण्य हैं।

पुण्य या कुशल कर्मों का वर्गीकरण

भगवती सूत्र में अनुकम्पा, सेवा, परोपकार आदि शुभ प्रवृत्तियों को पुण्योपार्जन का कारण कहा गया है।[8] स्थानांग सूत्र में नौ प्रकार के पुण्य निरूपित हैं।[9]

1. **अन्नपुण्य**-भोजनादि देकर क्षुधार्त की क्षुधा-निवृत्ति करना।
2. **पानपुण्य**-तृषा (प्यास) से पीड़ित व्यक्ति को पानी पिलाना।
3. **लयनपुण्य**-निवास के लिए स्थान देना धर्मशालाएँ आदि बनवाना।
4. **शयनपुण्य**-शय्या, बिछौना आदि देना।
5. **वस्त्रपुण्य**-वस्त्र का दान देना।
6. **मनपुण्य**-मन से शुभ विचार करना अर्थात् जगत् के मंगल की शुभकामना करना।
7. **वचनपुण्य**-प्रशस्त एवं संतोष देने वाली वाणी का प्रयोग करना।
8. **कायपुण्य**-रोगी, दुःखित एवं पूज्य जनों की सेवा करना।
9. **नमस्कार पुण्य**-गुरुजनों के प्रति आदर प्रकट करने के लिए उनका अभिवादन करना।

पुण्य और पाप (शुभ और अशुभ) की कसौटी

शुभाशुभता या पुण्य-पाप के निर्णय के दो आधार हो सकते हैं- 1. कर्म का बाह्य स्वरूप अर्थात् समाज पर उसका प्रभाव और 2. कर्ता का अभिप्राय। इन दोनों में कौन-सा आधार यथार्थ है, यह विवाद का विषय रहा है। गीता और बौद्ध दर्शन में कर्ता के अभिप्राय को ही कृत्यों की शुभाशुभता का सच्चा आधार माना गया है। गीता स्पष्ट रूप से कहती है कि-'जिसमें कर्तृत्व भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि निर्लिप्त है, वह कर्त्तव्यभाव से इन सब लोगों को मार डाले तो भी यह समझना चाहिये कि उसने न तो किसी को मारा है और न वह उस कर्म से बंधन को प्राप्त करता है।'[10] धम्मपद में बुद्ध-वचन भी ऐसा ही है कि नैष्कर्म्य स्थिति को प्राप्त ब्राह्मण माता-पिता को, दो क्षत्रिय राजाओं को एवं प्रजा सहित राष्ट्र को मारकर भी निष्पाप होकर जाता है।[11] बौद्धदर्शन में कर्ता के अभिप्राय को ही पुण्य-पाप का आधार माना गया है। इसका प्रमाण सूत्रकृतांगसूत्र के आर्द्रक संवाद में भी मिलता है।[12] जहाँ तक जैन मान्यता का प्रश्न है, विद्वानों के अनुसार उसमें भी कर्ता के अभिप्राय को ही कर्म की शुभाशुभता का आधार माना गया है। मुनि सुशीलकुमारजी लिखते हैं कि-शुभ-अशुभ कर्म के बंध का मुख्य आधार मनोवृत्तियाँ ही हैं। एक डॉक्टर किसी को पीड़ा पहुँचाने के लिए उसका व्रण चीरता है। उससे चाहे रोगी को लाभ ही हो जाये, परंतु डॉक्टर तो पाप-कर्म के बंधन का ही भागी होगा। इसके विपरीत वही डॉक्टर करुणा से प्रेरित होकर व्रण चीरता है और कदाचित् उससे रोगी की मृत्यु हो जाती है, तो भी डॉक्टर अपनी शुभ-भावना के कारण पुण्य का बंध करता है।[13] पण्डित सुखलालजी भी यही कहते हैं, पुण्यबंध और पाप-बंध की सच्ची कसौटी केवल ऊपरी क्रिया नहीं है, किंतु उसकी यथार्थ कसौटी कर्ता का आशय ही है।[14] जैनदर्शन के अनुसार जिस व्यक्ति में संसार के सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि है, वही

पुण्य कर्मों का स्रष्टा है।[15] दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि समस्त प्राणियों को जो अपने समान समझता है और जिसका सभी के प्रति समभाव है, वह पाप-कर्म का बंध नहीं करता है।[16] सूत्रकृतांग के अनुसार भी धर्म-अधर्म (शुभाशुभत्व) के निर्णय में अपने समान दूसरे को समझना चाहिए।[17] सभी को जीवित रहने की इच्छा है। कोई भी मरना नहीं चाहता। सभी को अपने प्राण प्रिय हैं। सुख अनुकूल है और दुःख प्रतिकूल है। इसलिए वही आचरण श्रेष्ठ है, जिसके द्वारा किसी भी प्राणी का हनन नहीं हो।[18]

कौन-सा कर्म बंधनकारक है और कौन-सा कर्म बंधनकारक नहीं है, इसका निर्णय क्रिया के बाह्य रूप से नहीं, वरन् क्रिया के मूल में निहित चेतना की रागात्मकता के आधार पर होता है। पं. सुखलालजी संघवी कर्मग्रन्थ की भूमिका में लिखते हैं कि साधारण लोग यह समझ बैठते हैं कि अमुक काम नहीं करने से अपने को पुण्य-पाप का लेप नहीं लगेगा, इससे वे काम को छोड़ देते हैं। पर बहुधा उनकी मानसिक क्रिया नहीं छूटती। इससे वे इच्छा रहने पर भी पुण्य पाप के लेप (बंध) से अपने को मुक्त नहीं कर सकते। यदि कषाय (रागादिभाव) नहीं है तो ऊपर की कोई भी क्रिया आत्मा को बंधन में रखने में समर्थ नहीं है। इससे उल्टे, यदि कषाय का वेग भीतर वर्तमान है तो ऊपर से हजार यत्न करने पर भी कोई अपने को बंधन से छुड़ा नहीं सकता। इसी से यह कहा जाता है कि आसक्ति छोड़कर जो काम किया जाता है वह बंधनकारक नहीं होता।[19]

अतः बंधन के भय से परोपकार की प्रवृत्तियों एवं लोकहित के अपने दायित्वों को छोड़ बैठना उचित नहीं है।

क्या पुण्यकर्म (शुभकर्म) आस्रव ही है

वस्तुतः पुण्य को अनुपादेय या हेय मानने की प्रवृत्ति का मूल

कारण उसे आस्रव रूप मानना है। यह ठीक है कि उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में शुभ का आस्रव कहा है, किंतु प्रथम तो ध्यान रखना आवश्यक है कि शुभ का आस्रव हेय नहीं है। उमास्वाति ने भी कहीं भी शुभ को हेय नहीं कहा है। जो भी आस्रव है, वह सभी हेय या अनुपादेय है ऐसा अनेकांतवादी जैन दर्शन का सिद्धांत नहीं है। आचारांग सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो आस्रव के हेतु हैं वे परिस्रव अर्थात् संवर और निर्जरा के हेतु भी बन जाते हैं और जो परिस्रव अर्थात् संवर और निर्जरा के हेतु हैं वे आस्रव के हेतु भी बन सकते हैं। अतः पुण्य कर्म आस्रव रूप ही है-ऐसी जैनदर्शन की एकांत अवधारणा नहीं है। प्रस्तुत कृति में पं. प्रवर श्री कन्हैयालालजी लोढ़ा कसायपाहुड की जयधवला टीका के आधार पर लिखते हैं कि दया, दान, करुणा, वात्सल्य, वैयावृत्त्य आदि सद्प्रवृत्तियों को शुभयोग व पुण्य कहा गया है। साथ ही शुभयोग को संवर भी कहा गया है। जयधवला में कहा गया है कि शुभ और शुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय न माना जाये तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता है। वस्तुतः उनकी यह अवधारणा युक्तिसंगत है कि शुभभाव कषाय के उदय से नहीं, कषाय की मंदता से होते हैं अतः वे संवर रूप भी हैं। यह निश्चय सिद्धांत है कि शुभ परिणामों के उदय से अशुभ परिणामों का संवर होता है और अशुभ परिणामों का संवर ही वास्तविक अर्थ में संवर है। पुण्य में प्रवृत्ति होने से पाप से निवृत्ति स्वाभाविक रूप से होती है। अतः पुण्य को आस्रव रूप और संवर रूप दोनों ही मानना होगा। पुण्य चाहे शुभ का आस्रव हो, किंतु उसी समय वह अशुभ का तो संवर है ही।

पुण्य कर्म और उसका बंध एवं विपाक

यह सत्य है कि पुण्य कर्म भी है। क्योंकि उसका आस्रव, बंध और विपाक माना गया है, किंतु सभी प्रकार के आस्रव और बंध समान नहीं होते हैं। वस्तुतः वही आस्रव, बंध एवं विपाक हेय कहा जाता है जिसके

कारण आत्मा का स्वभाव विकारी बनता है अर्थात् विभाव परिणति होती है। जैन परम्परा में इन्हें घाती कर्म कहा गया है। पुण्य के द्वारा जिन कर्म प्रकृतियों का बंध होता है वे सभी अघाती कर्म की हैं अर्थात् उनसे आत्मा का स्वभाव विकारी नहीं होता है। मोक्ष-प्राप्ति के समय में आयुष्य कर्म का क्षय होने पर अर्थात् आयुष्य पूर्ण होने पर पुण्य कर्म भी स्वत: ही समाप्त हो जाते हैं। पुण्य कर्मों को क्षय करने के लिए किसी प्रयत्न या पुरुषार्थ की अपेक्षा नहीं होती है।

पुण्य कर्म तभी बंधक बनते हैं जब वे फलाकांक्षा और रागात्मकता से युक्त होते हैं। अन्यथा तो वे ईर्यापथिक कर्म की तरह प्रथम समय में बंधकर दूसरे ही समय में निर्जरित हो जाते हैं, उनका स्थिति बंध नहीं होता है, क्योंकि स्थिति बंध कषाय के निमित्त से होता है और कषाय चाहे किसी भी रूप में हो वह पुण्य रूप नहीं माना जा सकता है।

पुण्य प्रकृति का बंध तो मन, वचन, काया के शुभ योग ही करते हैं। कषाय के अभाव में वीतराग के पुण्य कर्म होते हुए भी मात्र ईर्यापथिक आस्रव एवं बंध होता है। जैन कर्म-सिद्धांत का नियम है कि ग्यारहवें गुणस्थान में कषाय के उदय नहीं होने पर जीवों पर करुणा, सेवा एवं विनय रूप पुण्य प्रवृत्तियाँ रहने पर भी उनसे मात्र द्विसमय की सत्ता वाले ईर्यापथिक सातावेदनीय (पुण्य प्रकृति) का बंध होता है। जिसे जैन परम्परा में ईर्यापथिक कर्म या अकर्म कहा गया है, ऐसा कर्म वस्तुत: कर्म ही नहीं है। जो भवभ्रमण का कारण हो या मुक्ति में बाधक हो या जिससे आत्म-स्वभाव विकार दशा या विभाव दशा को प्राप्त होता हो वही कर्म है, शेष तो अकर्म ही है। सूत्रकृतांग में अप्रमाद की स्थिति में सम्पन्न क्रिया को अकर्म कहा गया है। इसलिए वह सद्प्रवृत्ति रूप पुण्य कर्म न तो हेय है और न उपेक्षा के योग्य है, अपितु ऐसा कर्म तो कर्त्तव्य भाव से करणीय ही माना गया है। वस्तुत: जो लोग पुण्य को बंधन रूप मानकर उसकी उपेक्षा का निर्देश करते

हैं, वे पुण्य के वास्तविक स्वरूप से परिचित ही नहीं हैं। उन्होंने फलाकांक्षा युक्त सकाम कर्म करने को ही पुण्य कर्म समझ लिया है। जो वास्तविक अर्थ में पुण्य कर्म न होकर पाप ही है, क्योंकि 'राग' पाप है।

पुण्य की उपादेयता का प्रश्न

पुण्य की उपादेयता को सिद्ध करने के लिए आध्यात्मिक साधक प्रज्ञापुरुष पं. श्री कन्हैयालालजी लोढ़ा ने अति परिश्रम करके प्रस्तुत कृति में सप्रमाण यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पुण्य हेय नहीं है, अपितु उपादेय है।

यदि पुण्य कर्म को मुक्ति में बाधक मानकर हेय मानेंगे तो तीर्थङ्कर नाम गोत्रकर्म को भी मुक्ति में बाधक मानना होगा, किंतु कोई भी जैन विचारक तीर्थङ्कर नाम गोत्रकर्म के बंध को मुक्ति में बाधक, अनुपादेय या हेय नहीं मानता है। क्योंकि तीर्थङ्कर नामकर्म के बंध के पश्चात् नियमतः तीसरे भव में अवश्य मुक्ति होती है। पुनः तीर्थङ्कर नाम गोत्रकर्म का, जब तक उनके आयुष्य कर्म की स्थिति होती है तब तक ही अस्तित्व रहता है। अतः वह मुक्ति में बाधक नहीं होता, क्योंकि तीर्थङ्कर नामकर्म से युक्त जीव तीर्थङ्कर नामकर्म गोत्र के उदय की अवस्था में नियम से ही मुक्ति को प्राप्त होता है।

वस्तुतः व्यक्ति में जब तक योग अर्थात् मन-वचन-कर्म की प्रवृत्तियाँ हैं तब तक कर्मास्रव अपरिहार्य है। फिर भी जैनाचार्यों ने इन योगों अथवा मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों को हेय नहीं बताया है और न उन्हें त्यागने का ही निर्देश दिया है। उनका निर्देश मात्र इतना ही है कि मन, वचन और काया की जो अशुभ या अप्रशस्त प्रवृत्तियाँ हैं, उन्हें रोका जाये, प्रशस्त प्रवृत्तियों के रोकने का कहीं भी कोई निर्देश नहीं है। तीर्थङ्कर अथवा केवली भी योग-निरोध उसी समय करता है जब आयुष्य कर्म मात्र

पाँच ह्रस्व-स्वरों के उच्चारण में लगने वाले समय के समतुल्य रह जाता है, अतः पुण्य कर्म को मुक्ति में बाधक या संसार परिभ्रमण का कारण नहीं माना जा सकता है। वस्तुतः संसार परिभ्रमण का कारण राग-द्वेष या कषाय के तत्त्व हैं, क्योंकि राग-द्वेष या कषाय के अभाव में मात्र योग अर्थात् कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियों के कारण जो कर्मास्रव होता है उससे ईर्यापथिक बंध होता है, साम्परायिक बंध नहीं होता। जैन कर्म-सिद्धांत के अनुसार बंध के चार प्रकारों में योग के निमित्त से मात्र प्रकृति और प्रदेश का ही बंध होता है, किंतु राग-द्वेष एवं कषाय का अभाव होने के कारण उनका स्थिति बंध नहीं हो पाता। अतः ईर्यापथिक आस्रव और ईर्यापथिक बंध में स्थिति का अभाव होता है और स्थिति के अभाव में वे कर्म दूसरे समय के पश्चात् ही निर्जरित हो जाते हैं, अतः पुण्यास्रव या पुण्य कर्म संसार-परिभ्रमण का कारण नहीं है। सत्य तो यह है कि ईर्यापथिक आस्रव वस्तुतः बंध नहीं करता है।

कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि पुण्य कर्म करने में प्रशस्त राग होता है और प्रशस्त राग भी संसार परिभ्रमण का कारण होता है। वस्तुतः यहाँ हम दो बातों को आपस में मिला देते हैं। कर्म की प्रशस्तता और कर्म की रागात्मकता ये दो अलग-अलग तथ्य हैं। जो प्रशस्त कर्म हो वह रागात्मक भी हो, यह आवश्यक नहीं है। बंधन में डालने वाला तत्त्व राग-द्वेष या कषाय है, जैन कर्म-सिद्धांत के अनुसार उसकी अनुपस्थिति में बंधन नहीं होता है। वस्तुतः प्रशस्तकर्म का सम्पादन बंधन का कारण नहीं है। सभी सद्प्रवृत्तियाँ या पुण्य कर्म रागात्मकता या आसक्ति से उत्पन्न नहीं होते हैं। प्रज्ञावान आत्माओं के कर्म कर्त्तव्य भाव से होते हैं और मात्र कर्त्तव्य बुद्धि (Sense of duty) से किया गया विनय या सेवा रूप कार्य बंधन का नहीं, अपितु निर्जरा का ही हेतु होता है। इस प्रकार कर्म-फल की आकांक्षा, ममत्व बुद्धि या कषाय ही उसके बंधन के कारण

हैं क्योंकि उनकी उपस्थिति में ही कर्म का स्थितिबंध होता है और स्थिति को लेकर जो कर्म बँधते हैं, वे ही संसार परिभ्रमण के कारण और मुक्ति में बाधक होते हैं, न कि कर्त्तव्य बुद्धि से किये गये सत्कर्म या पुण्यकर्म।

क्या पुण्य धर्म नहीं है?

पुनः यह भी प्रश्न उठाया जाता है कि जो आस्रव का हेतु हो या कर्म रूप हो वह धर्म नहीं हो सकता। पुण्य आस्रव है वह धर्म नहीं अथवा यह कि पुण्य कर्म है अतः वह धर्म नहीं हो सकता। वस्तुतः आस्रव या कर्म धर्म है या धर्म नहीं है-यह प्रश्न इस तथ्य से जुड़ा हुआ है कि धर्म से हमारा क्या तात्पर्य है? सामान्यतया धर्म शब्द वस्तु स्वभाव, कर्त्तव्यभाव और साधना पद्धति इन तीन अर्थों में प्रचलित है। यदि हम धर्म का अर्थ स्वभाव लेते हैं तो हमें यह विचार करना होगा कि पुण्यास्रव या पुण्य बंध या पुण्य विपाक आत्मा के विभाग रूप हैं या स्वभाव रूप हैं। इतना निश्चित है कि पुण्य का आस्रव, पुण्य का बंध और पुण्य का उदय या विपाक विभाव के हेतु नहीं हैं। वे विभाव के हेतु तभी बनते हैं जब उनके साथ राग-द्वेष या कषाय के तत्त्व प्रविष्ट हो जाते हैं। राग-द्वेष से ऊपर उठकर विशुद्ध रूप से कर्त्तव्य बुद्धि से विनय प्रतिपत्ति और वैयावृत्त्य या सेवा के कार्य विभाव परिणति के कारण नहीं हैं, क्योंकि कर्त्तव्य बुद्धि से की गयी क्रियाएँ ममत्व या राग से नहीं, अपितु त्याग भावना से ही प्रतिफलित होती हैं। जैन परम्परा में पुण्य के रूप में दान, सेवावृत्ति और विनय प्रतिपत्ति का जो उल्लेख हुआ है, वह त्याग भावना और मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से संभव है। दान ममत्व के विसर्जन में ही संभव होता है और ममत्व का विसर्जन या त्याग भाव स्वभाव परिणति है, विभाव परिणति नहीं। पुनः यदि त्याग भाव या ममत्व का विसर्जन स्वभाव परिणति है तो वह धर्म है और ऐसी स्थिति में पुण्य को भी धर्म ही मानना होगा। पुनः त्याग भाव अथवा मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से किया गया कर्म वस्तुतः निष्काम कर्म या अकर्म की कोटि में आता

है, क्योंकि जो कर्म राग-द्वेष-ममत्व से ऊपर उठकर मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से किया जाता है ऐसा निष्काम कर्म धर्म का ही अंग है। बिना फल की आकांक्षा के कर्त्तव्य बुद्धि से कर्म करने पर विभाव में परिणति नहीं होती है, क्योंकि विभाव दशा तभी संभव होती है जब 'पर' में 'स्व' का अर्थात् ममत्व बुद्धि का आरोपण होता है। ममत्व बुद्धि या रागात्मकता से अथवा फलाकांक्षा से किया गया कार्य ही बंधन का कारण होता है और इसलिए उसकी गणना अशुभ कर्म या पाप कर्म में होती है, किंतु ममत्व बुद्धि से ऊपर उठकर मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से जो कर्म किया जाता है वह कर्म अकर्म बन जाता है और निष्काम कर्म या अकर्म धर्म ही होता है अत: पुण्य धर्म है। वस्तुत: शुभ कर्म या पुण्य कर्म करते समय यदि व्यक्ति ममत्व बुद्धि या रागात्मकता को रखकर चलता है तो वह पुण्य को पाप में ही परिवर्तित कर देता है। उसे पापानुबंधी पुण्य कहा है वही बंधन रूप है। न केवल जैन परम्परा में अपितु गीता में भी कर्त्तव्य बुद्धि से किये गये कर्म बंधन के कारण नहीं माने गये हैं, अपितु उन्हें धर्म या मुक्ति का हेतु ही कहा गया है। कर्म में रागात्मकता या फलबुद्धि आने पर कर्त्तव्य बुद्धि समाप्त हो जाती है और कर्त्तव्य बुद्धि समाप्त हो जाने पर वह कर्म विकर्म या पाप कर्म बन जाता है। अत: पुण्य आस्रव का निमित्त होते हुए भी धर्म ही है, क्योंकि उसमें कर्त्तव्य बुद्धि ही होती है। अत: पुण्य को धर्म की कोटि में ही स्थान देना होगा।

पुण्य धर्म नहीं है अथवा धर्म पुण्य नहीं है या पुण्य और धर्म भिन्न-भिन्न हैं-जो लोग ऐसी अवधारणा रखते हैं, वे वस्तुत: पुण्य का अर्थ ममत्व बुद्धि रागात्मकता से युक्त कर्म ही लेते हैं। किंतु सभी शुभ कर्म (कार्य) या पुण्य कर्म रागात्मकता से ही सम्पन्न होते हैं, यह नहीं माना जा सकता है। अनेक शुभ कर्म या पुण्य कर्म मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से सम्पन्न होते हैं और जो कर्म मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से सम्पन्न होते हैं वे धर्म ही कहे जायेंगे, क्योंकि

कर्त्तव्य पालन धर्म ही है। वस्तुत: किसी कर्म में ममत्व बुद्धि या फलाकांक्षा का जितना तत्त्व होता है, वही उसे अशुभ या पाप में परिवर्तित कर देता है। वे पुण्य कर्म जो कर्त्तव्य बुद्धि से या निष्काम भाव से सम्पन्न किये जाते हैं, वे धर्म ही हैं। वे न तो बंधन के हेतु हैं और न मोक्ष की प्राप्ति में बाधक हैं। ऐसे कर्मों के संबंध में धर्म और पुण्य को एकात्मक या अभिन्न मानना होगा। सेवा, विनय आदि के जिन कर्मों के पीछे ममत्व बुद्धि या फलाकांक्षा जुड़ी हुई होती है, वे शुद्ध रूप में पुण्य कर्म नहीं कहे जा सकते हैं। वे पापानुबंधी पुण्य हैं क्योंकि भविष्य की फलाकांक्षा उन्हें पाप रूप बना देती है।

जिन स्थितियों में पुण्य और पाप का मिश्रण है वहाँ रागात्मकता या फलाकांक्षा की उपस्थिति उस कर्म को पुण्य से पाप के रूप में वैसे परिवर्तित कर देती है जैसे दूध में डाला गया थोड़ा-सा दही सम्पूर्ण दूध को दही में परिवर्तित कर देता है। जैन दर्शन में पाप के जो अठारह प्रकार माने गये हैं। उनमें राग-द्वेष भी हैं। रागात्मकता या फलाकांक्षा होगी वह पाप कर्म या अधर्म ही होगा। अत: 'प्रशस्त राग' जैसे शब्द मात्र भ्रान्ति ही खड़ी करते हैं। कर्म-सिद्धांत की अपेक्षा राग कभी-भी प्रशस्त नहीं है, अत: वह धर्म नहीं है।

पुण्य क्या है? यदि इस प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर देना है तो हम कहेंगे-पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करता है। **(पुनाति वा पवित्रीकरोत्यात्मानमिति पुण्यम्)** पुण्य की इस व्युत्पत्तिपरक परिभाषा के आधार पर उसे किसी भी स्थिति में हेय और त्याज्य नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि सभी धर्मों और साधना पद्धतियों का मूल उद्देश्य तो आत्मा की पवित्रता को ही प्राप्त करना है जो तत्त्व आत्मा की पवित्रता में साधक हो वह हेय या त्याज्य कैसे हो सकता है। पुण्य की दूसरी परिभाषा-

''परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्'' के अनुसार जिससे दूसरों को दुःख हो, पीड़ा पहुँचे, वह पाप है और जो दूसरों का हित करे, उपकार करे, वह पुण्य है। इस प्रकार परोपकार को ही धर्म कहा जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है-

परहित सरिस धरम नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।

केवल उन्हीं पुण्यकर्मों को धर्म की कोटि में नहीं लिया जा सकता जो फलाकांक्षा या ममत्व बुद्धि से प्रेरित होते हैं। जो भी लोकमंगल के कार्य मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से किये जाते हैं, जिनके पीछे किसी फलाकांक्षा या रागद्वेष का तत्त्व नहीं होता, वे धर्म से अभिन्न ही हैं, क्योंकि उनमें जो ईर्यापथिक आस्रव और ईर्यापथिक बंध होता है वह वस्तुतः बंध नहीं है। निष्काम पुण्य प्रवृत्तियाँ शुभ भी होती हैं और शुद्ध भी। शुभ शुद्ध का विरोधी नहीं होता है, क्योंकि पुण्य का कार्य आत्मविशुद्धि रूप प्रवृत्तियाँ हैं, वे धर्म ही हैं।

शुभ एवं शुद्ध अविरोधी है

सामान्यतया यह समझा जाता है कि पुण्य प्रकृतियों और निवृत्तिमूलक धर्म-साधना में अथवा शुभ और शुद्ध से परस्पर विरोध है, किंतु यह एक भ्रान्त अवधारणा है। शुद्ध दशा की उपलब्धि के लिए शुभ की साधना आवश्यक होती है, जैसे कपड़े के मैल को हटाने के लिए साबुन आवश्यक है। हम यह जानते हैं कि अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्ति तभी संभव होती है जब शुभ योग में प्रवृत्ति होती है। अशुभ से बचने के लिए शुभ में अथवा पाप प्रवृत्तियों से बचने के लिए पुण्य प्रवृत्तियों में जुड़ना आवश्यक है। हमारी चित्तवृत्ति प्रारंभिक अवस्था में निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकती। चित्त विशुद्धि के लिए सर्वप्रथम चित्त में लोक मंगल या लोक कल्याण की भावना को स्थान देना होता है। अशुभ से शुभ की ओर बढ़ना

होता है और शुभ की ओर बढ़ना ही शुद्ध की ओर बढ़ना है। जिस प्रकार वस्त्र की शुद्धि के लिए पहले साबुन आदि लगाना होता है, साबुन आदि द्रव्य वस्त्र की विशुद्धि में साधक ही होते हैं बाधक नहीं। उसी प्रकार निष्काम भाव से किये गये लोक मंगल के कार्य भी मुक्ति में साधक होते हैं बाधक नहीं। जिस प्रकार वस्त्र की शुद्धि-प्रक्रिया में भी वस्त्र से मैल को निकालने का ही प्रयत्न किया जाता है। साबुन तो मैल के निकालने के साथ ही स्वत: ही निकल जाता है, उसी प्रकार चाहे पुण्य प्रवृत्तियों के निमित्त से आस्रव होता भी हो, किंतु वह आस्रव आत्म-विशुद्धि का साधक ही होता है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि शुद्धोपयोग की अवस्था में पुण्य के आस्रव से स्थिति बंध नहीं होता। तीर्थङ्कर अथवा केवली सदैव शुद्धोपयोग में ही रहते हैं, किंतु उनको भी अपनी योग प्रवृत्ति के द्वारा वेदनीयकर्म का आस्रव जो पुण्य प्रकृति का आस्रव है या-'ईर्यापथिक आस्रव है, होता ही रहता है। इसका फलित यह है कि शुभोपयोग शुद्धोपयोग में बाधक नहीं है, अपितु साधक ही है। जैन साधना का क्रम यही है कि व्यक्ति अशुभ से शुभ की ओर और शुभ से शुद्ध की ओर बढ़े। अत: शुभोपयोग और शुद्धोपयोग परस्पर विरोधी नहीं हैं, शुभोपयोग के सद्भाव में शुद्धोपयोग संभव है। वस्तुत: शुद्धोपयोग में बाधक वे ही तथाकथित शुभ प्रवृत्तियाँ होती हैं जो फलाकांक्षा से या रागात्मकता से युक्त होती हैं। वस्तुत: तो वे फलाकांक्षा या रागात्मकता के कारण अशुभ ही होती हैं। किंतु लोक व्यवहार में अथवा उपचार से उन्हें शुभ कहा जाता है। उदाहरण के रूप में कोई व्यक्ति अपने अहं की संतुष्टि के लिए अर्थात् मान कषाय की पूर्ति के लिए दान देता है। बाहर से तो उसका यह कर्म शुभ दिखाई देता है, किंतु वस्तुत: वह मान कषाय का हेतु होने के कारण अशुभ ही है। शुभ कर्म दो प्रकार के होते हैं। एक वे जो बाह्य प्रतीति के रूप में तो शुभ दिखाई देते हैं, किंतु वस्तुत: शुभ होते नहीं हैं, मात्र व्यवहार में उन्हें शुभ कहा जाता है। दूसरे, वे जो निष्काम भाव से मात्र दूसरों के प्रति अनुकंपा या

हित बुद्धि से किये जाते हैं, वे वस्तुतः शुभ होते हैं। निष्काम भाव और कर्त्तव्य बुद्धि से लोक मंगल के लिए किये गये ऐसे कर्म शुभ भी हैं और शुद्ध भी। यहाँ शुभ और शुद्ध में विरोध नहीं है। कसायपाहुड की जयधवला टीका में अनुकंपा और शुद्धोपयोग से भी आस्रव माना है, किंतु ऐसा आस्रव हेय नहीं है। तीर्थङ्कर वीतराग होते हैं। उन्हें शुद्धोपयोग दशा में भी योग की सत्ता बने रहने पर शुभास्रव तो होता ही है। अतः शुद्धोपयोग और शुभास्रव विरोधी नहीं है। शुद्धोपयोग आत्मा की अवस्था है जबकि शुभ योग, जो पुण्य बंध का कारण है मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का ही परिणाम है। जब तक जीवन है, योग होंगे ही। यदि शुभ योग नहीं होंगे तो अशुभ योग होंगे, अतः अशुभ से निवृत्ति के लिए शुभ में प्रवृत्ति आवश्यक है अर्थात् पाप से निवृत्ति के लिए पुण्य रूप प्रवृत्ति आवश्यक है। अर्थात् पाप से निवृत्ति के लिए पुण्य रूप प्रवृत्ति आवश्यक है। पाप से अर्थात् अशुभ योग से निवृत्ति होने पर ही शुभ योग के द्वारा शुद्धोपयोग की प्राप्ति संभव है। शुभ-योग शुद्धोपयोग में बाधक नहीं, साधक है। शुभ योग और शुद्धोपयोग में साधन-साध्य भाव है, अतः उन्हें अविरोधी मानकर शुद्धोपयोग दशा की प्राप्ति के लिए साधन रूप शुभ योगों अर्थात् पुण्य कर्मों का अवलंबन लेना चाहिये। पाप रूपी बीमारी को हटाने के लिए पुण्य प्रवृत्ति औषधि रूप है जिससे आत्म-विशुद्धि रूप स्वास्थ्य या शुद्धोपयोग दशा की प्राप्ति होती है। शुद्धोपयोग में शुभोपयोग अर्थात् पुण्य कर्म बाधक नहीं साधक ही है। वस्तुतः शुभाशुभ कर्मों से जो ऊपर उठने की बात कही जाती है उसका तात्पर्य मात्र इतना ही है कि मोक्षरूपी साध्य की उपलब्धि होने पर व्यक्ति पुण्य-पाप दोनों का अतिक्रमण कर जाता है। जिस प्रकार नदी पार करने के लिए नौका की अपेक्षा होती है, किंतु जैसे ही किनारा प्राप्त हो जाता है, नौका भी छोड़ देनी पड़ती है, किंतु इससे नौका की मूल्यवत्ता या महत्ता को कम नहीं आंकना चाहिये। पार होने के लिए उसकी आवश्यकता तो अपरिहार्य रूप से होती है। वैसे ही संसार रूपी समुद्र

से पार होने के लिए पुण्य रूपी नौका अपेक्षित है, क्योंकि साधना की पूर्णता मानवीय गुणों की अभिव्यक्ति में है और मानवीय गुणों की अभिव्यक्ति के लिए पुण्य कर्मों का सम्पादन आवश्यक है, अतः पुण्य कर्मों की उपादेयता निर्विवाद है।

पुण्य कर्मों को बंधन रूप मानकर जो उनकी उपेक्षा की जाती है वह बंधन के स्वरूप की सही समझ नहीं होने के कारण है। पुण्य कर्म जब निष्काम भाव से किये जाते हैं तो उनसे बंधन नहीं होता है। यदि जैन धर्म की शास्त्रीय भाषा में कहें तो उनमें मात्र ईर्यापथिक बंध होता है, जो वस्तुतः बंध नहीं है। बंधन जब भी होगा वह राग-द्वेष (कषाय) एवं फलाकांक्षा की सत्ता होने पर ही होगा, उनका अभाव होने पर बंधन नहीं होगा। जैन कर्म सिद्धांत का यह शाश्वत नियम है कि किसी भी कर्म का स्थिति बंध कषाय के कारण है। अतः वीतराग दशा की प्राप्ति पर शुभ कर्म या पुण्य कर्म अकर्म बन जाते हैं, वे बंधन नहीं करते हैं। अतः त्याज्य 'कषाय' है न कि 'पुण्य' कर्म। आत्मा की शुद्ध दशा की प्राप्ति अर्थात् शुद्धोपयोग में उपस्थिति कषाय के अभाव में संभव है। अतः उसकी प्राप्ति के लिए कषाय का त्याग आवश्यक है, न कि पुण्य प्रवृत्ति का। वस्तुतः जब राग-द्वेष (कषाय) एवं फलाकांक्षा समाप्त हो जाती है तब वह शुभकर्म अकर्म बन जाता है। कषाय चाहे अधिक हो या अल्प, वह त्याज्य है, वह पाप रूप ही है, क्योंकि वह बंधन का कारण ही है। आदरणीय कन्हैयालालजी लोढ़ा का यह कथन शत-प्रतिशत सही है कि मंद कषाय पाप रूप है, किंतु कषाय की मंदता पुण्य रूप है। कषाय में जितनी मंदता होगी पुण्य प्रभार उतना ही अधिक होगा। पुण्य प्रवृत्तियाँ जब भी होती हैं, वे कषाय की मंदता में ही होती हैं। अतः कषाय चाहे वह मंद ही क्यों न हो, त्याज्य है, किंतु कषाय की मंदता उपादेय है, क्योंकि साधक कषाय

को मंद करते-करते अंत में वीतराग दशा को उपलब्ध हो जाता है और जब वह वीतराग दशा को उपलब्ध हो जाता है तो उसकी स्वाभाविक रूप से नि:सृत होने वाली लोकमंगलकारी पुण्य प्रवृत्तियाँ बंधन कारक नहीं होती हैं। वे त्याज्य नहीं, अपितु उपादेय ही होती हैं। बंधन पुण्य प्रवृत्तियों से नहीं होता है, बंधन तो व्यक्ति की निदान बुद्धि या फलाकांक्षा से होता है अथवा कषाय की उपस्थिति से होता है। गुणस्थान सिद्धांत के अनुसार भी कर्मबंध दसवें गुणस्थान तक ही संभव है, क्योंकि दसवें गुणस्थान में संज्वलन लोभ (सूक्ष्म लोभ) की सत्ता है। ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक लोकमंगल की प्रवृत्तियों के फलस्वरूप जो द्वि-समय का ईर्यापथिक सातावेदनीय कर्म का बंध होता है वस्तुत: वह बंधन नहीं है। अत: पुण्य रूप सद्प्रवृत्तियाँ बंध रूप नहीं हैं अत: वे हेय नहीं उपादेय हैं। हेय तो कषाय हैं, जो पाप रूप हैं। प्रस्तुत कृति में पं. कन्हैयालालजी लोढ़ा ने पुण्य प्रवृत्तियों की उपादेयता को सप्रमाण सिद्ध किया है। उनके मुख्य प्रतिपाद्य बिंदु निम्न प्रकार से हैं-

(1) पुण्य तत्त्व और पुण्य कर्म में अंतर है। चाहे पुण्य कर्म बंधन के निमित्त हों, किंतु पुण्य तत्त्व बंधन का निमित्त नहीं है। पुण्य कर्म क्रिया या योग रूप है। इससे उसका आस्रव एवं बंध संभव है, किंतु पुण्य तत्त्व उपयोग रूप है, शुभ आत्म परिणाम रूप है जो कषाय की मंदता का परिणाम है। अत: कषाय की मंदता रूप पुण्य तत्त्व आत्म-विशुद्धि का निमित्त होने से उपादेय है।

(2) कषाय की मंदता और मंद कषाय में अंतर है। जहाँ कषाय की मंदता पुण्य रूप है वहाँ मंद कषाय भी पाप रूप है। कषाय की मंदता से शुभ परिणाम होते हैं और उससे पुण्य तत्त्व में अभिवृद्धि

होती है, जबकि मंद कषाय से भी अशुभ परिणाम ही उत्पन्न होते हैं और उनसे पाप तत्त्व की अभिवृद्धि होती है। इस प्रकार कषाय की मंदता पुण्य का हेतु है, जबकि मंद कषाय पाप के हेतु हैं।

(3) कषाय की मंदता से हुई पुण्य की अभिवृद्धि आत्म-विशुद्धि का हेतु होने से मोक्ष की उपलब्धि में साधक है। अत: पुण्य मोक्ष का साधक होने से उपादेय है, जबकि पाप मोक्ष में बाधक होने से हेय है।

(4) पुण्य पाप का प्रक्षालन करता है, अत: पुण्य सोने की बेड़ी न होकर सोने का आभूषण है। बेड़ी बंधन में डालती है, आभूषण नहीं। बेड़ी बाध्यतावश धारण करनी पड़ती है, जबकि आभूषण स्वेच्छा से धारण किया जाता है। अत: बेड़ी से हम इच्छानुसार मुक्त नहीं हो सकते हैं, किंतु आभूषण से इच्छानुसार मुक्त हो सकते हैं। अत: आभूषण रूप पुण्य के क्षय का कोई उपाय किसी साधना में निर्दिष्ट नहीं है।

(5) दया, दान, करुणा, वात्सल्य, सेवा आदि सद्प्रवृत्तियों से बंध नहीं होता है। बंध तो तभी होता है, जब कर्त्ता में फलाकांक्षा, निदान कर्तृत्व या भोक्तृत्व रूप कषाय परिणाम हो। संक्षेप में शुभयोग के साथ रहा हुआ कषाय भाव ही उन कर्मों में स्थिति बंध का कारण होता है। शुभ योग कर्मबंध का कारण नहीं होता।

(6) पुण्य स्वभाव है, स्वभाव का नाश नहीं होता है। पुन: जो स्वभाव होता है, वही धर्म है। पुण्य स्वभाव है अत: वह धर्म है। पुन: स्वभाव का त्याग संभव नहीं है, अत: पुण्य त्याज्य नहीं है। यही कारण है कि तीर्थङ्कर केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भी लोककल्याण या प्राणियों के प्रति अनुकम्पा की दृष्टि से ही तीर्थ प्रवर्तन, धर्मोपदेश आदि प्रवृत्ति करते हैं। अत: पुण्य कभी भी त्याज्य नहीं है, वह सदैव ही उपादेय है।

(7) पुण्य केवल आस्रव या बंध रूप नहीं है, अपितु संवर और निर्जरा रूप भी है, अतः पुण्य हेय नहीं उपादेय है।

(8) पुण्य-पाप कर्म का संबंध उनकी फलदान शक्ति-अनुभाग से है, स्थिति बंध से नहीं है।

(9) जैन दर्शन में वीतरागता की उपलब्धि के लिए रागादि पापों को ही त्याज्य कहा है, पुण्य को नहीं। अतः आस्रव, संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि तत्त्वों के भेद-उपभेद का प्रतिपादन पाप को लक्ष्य में रखकर ही किया है, पुण्य को लेकर नहीं।

(10) जैन कर्म-सिद्धांत में जीव के स्वभाव व गुण का घातक घाती कर्मों को ही कहा है, अघाती कर्मों को नहीं। अघाती कर्मों की असाता वेदनीय, नीच गोत्र, अनादेय, अयशकीर्ति आदि पाप प्रकृतियों की सत्ता भी जीव के केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि किसी भी गुण की उपलब्धि में बाधक नहीं है। अतः पुण्य प्रकृतियों को जीव के किसी भी गुण की उपलब्धि में एवं वीतरागता में बाधक मानना सिद्धांत विरुद्ध है।

(11) पुण्य-पाप दोनों विरोधी हैं। अतः जितना पाप घटता है उतना ही पुण्य बढ़ता है। पुण्य के अनुभाग की वृद्धि पाप के क्षय की सूचक है। पुण्य के अनुभाग के घटने से पाप कर्मों के स्थिति और अनुभाग बंध नियम से बढ़ते हैं।

(12) पुण्य के अनुभाग का किसी भी साधना से यहाँ तक कि केवली समुद्घात से भी क्षय नहीं होता है।

(13) चारों अघाती कर्मों की पुण्य प्रकृतियों का उपार्जन चारों कषायों के घटने से व क्षय से होता है।

(14) पुण्य त्याज्य नहीं है, पुण्य के साथ रहा हुआ फलाकांक्षा निदान, भोक्तृत्वभाव कर्तृत्वभाव रूप कषाय व पाप त्याज्य है। जैसे गेहूँ के साथ रहे हुए कंकर-मिट्टी एवं भूसा त्याज्य हैं, गेहूँ त्याज्य नहीं है।

(15) पुण्य का अनुभाग बढ़कर चतु:स्थानिक हुए बिना सम्यग्दर्शन और उत्कृष्ट हुए बिना केवलज्ञान नहीं होता है। अत: पुण्य आत्म-विकास में, साधना में बाधक व हेय नहीं है।

यह तो हमने पण्डित प्रवर लोढ़ाजी की स्थापनाओं की संक्षिप्त झलक दी है। उन्होंने प्रस्तुत कृति के अंत में ऐसे एक सौ इक्कीस तथ्य प्रस्तुत किये हैं, जो पुण्य की उपादेयता को सिद्ध करते हैं। वस्तुत: उनकी ये स्थापनाएँ किसी पक्ष-विशेष के खण्डन-मण्डन की दृष्टि से नहीं, अपितु जैन कर्म सिद्धांत के ग्रंथों के गंभीर आलोडन का परिणाम है। वे मात्र विद्वान् नहीं हैं, अपितु साधक भी हैं। उनके द्वारा इस कृति की रचना का प्रयोजन उनके अन्तस् में प्रवाहमान करुणा की अजस्रधारा ही है। उनका प्रतिपाद्य मात्र यही है कि धर्म और आध्यात्मिकता के नाम पर सेवा और करुणा की सद्प्रवृत्तियों का समाज से विलोप नहीं हो। क्योंकि मनुष्य की मनुष्यता इसी में है कि वह दूसरे प्राणियों का रक्षक बने, उनके सुख-दु:ख का सहभागी बने।

वस्तुत: मैं पूज्य लोढ़ाजी का अत्यन्त आभारी हूँ कि उन्होंने भूमिका लेखन का दायित्व मुझे देकर उनकी इस गहन गंभीर तात्त्विक कृति में अवगाहन का अवसर दिया।

अन्त में मैं पुन: पूज्य पं. कन्हैयालालजी लोढ़ा का विद्वज्जगत् की ओर से अभिनन्दन करते हुए यही अपेक्षा करूँगा कि वे ऐसे चिंतनपूर्ण किंतु भावप्रवण लेखनों के माध्यम से हमारा मार्गदर्शन करते रहें। इसके साथ ही उनके शिष्य और मेरे अनुजतुल्य तथा प्रस्तुत कृति के सम्पादक डॉ. धर्मचन्द

जैन का और प्रकाशक संस्था का भी आभारी हूँ। इस भूमिका लेखन में हुए विलम्ब के लिए मैं न केवल लेखक, सम्पादक और प्रकाशक संस्था से अपितु उन सुधी पाठकों से भी क्षमायाचना करता हूँ जिन्हें सुदीर्घ अवधि तक प्रतीक्षारत रहना पड़ा।

संदर्भ सूची

1. अभिधान राजेन्द्र कोष, खण्ड 5, पृष्ठ 876
2. जैन सिद्धांत बोल-संग्रह, भाग-3, पृष्ठ 182
3. तत्त्वार्थ सूत्र 6/4
4. योगशास्त्र 4/107
5. स्थानांग टीका, 1.11-12
6. जैन धर्म, पृष्ठ 84
7. समयसार नाटक उत्थानिका, 28
8. भगवती सूत्र 7/10/121
9. स्थानांग, 9
10. भगवद्गीता 18.17
11. धम्मपद, 249
12. सूत्रकृतांग, 2/6/27-42
13. जैन धर्म, पृष्ठ 160
14. दर्शन और चिंतन, खण्ड 2, पृष्ठ 226
15. अनुयोगद्वारसूत्र, 129
16. दशवैकालिक सूत्र, 129
17. सूत्रकृतांग 2/2/4, पृष्ठ 104
18. दशवैकालिक 6/11
19. कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, भूमिका, पृष्ठ 25-26

वैशाख शुक्ला 10, वीर निर्वाण सम्वत् 2526 **सागरमल जैन**
(केवलज्ञान दिवस) **मानद् निदेशक**
शाजापुर (म.प्र.) **पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी**

❑❑❑

(1)

पुण्य तत्त्व : स्वरूप और महत्त्व

'पुनाति आत्मानम् इति पुण्यम्' अर्थात् जिससे आत्मा पवित्र हो वह पुण्य है। यह परिभाषा प्राचीन काल से सभी जैनाचार्यों को मान्य है, यथा-

पुण्णं पूदपवित्ता पसत्थसिवभद्दखेमकल्लाणा।
सुहसोक्खादी सव्वे णिद्दिट्ठा मंगलस्स पज्जाया।।

अर्थ-पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण, शुभ, सौख्य और मंगल, ये सब समानार्थक पर्यायवाची शब्द कहे गये हैं।

-तिलोयपण्णत्ति, गाथा 8

पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्।

अर्थ-जो आत्मा को पवित्र करता है या जिस (कार्य) से आत्मा पवित्र होती है, वह पुण्य है।

-सर्वार्थसिद्धि 6.3

'पवित्रीकरोत्यात्मानमिति पुण्यं शुभं कर्म।'

अर्थ-जो आत्मा को पवित्र करता है वह शुभ कर्म पुण्य है।

-स्थानांग-अभयदेवसूरिवृत्ति

सम्मत्तेण सुदणाणेण य विरदीए
कसायनिग्गहगुणेहिं जो परिणदो सो पुण्णो।।

अर्थ-जो सम्यक्त्व, श्रुतज्ञान, विरति (महाव्रत-संयम), कषाय-निग्रह रूप गुणों में परिणत होता है, वह पुण्य है।

-मूलाचार, गाथा 234

रयणतयरूवे अज्जाकम्मे दयाइसद्धम्मे।
इच्चेवमाइगो जो वट्टइ सो होइ सुहभावो।।

अर्थ-रत्नत्रय, आर्य (शुभ-श्रेष्ठ) कर्म, दया आदि धर्म इत्यादि भावों से युक्त होकर जो वर्तन करता है वह शुभ भाव होता है।

-रयणसार 65

'पुण' शुभे इति वचनात्' पुणति शुभीकरोति, पुनाति वा
पवित्रीकरोत्यात्मानमिति पुण्यम्।

अर्थात् 'पुण्य' शुभ है, जो आत्मा को शुभ करता है, पुनीत व पवित्र करता है वह पुण्य है।

-अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग 5, पृष्ठ 991

आशय यह है कि जिससे आत्मा पवित्र होती है वह पुण्य है। आत्मा प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों से पवित्र होती है। दया, दान, करुणा, वात्सल्य, वैयावृत्त्य, विनम्रता, मृदुता, मैत्री, उपकार, सेवा आदि सभी सद्प्रवृत्तियों से आत्मा पवित्र होती है एवं संयम, संवर, तप, व्रत-प्रत्याख्यान आदि त्याग रूप निवृत्ति से भी आत्मा पवित्र होती है। अतः पुण्य का उपार्जन प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों से होता है।

सद्प्रवृत्तियाँ मन, वचन, तन तथा सद्व्यवहार से होती हैं, जैसा कि कहा है-

'अन्नपुण्णे, पानपुण्णे, लयनपुण्णे, सयनपुण्णे, वत्थपुण्णे, मनपुण्णे, वयणपुण्णे, कायपुण्णे, नमोक्कारपुण्णे।'

-ठाणांग सूत्र, नवम ठाणा

अर्थात् अन्न पुण्य, पान पुण्य, लयण पुण्य, शयन पुण्य, वस्त्र पुण्य, मन पुण्य, वचन पुण्य, काय पुण्य, नमस्कार पुण्य ये नव प्रकार के पुण्य हैं।

इन नौ प्रकार के पुण्यों में प्रथम पाँच पुण्य वस्तुओं के दान से संबंधित हैं। प्राणियों एवं मानव की मूलभूत आवश्यकताएँ पाँच हैं-भूख, प्यास, निवास, विश्राम और वस्त्र। इन आवश्यकताओं की पूर्ति न होने से प्राणी दुःख रहते हैं। इन दुःखों को दूर करने के लिए भूखे को भोजन खिलाना, प्यासे को पानी पिलाना, रहने को स्थान देना, विश्राम में सहायता करना, पहनने को वस्त्र देना ये पाँच पुण्य वस्तुओं से संबंधित हैं। मन से दूसरों का भला विचारना व सच्चिंतन करना मन पुण्य है। वचन से हितकारी वचन बोलना व सत् चर्चा करना वचन पुण्य है। काय से साधु, रोगी, बालक, वृद्ध एवं असहाय लोगों की सेवा करना काय पुण्य है। सब प्राणियों के प्रति नम्रता का व्यवहार करना नमस्कार पुण्य है।

उपर्युक्त सद्प्रवृत्तियों में दूसरों के हित के लिए अपने विषय-सुखों की स्वार्थपरता का त्याग करना होता है। त्याग से आत्मा का उत्थान होता है, आत्मा पवित्र होती है। अतः इन्हें पुण्य कहा जाता है। यही कारण है कि जितना संयम, त्याग तप बढ़ता जाता है, उतनी ही पुण्य के फल में वृद्धि होती जाती है।

'पुण्य' के विभिन्न रूप

'पुण्य' शब्द का प्रयोग अनेक रूपों में होता है यथा-पुण्यतत्त्व, पुण्य भाव, पुण्य प्रवृत्ति, पुण्य आस्रव, पुण्य कर्मों का बंध (प्रकृति, स्थिति,

अनुभाग, प्रदेश), पुण्य का फल आदि। आगे इन्हीं का संक्षेप में विवेचन किया गया है।

पुण्य तत्त्व-जिन भावों एवं क्रियाओं से आत्मा पवित्र होती है उन्हें पुण्य कहते हैं। यह पुण्य तत्त्व दो प्रकार का होता है यथा-भावात्मक और क्रियात्मक।

भावात्मक पुण्य तत्त्व-जिन भावों से आत्मा पवित्र होती है वे भावात्मक पुण्य हैं। आत्मा पवित्र होती है कषाय में कमी होने से, अहिंसा, संयम, तप, त्याग से, विषयों के प्रति वैराग्य से और करुणा अनुकंपा आदि भावों से। ये सब भाव आत्मा को पवित्र करने वाले होने से पुण्य रूप हैं।

क्रियात्मक पुण्य तत्त्व-कषाय की कमी से आविर्भूत क्षमा, सरलता, विनम्रता, उदारता आदि गुणों का क्रियात्मक रूप मैत्री, अनुकंपा, दया, वात्सल्य, वैयावृत्त्य, परोपकार, दान, सेवा-शुश्रूषा आदि समस्त सद्प्रवृत्तियाँ पुण्य तत्त्व की क्रियात्मक रूप हैं, क्योंकि इन सबसे पाप कर्मों का क्षय एवं पुण्य का उपार्जन होता है।

पुण्यास्रव-सद्भावों एवं सद्प्रवृत्तियों से मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति, शरीर आदि पुण्य प्रकृतियों के कर्म दलिकों का जो उपार्जन होता है, वह पुण्य का आस्रव कहा जाता है।

पुण्य कर्म का बंध

पुण्य कर्म का बंध चार प्रकार का है-(1) प्रकृतिबंध (2) स्थितिबंध (3) अनुभागबंध और (4) प्रदेशबंध। यथा-

(1) प्रकृतिबंध-पुण्य प्रकृतियाँ आठ कर्मों में से वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार कर्मों की ही होती है, यथा-वेदनीय कर्म की साता वेदनीय, आयु कर्म की तिर्यंच-मनुष्य-देव आयु, गोत्र कर्म की उच्च गोत्र

तथा नाम कर्म की मनुष्य गति, देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक-वैक्रिय-आहारक-तैजस-कार्मण शरीर, औदारिक-वैक्रिय-आहारक अंगोपांग, वज्रऋषभनाराचसंहनन, समचतुरस्र संस्थान, शुभ वर्ण-गंध-रस-स्पर्श, शुभ विहायोगति, देव-मनुष्य आनुपूर्वी, अगुरुलघु, निर्माण, आतप, उद्योत, पराघात, श्वासोच्छ्वास, तीर्थङ्कर, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, शुभ, सुभग, स्थिर, सुस्वर, आदेय, यशकीर्ति ये सैंतीस प्रकृतियाँ अघाती कर्मों की है।

(2) स्थितिबंध-पुण्य की 42 प्रकृतियों में से तीन आयु को छोड़कर शेष समस्त प्रकृतियों का स्थितिबंध कषाय से होता है। कषाय जितना अधिक होता है उतना ही इनका स्थिति बंध अधिक होता है। परन्तु ये प्रकृतियाँ अघाती होने से इनका स्थिति बंध जीव के लिए कुछ भी हानिकारक नहीं है।

(3) अनुभागबंध-कर्म-सिद्धान्त में बताया गया है कि पाप का अनुभाग कषाय से होता है, परन्तु पुण्य का अनुभाग कषाय से नहीं होकर कषाय में कमी होने से, कषाय के घटने से होता है। जितना-जितना कषाय घटता जाता है और आत्मा पवित्र होती जाती है उतना-उतना पुण्य का अनुभाग या रस बढ़ता जाता है। फलदान शक्ति रस रूप होने से पुण्य का अनुभाग ही पुण्य का सूचक है। अतः जहाँ भी पुण्य का विवेचन किया जाता है वहाँ पुण्य के अनुभाग और रस को ही ग्रहण किया जाता है, स्थिति को नहीं।

(4) प्रदेश बंध-पुण्य प्रकृतियों के दलिकों का बँधना पुण्य कर्म का प्रदेश बंध है। प्रदेश बंध न्यूनाधिक होने से इनके अनुभाग में कोई अंतर नहीं पड़ता है अर्थात् अनुभाग न्यूनाधिक नहीं होता है। अतः कर्मों का प्रदेश बंध के न्यूनाधिक होने का कोई महत्त्व नहीं है।

पुण्य की आवश्यकता

साधक के लिए पुण्य आवश्यक है। जो पुण्य नहीं करता है वह धर्म नहीं कर सकता, क्योंकि आत्मा पुण्य से ही पवित्र होती है अथवा आत्मा का पवित्र होना ही पुण्य है तथा पुण्य के फल से पंचेन्द्रिय जाति, मानव भव, मन, बुद्धि आदि मिलते हैं, त्याग का बल मिलता है, जिसके बिना कोई भी जीव मुक्ति नहीं पा सकता, क्योंकि इनके बिना वह साधना नहीं कर सकता। जैसा कि कहा है-

इह जीविए राय ! असासयम्मि, धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो।
से सोयइ मच्चु-मुहोवणीए, धम्मं अकाऊण परंमि (सि) लोए।।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 13, गाथा 21

हे राजन् ! इस अशाश्वत मानव जीवन में जो प्रचुर पुण्य कर्म नहीं करता है वह मृत्यु के मुख में पहुँचने पर सोच (चिन्ता-शोक) करता है और वह धर्म न करने के कारण परलोक में भी पछताता है।

पुण्य सब पापों का नाशक एवं उत्कृष्ट मंगल है

पुण्य का उपार्जन संयम रूप निवृत्तिपरक साधना से हो अथवा दया, दान, परोपकार रूप प्रवृत्तिपरक साधना से हो, वह मुक्ति में सहायक होता है, बाधक नहीं। जैसा कि कहा है-

नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं,
नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं।
एसो पंच नमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो,
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं।।

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु इन पाँचों को नमस्कार करने रूप पुण्य सब पापों का नाश करने वाला है तथा सर्वोत्कृष्ट मंगल है अर्थात् नमस्कार रूप पुण्य मुक्तिप्रदाता एवं कल्याणकारी है।

पुण्येन तीर्थङ्करश्रियं परमां नैःश्रेयसीं चाश्नुते।

अर्थ-पुण्य से तीर्थङ्कर की श्री प्राप्त होती है और परम कल्याण रूप मोक्ष लक्ष्मी भी पुण्य से मिलती है।

-पद्मपुराण, सर्ग 30, श्लोक 28

सुह-सुद्धपरिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।

अर्थ-यदि शुभ या शुद्ध परिणामों अर्थात् पुण्य से कर्मों का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता।

-जयधवला, पुस्तक 1, पृष्ठ 6

मोक्षं याति, परमपुण्यातिशय-चारित्र-विशेषात्मकपौरुषाभ्यामेव संभवात्।

अर्थ-अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति परम पुण्य और चारित्र रूप पुरुषार्थ के द्वारा ही संभव है।

पुण्यं दानादिक्रियोपार्जनीयं शुभं कर्म।

अर्थ-दानादि क्रियाओं से उपार्जित किया जाने वाला शुभ कर्म पुण्य है। -स्याद्वादमंजरी, 27

पुण्य का फल

पुण्य का फल दो प्रकार से मिलता है-(1) घाती कर्मों के क्षय के रूप में और (2) अघाती कर्मों की शुभ प्रकृतियों के उपार्जन के रूप में। यह नियम है कि आत्मा जितनी पवित्र होती है उतना ही घाती कर्मों का क्षय होता जाता है और अघाती कर्मों की शुभ प्रकृतियों का अनुभाग बढ़ता जाता है, जो जीव के प्राणों के विकास का द्योतक एवं साधना में सहयोगी होता है।

❑❑❑

(2)

पाप तत्त्व : स्वरूप और भेद

पाप व पुण्य का संबंध प्रवृत्ति से है। प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है-(1) दुष्प्रवृत्ति और (2) सद्प्रवृत्ति। जिस प्रवृत्ति से अहित हो, हानि हो, दुःख हो, पतन हो वह दुष्प्रवृत्ति है, पाप है। **''पातयति आत्मानं इति पापम्''** इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस प्रवृत्ति से आत्मा का पतन हो, हानि हो, अहित हो वह दोष है, वह पाप है। दोष युक्त प्रवृत्ति को दुष्प्रवृत्ति कहा जाता है। दोष, अधर्म, पाप, दुष्कर्म, दुष्प्रवृत्ति आदि शब्द पर्यायवाची हैं। दुष्कर्म चाहे मन का हो, चाहे वचन को हो, चाहे काया का हो, सभी पाप हैं, दोष हैं, अधर्म हैं, बुरे हैं। कोई भी अपने को दोषी, पापी, दुष्ट कहलाना पसंद नहीं करता है। अतः दोष, पाप या बुराई के त्याग में ही अपना हित है, कल्याण है।

हमारे प्रति की गई जिस क्रिया को, प्रवृत्ति को, व्यवहार को हम बुरा मानते हैं वह दोष है, बुराई है, पाप है। जैसे कोई हमें मारता-पीटता है, कष्ट देता है, पीड़ा पहुँचाता है, झूठ बोलता है, हमारी चोरी करता है, हमें ठगता है, हानि पहुँचाता है, धोखा देता है, हमारे पर क्रोध करता है, द्वेष करता है, हमारी निन्दा करता है, बुराई करता है, हमारा बुरा करता है तो हम सबको उसका मारना-पीटना, झूठ बोलना, चोरी करना आदि ये सब प्रवृत्तियाँ या व्यवहार बुरे लगते हैं। हम इन सब कार्यों व इन कार्यों

को करने वालों को बुरा समझते हैं। अतः ये सब दुष्कर्म व पाप हैं। यह ज्ञान बालक से वृद्ध तक, अज्ञ से विज्ञ तक, मानव मात्र को स्वतः प्राप्त है, इसमें किसी गुरु व ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं है। अतः यह ज्ञान स्वयं-सिद्ध है, स्वाभाविक ज्ञान है, किसी की देन नहीं है, निजज्ञान है। स्वंय सिद्ध होने से इस ज्ञान के लिए अन्य किसी भी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

यह नैसर्गिक नियम है कि जैसा बीज बोया जाता है वैसा ही फल लगता है। उपर्युक्त सब कार्य बुरे हैं, अतः इन सबका फल बुरा, अनिष्ट व दुःख रूप ही मिलता है। अतः जिन्हें दुःख से, अनिष्ट से बचना इष्ट है उन्हें इन सब दुष्कर्मों से, पापों से बचना ही होगा। कोई पाप भी करे और उसके परिणाम से दुःख न पावे यह कदापि संभव नहीं है। पाप के त्याग से ही दुःख से मुक्ति पाना संभव है, दुःख से मुक्ति पाने का अन्य कोई उपाय नहीं है। अतः पाप के त्याग में ही सबका कल्याण है। जैन धर्म में आवश्यक सूत्र के अनुसार पाप अठारह हैं यथा-(1) प्राणातिपात-हिंसा करना (2) मृषावाद-झूठ बोलना (3) अदत्तादान-चोरी करना (4) मैथुन (5) परिग्रह (6) क्रोध (7) मान (8) माया (9) लोभ (10) राग (11) द्वेष (12) कलह (13) अभ्याख्यान-झूठा कलंक लगाना (14) पैशुन्य-चुगली करना (15) पर-परिवाद-निंदा (16) रति-अरति (17) मायामृषावाद-कपटयुक्त झूठ बोलना और (18) मिथ्यादर्शन शल्य।

(1) प्राणातिपात-प्राणों का अतिपात करना प्राणातिपात है। प्राण दस हैं-पाँच इन्दियाँ, मन, वचन, काया, श्वासोच्छ्वास एवं आयुष्य। इनमें से किसी भी प्राण का हनन करना हिंसा या प्राणातिपात है। प्राणों के अतिपात से पीड़ा होती है। पीड़ा किसी को भी पसंद नहीं है। पैर में एक काँटा चुभ जाय, कपड़े में एक घास की सली आ जाय तो उसकी पीड़ा भी सहन नहीं होती। जब तक काँटा न निकाल दिया जाय, सली दूर न

कर दी जाय, चैन नहीं पड़ता है। जब पैर की अंगुली में एक काँटा चुभने से भी इतनी पीड़ा होती है तो पूरी अंगुली काटने में कितनी भयंकर पीड़ा होती है, इसे तो भुक्तभोगी ही जान सकता है। अंगुली से भी अधिक भयंकर पीड़ा पैर का फाबा काटने में होती है। उससे भी भयंकर पीड़ा पूरे पैर को काटने में होती है। उससे भी भयंकर अनेक गुणी वेदना पूरे शरीर को मारने में होती है। उस समय मरने में जो असह्य भयंकर पीड़ा होती है उसका तो हम अनुमान भी नहीं लगा सकते।

अपने प्रति किये गये जिस कार्य को हम बुरा समझते हैं वही कार्य जब हम दूसरों के प्रति करते हैं तो क्या हमारा वह कार्य बुरा नहीं होगा? अवश्य होगा और बुरा कार्य करने वाला व्यक्ति बुरा होता ही है, अतः हम भी बुरे हो ही गये। यह सर्वमान्य है कि बुरा होना, बुरा कहलाना किसी को भी पसंद नहीं है। बुराई को सभी त्याज्य मानते हैं। अतः इस सर्वमान्य सिद्धान्त को स्वीकार कर हिंसा की बुराई जो सबसे भयंकर पाप है, इससे बचना चाहिये। इसी में हमारा व सबका हित है।

अतः सभी का हित 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त को स्वीकार करने में है। यही भगवान महावीर का उपदेश है।

शरीर के किसी भी एक अंग को क्षति या हानि पहुँचना भयंकर हानि है। कारण कि शरीर का प्रत्येक अंग बहुमूल्य है। किसी गरीब व्यक्ति से भी कहें कि तुम दो लाख रुपये ले लो और अपनी दोनों आँखें दे दो तो वह इस प्रस्ताव को स्वीकार न करेगा। इससे यह परिणाम निकला कि उसकी आँखों का मूल्य दो लाख रुपये से भी अधिक है। जब आँखों का ही मूल्य दो लाख रुपये से अधिक है तो पूरे शरीर का मूल्य तो कितना अधिक होगा, हम कल्पना भी नहीं कर सकते। हम किसी को करोड़ों, अरबों या कितने ही रुपये दें तब भी वह अपना शरीर देने को तैयार नहीं होगा। इससे

यह सिद्ध होता है कि किसी भी व्यक्ति का शरीर अमूल्य निधि है। उसकी घात करना अमूल्य निधि को हानि पहुँचाना है, जो बहुत बड़ी क्षति है। इतनी बड़ी क्षति करना, भयंकर दोष या पाप है।

जीवों के शरीर का हनन करना तो हिंसा है ही, उनको कष्ट देना, हानि पहुँचाना भी हिंसा है। हिंसा के अगणित रूप हैं, जैसे मारना, पीटना, कष्ट देना, युद्ध करना, शस्त्रों का निर्माण करना, शक्ति से अधिक श्रम लेना, नकली दवाईयाँ बनाना, प्रसाधन सामग्री के लिए पशु-पक्षियों को पीड़ा पहुँचाना, अत्याचार करना आदि सभी उत्पीड़क कार्य हिंसा के ही विविध रूप हैं।

प्राणातिपात दो प्रकार का है-1. स्व-प्राणातिपात 2. पर-प्राणातिपात। स्व प्राणातिपात भी द्रव्य और भाव की अपेक्षा से दो प्रकार का है-क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष आदि दूषित भावों से अपने ज्ञान, दर्शन, क्षमा, नम्रता, सरलता, सन्तोष आदि गुणों का अतिपात होना, घात होना भाव स्व-प्राणातिपात है। विषय कषाय के सेवन में अपनी इन्द्रियों की प्राणशक्ति का ह्रास होना द्रव्य स्व-प्राणातिपात है।

पर प्राणातिपात भी दो प्रकार का है-अपने क्रूरता, कठोरता, निर्दयता आदि दुर्व्यवहार से दूसरों के हृदय को आघात लगना, उनमें शत्रुता, द्वेष, संघर्ष का भाव पैदा होना पर भाव-प्राणातिपात है। दूसरों के शरीर, इन्द्रिय आदि प्राणों का हनन करना पर द्रव्य-प्राणातिपात है। किसी के दुर्भाव व दुष्प्रवृत्ति से दूसरों का अहित नहीं हो, तब भी स्वयं के प्राणों का अतिपात हो ही जाता है, उसे प्राणातिपात का पाप लग ही जाता है।

(2) मृषावाद-झूठ बोलना। जो बात जैसी देखी है, सुनी है व जानते हैं उसे उसी रूप में न कहकर विपरीत रूप में या अन्य रूप में कहना मृषावाद है। मृषावाद के अनेक रूप हैं-किसी पर कलंक लगाना, धरोहर

व गिरवी की वस्तु हड़प जाना, मृषा उपदेश देना, बहकाना, भ्रामक वचन बोलना, उत्तेजनात्मक भाषण देना, जनता को बर्गलाना, हानिकारक वस्तु को गुण युक्त लाभकारी वस्तु कहकर बेचना, झूठे विज्ञापन देना, वादे से मुकर जाना, स्वार्थ के लिए अपने वचन को पलट देना आदि मिथ्या भाव आना भी मृषावाद है।

(3) अदत्तादान-चोरी करना, दूसरों की वस्तु का अपहरण करना व बलात् अधिकार जमा लेना, कम तोलना-मापना, अच्छी वस्तु दिखाकर बुरी वस्तु देना, वस्तु में मिलावट करना, लॉटरी, चिट-फंड, जुआ आदि से लोगों का धन हरण करना, धोखाधड़ी करना, अधिक श्रम करवाकर कम पारिश्रमिक देना, शोषण करना, जेब काटना, डाका डालना, लूटपाट करना, अच्छा नमूना दिखाकर नकली वस्तु देना, पुरस्कार का लोभ देकर फँसाना, साहित्यिक चोरी करना आदि चोरी के अनेक रूप हैं। मुक्ति, शांति, स्वाधीनता, प्रसन्नता आदि अपने गुणों का अपहरण होना भी अदत्तादान है। इससे अविश्वास की उत्पति होती है जो भारी हानि है।

(4) मैथुन-काम-विकार में प्रवृत्त होना, संभोग करना, मैथुन है। मैथुन के अनेक प्रकार हैं, यथा-रति क्रीड़ा करना, वेश्यागमन करना, परस्त्री गमन करना, व्यभिचार सेवन करना, बलात्कार करना, समलिंगी के साथ संभोग करना, अश्लील फिल्म देखना, तीव्र नशीली वस्तुओं का सेवन कर कामोत्तेजन करना, नग्न नृत्य देखना आदि मैथुन के अनेक रूप हैं। आत्म-भाव भूलना, निज स्वरूप की विस्मृति होना और पर से संग व भोग करना भी मैथुन है। इससे आकुलता उद्वेग उत्पन्न होता है जिससे चित्त की शांति व समता भंग होती है।

(5) परिग्रह-वस्तुओं का संग्रह करना परिग्रह है। परिग्रह के असंख्य रूप हैं यथा-भूमि, भवन व सिक्कों का संग्रह, वस्त्रों का संग्रह, मूर्तियों का

संग्रह, पुरानी वस्तुओं का संग्रह, भोग-उपभोग की वस्तुओं का संग्रह, पशुओं का संग्रह, खाद्य वस्तुओं का संग्रह, वाहनों का संग्रह आदि, यह द्रव्य परिग्रह है। भोग सामग्री के प्रति ममता होना भाव परिग्रह है। इससे मूर्च्छाभाव-जड़ता, पराधीनता आदि दोषों व दु:खों की उत्पत्ति होती है।

(6) क्रोध-क्षुब्ध होना क्रोध है। अपनी मन चाही स्थिति नहीं होने पर अथवा अनचाही होने पर गुस्सा करना, खिन्न होना, गाली देना, बुरा-भला कहना, गुस्से में कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का भान भूल जाना, गुस्से से होठों का फड़कना, आँखें लाल होना आदि क्रोध के अनेक रूप हैं।

कामना उत्पत्ति से अशांत व खिन्न होना भी क्रोध है। इससे प्रसन्नता का हनन व खिन्नता रूप दु:ख होता है।

(7) मान-अहंकार करना मान है। जाति, कुल, बल, रूप, शक्ति, सम्पत्ति, ज्ञान, विद्या, बुद्धि, योग्यता, भाषण, पद आदि का मद करना, सम्मान चाहना, अभिनंदन चाहना, अपने को महान् और दूसरों को हीन समझना, अपना गुण-गौरव गाना या दूसरों से गुण गाथा कराना, उसे सुनकर हर्ष होना, अपमान का बुरा लगना, अपने को असामान्य मानना आदि मान के अगणित प्रकार हैं। मृदुता को खो देना, भेद व भिन्नता का भाव पैदा होना, पर या विनाशी वस्तुओं, योग्यता व पात्रता के आधार पर अपना मूल्यांकन करना भी मान है। इससे भेद-भिन्नता व अलगाव रूप दोष व दु:ख उत्पन्न होते हैं।

(8) माया-कपट करना या धोखा देना माया है। अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को भुलावे में डालना, दूसरों से लेख व पुस्तकें लिखवा कर उस पर अपना नाम देना, ऊपर से मधुर बोलना, भीतर कटुता भरा होना, आश्वासन देकर उससे मुकर जाना, विश्वासघात करना, झूठा प्रदर्शन करना, कूटनीति करना आदि माया के अनेक रूप हैं। ऋजुता-सरलता-

सहजता, स्वाभाविकता न होकर वक्रता-कृत्रिमता-कुटिलता होना भी माया है। इससे मित्रता का विच्छेद व वैरभाव की उत्पत्ति होती है।

(9) लोभ-प्रलोभन वृत्ति का होना लोभ है। अप्राप्त को प्राप्त करने की कामना, प्राप्त को बनाये रखना, संचय वृत्ति, लाभ की इच्छा आदि लोभ के अनेक प्रकार हैं। सुख का प्रलोभन भी लोभ है। लोभवृत्ति से अभाव का अनुभव होता है जो दरिद्रता का द्योतक है।

(10) राग-किसी भी वस्तु, व्यक्ति, स्थिति आदि की अनुकूलता के प्रति आकर्षण होना राग है। पर पदार्थों के प्रति आसक्ति, विषय-सुख की अभिलाषा भी राग ही है। राग आग है जो आत्मा को सदैव प्रज्वलित करती रहती है। राग ठंडी आग है।

(11) द्वेष-प्रतिकूलता के प्रति अरुचि होना द्वेष है। वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति की प्रतिकूलता में उसके प्रति दुर्भाव होना, उसका विनाश चाहना, उसे बुरा समझना, उन पर आक्रोश होना, बुरा जानना आदि द्वेष के अनेक रूप हैं।

(12) कलह-झगड़ा करना कलह है। कलह अपने लिए संतापकारी एवं दूसरों के लिए परितापकारी और सभी के लिए अशांतिकारी होता है। असहिष्णुता, प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, द्वन्द्व आदि इसके अनेक रूप हैं।

(13) अभ्याख्यान-दूसरों पर झूठा आरोप लगाना अभ्याख्यान है। किसी पर कलंक लगाना, बदनाम करना, नीचा दिखाना, दोषारोपण करना आदि इसके अनेक रूप हैं।

(14) पैशुन्य-चुगली खाना पैशुन्य है। इधर की बात उधर करना, दो व्यक्तियों को लड़ा देना, परस्पर भिड़ा देना आदि पैशुन्य के अनेक रूप हैं।

(15) परपरिवाद-दूसरों की निंदा करना परपरिवाद है। किसी की

निंदा करना, पर-दोष दर्शन करना, पर को हीन दृष्टि से देखना आदि इसके अनेक रूप हैं।

(16) रति-अरति-अनुकूलता के प्रति रुचि 'रति' तथा प्रतिकूलता के प्रति अरुचि 'अरति' है। अनुकूलता में प्रसन्न होना, प्रतिकूलता में खिन्न होना, अनुकूलता को बनाये रखने की रुचि, प्रतिकूलता को दूर करने की इच्छा आदि इसके अनेक रूप हैं।

(17) माया-मृषावाद-कपट सहित झूठ बोलना अर्थात् भीतर में कुटिलता रखकर ऊपर से मधुर बोलना। चालाकी से बात करना, धोखा भरी वाणी बोलना, कूटनीति भरी बातें करना आदि माया मृषा के अनेक रूप हैं। सत्य को जानते हुए असत्य आचरण करना भी माया मृषावाद है।

(18) मिथ्यादर्शन शल्य-मिथ्यात्व युक्त प्रवृत्ति मिथ्यादर्शन शल्य है। देह में आत्म बुद्धि होना, धन-संपत्ति आदि की पराधीनता में स्वाधीनता मानना, आदि मिथ्यादर्शन शल्य के अनेक रूप हैं। स्वभाव को विभाव और विभाव को स्वभाव मानना भी मिथ्यादर्शन है।

उपर्युक्त अठारह पापों का विवेचन स्थूल दृष्टि से संक्षिप्त रूप में किया गया है। वह प्रवृत्ति जो आत्मा से विमुख करती है, बहिर्मुखी बनाती है, पर की ओर अभिमुख करती है, सब पाप है।

उपर्युक्त सभी पाप बुरे हैं, यह ज्ञान स्वयं सिद्ध है। क्योंकि कोई भी मानव बुरा नहीं कहलाना चाहता है, यह भी सर्व विदित है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि फिर हम ये बुरे काम करते क्यों है ? कहना होगा कि हम अपने विषय-सुख की पूर्ति के लिए इन सब पापों को करते हैं। इन पापों के फलस्वरूप दुःख मिलेगा तो फिर देखा जायेगा, उसे भोग लेंगे, अभी तो सुख भोग लें। इस प्रकार हम क्षणिक विषय सुख की दासता में इतने आबद्ध हैं कि अपने ज्ञान का अनादर कर विषय-सुख सामग्री की

प्राप्ति के लिए इन दुष्कर्मों को, दोषों को, पापों को अपनाते हैं। साथ ही साथ दुःख भी पाते रहते हैं। इस प्रकार विषय-सुख के साथ दुःख भोगते हुये अनन्त काल बीत गया, परन्तु न तो विषय-सुख की पूर्ति हुई और न दुःख से मुक्ति मिली। यदि हम आगे भी विषय-सुख के आधीन हो ऐसा ही करते रहेंगे तो आगे भी हमारी यही स्थिति रहेगी। हमें जो सुख मिलेगा वह तो क्षणिक होने से नहीं रहेगा और हम दुःख पाते ही रहेंगे। मानव-जीवन दुःख रहित होने के लिए मिला है, यही इस जीवन की विशेषता है। अतः यदि हमने दुःख रहित सुखमय जीवन नहीं जीया तो समझना चाहिये कि हमारा जीवन व्यर्थ ही गया, कारण कि सुख-दुःख युक्त जीवन तो पशु भी जीता है, फिर हमारे में पशु के जीवन से क्या विशेषता आई। अतः हम विषय-सुखों एवं इनसे जुड़े हुए दुष्कर्मों-पापों का त्याग कर अक्षय, अव्याबाध, अनन्त सुखमय जीवन जीयें, इसी में हमारे जीवन की सार्थकता तथा सफलता है। मानव विषय-सुख का त्याग कर जिस क्षण चाहे उसी क्षण अव्याबाध, अनंत सुख का आस्वादन कर सकता है। त्याग के लिए वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, स्थान, समय, अभ्यास, श्रम आदि किसी की भी आवश्यकता या अपेक्षा नहीं है, अतः मानव त्याग करने में समर्थ और स्वाधीन है। फिर भी त्याग को न अपनाकर दुःखी रहे, यह कितने आश्चर्य की, कितनी खिन्नता की बात है; कितनी करुणाजनक और अशोभनीय स्थिति है।

वस्तुतः त्याग ही जीवन है, विषय भोग ही मृत्यु है। जितना-जितना त्याग बढ़ता जायेगा उतना-उतना पाप घटता जायेगा। त्याग का बढ़ना और पाप का घटना युगपत् है। अतः पाप के त्याग से ही शांति व मुक्ति के शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।

❑❑❑

(३)

पाप ही त्याज्य है, पुण्य नहीं

सम्पूर्ण आगमों का सार पापों का त्याग करना है। पापों के त्याग में ही जीव का कल्याण है और पापों के सेवन में ही अकल्याण एवं अहित है।

साधना में सर्वत्र पाप के त्याग का ही विधान है, पुण्य के त्याग का विधान कहीं भी नहीं है। साधना का प्रारंभ होता है सामायिक से, समत्व से। सामायिक के प्रतिज्ञा पाठ में **'सावज्जं जोगं पच्चक्खामि'** आया है इसका अर्थ है सावद्ययोग-पापकारी प्रवृत्ति का त्याग करता हूँ। इस प्रतिज्ञा पाठ से पुण्य प्रवृत्ति के त्याग का कहीं भी विधान नहीं है। साधना के क्षेत्र में आगे भी जितने पाठ हैं उनमें पापों के त्याग का ही विधान है। किसी भी पाठ में किसी पुण्य प्रवृत्ति के त्याग का आदेश-निर्देश, उपदेश नहीं है। यहाँ तक कि साधना का अंतिम चरम बिन्दु संलेखना है। उसके प्रतिज्ञा पाठ में भी **'सव्वं पाणाइवायं जाव मिच्छादंसण सल्लं पच्चक्खामि'** पाठ आया है। इसमें भी अठारह ही पाप का त्याग किया गया है। पुण्य के त्याग का यहाँ पर भी कोई विधान नहीं है। इससे यह प्रमाणित होता है कि पुण्य के त्याग का साधना में कहीं भी कोई स्थान नहीं है। यह तथ्य निम्नाङ्कित आगम उद्धरणों से भी पुष्ट होता है यथा-

(1) कहं णं भंते! जीवा गुरुयत्तं हव्वमागच्छंति? गोयमा! पाणाइ-वाएणं मुसावाएणं अदि. मेहुणं. मायामोसमिच्छादंसणसल्लेणं, एवं खलु गोयमा! जीवा गुरुयत्तं हव्वमागच्छंति। कहं णं भंते! जीवा लहुयत्तं हव्वमा-

गच्छन्ति? गोयमा! पाणाइवायवेरमणेणं जाव मिच्छादंसणसल्लवेरमणं एवं खलु गोयमा! जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छन्ति, एवं संसारं आउलीकरेंति एवं परित्तीकरेंति दीहीकरेंति हस्सीकरेंति एवं अणुपरियट्टंति एवं वीइवयंति। पसत्था चत्तारि अप्पसत्था चत्तारि।।

-भगवती शतक 1, उद्देशक 9, सूत्र 72 तथा शतक 12, उद्देशक 2, सूत्र 442

अर्थ-भगवन्, जीव किस प्रकार गुरुत्व-भारीपन को प्राप्त होते है? गौतम! प्राणातिपात, मृषावाद आदि अठारह पापों का सेवन करने से जीव शीघ्र गुरुत्व को प्राप्त होते हैं। भगवन् ! जीव किस प्रकार लघुत्व को प्राप्त होते है? गौतम! प्राणातिपात आदि अठारह पापों के त्याग से शीघ्र लघुत्व (हलकापन) को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार प्राणातिपात आदि पापों का सेवन करने से जीव (1) गुरुत्व को प्राप्त होते हैं, (2) संसार को बढ़ाते हैं, (3) संसार को लम्बे काल का करते हैं और (4) बार-बार भव-भ्रमण करते हैं तथा प्राणातिपात आदि पापों का त्याग करने से जीव (1) लघुत्व को प्राप्त करते हैं, (2) संसार को घटाते हैं, (3) संसार को अल्पकालीन करते हैं और (4) संसार को पार कर जाते हैं। इनमें से चार (हलकापन आदि) प्रशस्त हैं और चार (भारीपन आदि) अप्रशस्त हैं।

(2) कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो।।

-दशवैकालिक 8.38

क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सर्वस्व नष्ट कर देता है।

(3) पूयणट्ठा जसोकामी, माणसम्माणकामए।
बहुं पसवइ पावं, मायासल्लं च कुव्वइ।।

-दशवैकालिक सूत्र, 5.2.35

अपनी पूजा-प्रतिष्ठा चाहने वाला, यश की कामना करने वाला

तथा मान-सम्मान की अभिलाषा रखने वाला बहुत पाप उपार्जन करता है और माया शल्य का आचरण करता है।

(4) सुवण्णरूप्पस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।।

कैलाश पर्वत के समान सोने-चाँदी के असंख्य पर्वत हों और वे मिल जायें तो भी लोभी मनुष्य को किंचित् मात्र तुष्टि नहीं होती, क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनंत है।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 9, गाथा 48

(5) सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे य पत्थेमाणा, अकामा जंति दोग्गइं।।

काम-भोग शल्य के समान हैं और दृष्टि-विष सर्प के समान है। काम-भोग की अभिलाषा करने वाले, काम-भोग न भोगने पर भी दुर्गति को प्राप्त होते हैं अर्थात् दुःखी होते हैं।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 9, गाथा 53

(6) जे केइ सरीरे सत्ता, वण्णे रूवे य सव्वसो।
मणसा काय-वक्केणं, सव्वे ते दुक्खसंभवा।।

जो कोई प्राणी मन, वचन और काया से शरीर, रूप, वर्ण आदि में आसक्त हैं, वे दुःख के भाजन हैं अर्थात् उन्हें दुःख भोगना ही पड़ता है।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 6, गाथा 12

(7) खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण उ कामभोगा।।

काम-भोग क्षणभर सुख देने वाले हैं और बहुत समय तक दुःख देने वाले हैं। कामभोग अत्यल्प सुख देने वाले हैं और अत्यन्त दुःख देने वाले हैं। ये संसार से मुक्ति पाने वाले के लिए विरोधी हैं और समस्त अनर्थों की खान हैं।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 14, गाथा 13

(8) जहा किंपागफलाणं परिणामो न सुंदरो।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुंदरो।।

जैसे किंपाक नामक फल के भक्षण का परिणाम अच्छा नहीं होता है अर्थात् हलाहल विष का काम करता है, उसी प्रकार भोगे हुए विषय भोगों का परिणाम भी अत्यन्त कष्ट प्रदायक एवं अनिष्ट जनक होता है। आशय यह है कि भोग ऊपर से बड़े सुहावने, लुभावने, सुंदर, सुखद एवं मधुर लगते हैं, परंतु उनका परिणाम बड़ा दु:खद होता है। संसार के समस्त दु:खों का कारण काम-भोग ही हैं।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 19, गाथा 18

(9) उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पइ।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चइ।।

प्राणी काम-भोग भोगने से कर्मों में लिप्त होता है। अभोगी कर्मों से लिप्त नहीं होता है। भोगी संसार में भ्रमण करता है, भटकता है। अभोगी संसार से मुक्त हो जाता है, पार हो जाता है।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 25, गाथा 41

(10) उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायमज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे।।

क्रोध को उपशम से अर्थात् शांति एवं क्षमा से जीतना चाहिए। मान को मृदुता से अर्थात् विनम्रता एवं कोमलता से जीतना चाहिए। माया को आर्जव से अर्थात् ऋजुता एवं सरलता से जीतना चाहिए तथा लोभ को संतोष से अर्थात् निष्काम भाव से जीतना चाहिए।

-दशवैकालिक सूत्र 8.39

(11) जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे।।16।।

साहरे हत्थपाए य, मणं पंचिंदियाणि य।
पावगं च परिणामं, भासादोसं च तारिसं।।17।।

जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने शरीर में संकुचित कर लेता है, उसी प्रकार बुद्धिमान पुरुष को अध्यात्म-भावना में अपने पापों को संकुचित कर लेना चाहिए। -सूत्रकृतांग 1.8.16-17

ज्ञानीजन, कछुए की भाँति हाथ-पैर आदि अंगों को, मन को, पाँचों इन्द्रियों को, भाषा को एवं भावों को पाप-प्रवृत्तियों से रोक लेते हैं।

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ।।

यतना से चले, यतना से खड़ा रहे, यतना से बैठे, यतना से सोए, यतना से खाए और यतना पूर्वक बोले तो पाप कर्म का बंध नहीं होता है।

-दशवैकालिक सूत्र, 4.8

सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स, पाव कम्मं न बंधइ।।

जो सब जीवों को अपने समान समझता है और अपने समान देखता है, इससे वह आस्रव को रोक देता है। ऐसी जितेन्द्रिय आत्मा को पाप कर्म का बंध नहीं होता है। -दशवैकालिक सूत्र, 4.9

कायगुत्तयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?
कायगुत्तयाए णं संवरं जणयइ।
संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ।।

कायगुप्ति से जीव को क्या प्राप्त होता है?

कायगुप्ति से जीव संवर (अशुभ आस्रव प्रवृत्ति के निरोध) को प्राप्त होता है। संवर से कायगुप्त होकर (साधक) फिर से होने वाले पापास्रव का निरोध करता है। -उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 29, सूत्र 55

वंदणएणं भंते! जीवे किं जणयइ?

वंदणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ। उच्चागोयं कम्मं निबंधइ। सोहग्गं च णं अपडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ दाहिणभावं च णं जणयइ।।

भंते! वंदना से जीव क्या उपलब्ध करता है।

वंदना से जीव नीच गोत्र कर्म का क्षय करता है एवं उच्च गोत्र का बंध करता है। वह अप्रतिहत सौभाग्य को प्राप्त करता है, उसकी आज्ञा (सर्वत्र) अबाधित होती है (अर्थात् आज्ञा शिरोधार्य हो, ऐसा फल प्राप्त होता है) तथा दाक्षिण्यभाव (जनता के द्वारा अनुकूल भाव) को प्राप्त करता है। यहाँ पुण्य का बंधन उपादेय कहा है।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 29, सूत्र 10

नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं, एसो पंच नमुक्कारो, सव्वापावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइं मंगलं।

अरिहंतों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो, सब साधुओं को नमस्कार हो। ऐसे पाँच नमस्कार सर्व पापों का नाश करने वाले हैं, मंगलकारी हैं और सब मंगलों में श्रेष्ठ मंगल हैं।

उपर्युक्त नमस्कार सूत्र में नमस्कार पुण्य को सब पापों का नाश करने वाला तथा श्रेष्ठ मंगलकारी कहा है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पुण्य से पाप का क्षय होता है।

एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं।।

एक से निवृत्ति करे और एक में प्रवृत्ति करे अर्थात् असंयम से निवृत्ति करे और संयम में प्रवृत्ति करे। -उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 31, गाथा 2

यहाँ साधु के लिए सद्प्रवृत्ति-शुभयोग-पुण्य के आचरण का विधान है, निषेध नहीं है।

रागदोसे य दो पावे, पावकम्मपवत्तणे।
जे भिक्खू रुंभइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले।।

पाप कर्म में प्रवृत्ति कराने वाले राग और द्वेष ये दो पाप हैं। जो साधु सदा इन्हें रोकता है वह संसार सागर में परिभ्रमण नहीं करता है। यहाँ पाप और पाप प्रवृत्ति के त्याग से संसार परिभ्रमण का निषेध होना कहा है, पुण्य प्रवृत्ति के त्याग से नहीं। -उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 31, गाथा 3

दंडाणं गारवाणं च, सल्लाणं च तियं तियं।
जे भिक्खू चयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले।।

जो साधु तीन दंड, तीन गारव तथा तीन शल्य को सदैव छोड़ देता है, वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता।-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 31, गाथा 4

असुहादो विणिवित्तिं, सुहे पवित्तिं, य जाण चारित्तं।

अर्थात् अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति को ही चारित्र समझो।

जहा उ पावगं कम्मं, राग दोस-समज्जियं।
खवेइ तवसा भिक्खू, तमेगग्गमणो सुण।।

राग-द्वेष से उत्पन्न हुए पाप कर्मों का जिस प्रकार, साधु तप के द्वारा क्षय कर देता है, उसे एकाग्रचित होकर सुनो।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 30, गाथा 1

पाणिवह-मुसावाया, अदत्त-मेहुण-परिग्गहा विरओ।
राइभोयण-विरओ, जीवो हवइ अणासवो।।

हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह एवं रात्रि भोजन से निवृत्त हुआ जीव आस्रव रहित होता है। -उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 30, गाथा 2

पंचसमिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइंदिओ।
अगारवो य णिस्सल्लो, जीवो हवह अणासवो।।

पाँच समिति वाला, तीन गुप्ति वाला, कषाय रहित, जितेन्द्रिय तीन गारव रहित और तीन शल्य रहित जीव आस्रव रहित होता है, यहाँ पापास्रव का ही निषेध किया गया है। -उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 30, गाथा 3

खवेंति अप्पाणममोहदंसिणो, तवे रया संजम अज्जवे गुणे।
धुणंति पावाइं पुरेकडाइं, णवाइं पावाइं ण ते करेंति।।

निर्मोह भाव का दर्शन करने वाले तप, संयम और आर्जव गुण में रत साधक पूर्वकृत पाप कर्मों का क्षय करते हैं और नवीन पाप कर्मों का बंध नहीं करते हैं। इस गाथा में निर्मोह-वीतरागता के साधक के लिए तप, संयम, आर्जव आदि गुणों से पाप कर्मों का क्षय होना और नये पाप कर्मों का बंध न होना ही कहा है। पुण्य कर्मों का या सब कर्मों का क्षय होना नहीं कहा है और नवीन पुण्य कर्मों के अनुबंध का निषेध भी नहीं किया है।

-दशवैकालिक सूत्र, 6.68

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति।
दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवंति।।

अच्छे (शुभ) कर्म का फल शुभ होता है। अशुभ कर्म का फल अशुभ होता है। -औपपातिक, 56

पाशयति पातयति वा पापं।।

जो आत्मा को बाँधता है अथवा पतन करता है, वह पाप है।

-उत्तराध्ययन सूत्र, चूर्णि 2

इह लोगे सुचिण्णा कम्मा इह लोगे सुहफलविवागसंजुत्ता भंवति।
इह लोगे सुचिण्णा कम्मा परलोगे सुहफलविवागसंजुत्ता भवंति।।

इस जीवन में किए हुए सत्कर्म इस जीवन में भी शुभ (सुखदायी) फल देने वाले होते हैं। इस जीवन में किए हुए सत्कर्म अगले जीवन में भी शुभ (सुखदायी) फल देने वाले होते हैं। -स्थानांग 4.2

जह वा विसगंडूसं कोई घेत्तूण नाम तुण्हिक्को।
अण्णेण अदीसंतो किं नाम ततो न व मरेज्जा।।

जिस प्रकार कोई लुक छिपकर विष पी लेता है, क्या वह विष से नहीं मरेगा? अवश्य मरेगा। उसी प्रकार जो छिपकर पाप करता है तो क्या वह पाप उसके लिये घातक नहीं होगा? अवश्य होगा।

-सूत्रकृतांग, निर्युक्ति गाथा 52

सकम्मुणा विप्परियासमुवेइ।

प्रत्येक प्राणी अपने ही कृत कर्मों से दु:ख पाता है।

-सूत्रकृतांग 1.7.11

तुट्टंति पावकम्माणि, नवं कम्ममकुव्वओ।।

जो नये कर्म नहीं करता है अर्थात् संवर करता है उसके पूर्वबद्ध पाप कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। -सूत्रकृतांग 1.15.5

कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं।।

कर्म सदा कर्त्ता का ही अनुगमन करते हैं अर्थात् कर्म का बंध कर्त्ता के भावों के अनुसार ही होता है।

अणुमित्तो वि न कस्सई, बंधो परवत्थुपच्चओ भणिओ।

पर (बाह्य) वस्तु के आधार पर किसी को अणुमात्र भी कर्म बंध नहीं होता है, (कर्म बंध अपनी भावना के आधार पर ही होता है)।

-ओघनिर्युक्ति, 57

तुल्लम्मि अवराधे परिणामवसेण होति नाणत्तं।।

बाहर से समान अपराध होने पर भी अंतर के परिणामों की तीव्रता-मंदता के कारण दोषों की न्यूनाधिकता होती है।

-बृहत्कल्पभाष्य 4974

एएसिं तु विवच्चासे, रागदोस-समज्जियं।
खवेइ उ जहा भिक्खू, तमेगग्गमणो सुण।।

इनके (ऊपर बतलाए हुए) विपरीत होने पर राग-द्वेष से संचित किये कर्मों को जिस प्रकार साधु क्षय कर देता है उस विधि को एकाग्रचित्त होकर सुनो। -उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 30, गाथा 4

जहा महातलायस्स, सण्णिरुद्धे जलागमे।
उस्सिंचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे।।
एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मणिरासवे।
भवकोडीसंचियं कम्मं, तवसा णिज्जरिज्जइ।।

जिस प्रकार किसी बड़े तालाब के जल आने के मार्गों को रोककर उस तालाब का पानी बाहर निकालने से तथा सूर्य के ताप द्वारा वह तालाब धीरे-धीरे सूख जाता है, उसी प्रकार संयमी साधुओं के भी नवीन पापकर्मों को रोक देने पर करोड़ों भवों के संचित कर्म तप द्वारा क्षय हो जाते हैं। इन सब गाथाओं में अनास्रव में पाप कर्मों के आस्रव के निरोध को ही ग्रहण किया गया है। -उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 30, गाथा 5-6

ऊपर उत्तराध्ययन सूत्र के तीसवें अध्ययन की कतिपय गाथाएँ दी गई हैं। इस अध्ययन की प्रथम गाथा में तप से राग-द्वेष से उत्पन्न पाप कर्मों का क्षय होता है, यह स्पष्ट शब्दों में कहा गया है। यह नहीं कहा गया कि सब कर्म क्षय होते हैं या पुण्य कर्म क्षय होते हैं। आगे गाथा 6 में पाप कर्मों के आस्रव का ही निषेध किया है तथा दूसरी गाथा में हिंसा, झूठ, चोरी,

मैथुन, परिग्रह और रात्रि भोजन इन पापों से निवृत्त होने को ही अनास्रव कहा है। यहाँ भी अनास्रव के लिए पुण्य का निषेध नहीं किया है। गाथा तीन में भी पाँच समिति (सद्प्रवृत्ति) तीन गुप्ति, अकषाय, जितेन्द्रियता आदि से अनास्रव होना कहा है, जबकि इन सबसे पुण्य का उपार्जन होता है। अकषाय से अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ के त्याग से क्रमशः सातावेदनीय, उच्चगोत्र, शुभ नामकर्म और शुभ आयु कर्म इन चारों कर्मों का अर्थात् पुण्य कर्मों का उपार्जन होता है, ऐसा भगवती सूत्र शतक ८ उद्देशक ९ में कहा है। तात्पर्य यह है कि जैनागमों में पाप को त्याज्य कहा गया है पुण्य को नहीं।

❑❑❑

(4)

पुण्य-पाप तत्त्व और पुण्य-पाप कर्म में अंतर

कुंदकुंदाचार्य ने कहा है-

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं ति हवदि जीवस्स।
शुभ परिणाम पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है।

-पंचास्तिकाय, 132

'पुण्य-पाप तत्त्व' शुभ-अशुभ परिणामों (भावों) से संबंध रखता है न कि पुण्य-पाप कर्म-प्रकृतियों के बंध से, क्योंकि पुण्य-पाप कर्म प्रकृतियाँ बंध तत्त्व से संबंधित हैं। जैसाकि आचार्य पूज्यपाद ने तत्त्वार्थ सूत्र, 6.3 की सर्वार्थ सिद्धि टीका में कहा है-

कः शुभो योगः को वाऽशुभः? प्राणातिपातादत्तादानमैथुनादिरशुभ-काययोगः। अनृतभाषणपरुषासभ्यवचनादिरशुभो वाग्योगः। वधचिन्तनेर्ष्या-सूयादिरशुभो मनोयोगः ततो विपरीतः शुभः। कथं योगस्य शुभाशुभत्वम्। शुभ परिणामनिर्वृत्तो योगः शुभः। अशुभपरिणामनिर्वृत्तश्चाशुभः। न पुनः शुभाशुभ-कर्मकारणत्वेन। यद्येवमुच्यते शुभयोग एव न स्यात् शुभयोगस्यापि ज्ञानावरणा-दिबंधहेतुत्वाभ्युपगमात्। पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्।। तत्सद्वेद्यादि। पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम्। तदसद्वेद्यादि।

शंका-शुभ योग क्या है और अशुभ योग क्या है?

समाधान-हिंसा, चोरी और मैथुन आदि अशुभ काययोग है। असत्य वचन, कठोर वचन और असभ्य वचन आदि अशुभ वचनयोग है। मारने का विचार, ईर्ष्या और डाह आदि अशुभ मनोयोग है तथा इनसे विपरीत शुभकाययोग, शुभ वचनयोग और शुभ मनोयोग है।

शंका-योग के शुभ और अशुभ ये भेद किस कारण से हैं?

समाधान-जो योग शुभ परिणामों के निमित्त से होता है वह शुभ योग है और जो योग अशुभ परिणामों के निमित्त से होता है वह अशुभ योग है। शायद कोई यह माने कि शुभ और अशुभ कर्म का कारण होने से योग शुभ और अशुभ होता है सो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यदि इस प्रकार इनका लक्षण कहा जाता है तो शुभयोग हो ही नहीं सकता, क्योंकि शुभयोग के समय भी शेष रहे कषाय के उदय से ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का बंध होता है। इसलिए शुभ और अशुभ योग का जो लक्षण यहाँ पर किया है वह सही है। जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होती है, वह शुभ है, पुण्य है। जैसे सातावेदनीय आदि तथा जो आत्मा को शुभ से बचाता है वह पाप है, जैसे असातावेदनीय आदि।

यहाँ विचारणीय यह है कि जिससे पाप प्रकृतियाँ बँधे उसे अशुभयोग माना जाय तो ज्ञानावरणीय, उपघात आदि बीसों ध्रुव बँधने वाली पाप प्रकृतियाँ सदैव बँधती रहती हैं। अतः दसवें गुणस्थान तक सदैव अशुभ योग ही मानना होगा, कभी शुभ योग हो ही नहीं सकेगा। इसी प्रकार तैजस-कार्मण शरीर, अगुरुलघु आदि पुण्य प्रकृतियाँ भी सदवै बँधती रहती हैं। अतः दसवें गुणस्थान तक शुभ योग मानना ही पड़ेगा। कभी अशुभ योग हो ही नहीं सकेगा। इस प्रकार शुभ योग और अशुभ योग दोनों को सदैव एक साथ मानना पड़ेगा या फिर दोनों का सदैव अभाव मानना

पड़ेगा, सो ऐसा उपयुक्त नहीं है। एक समय में शुभ योग या अशुभ योग में से एक ही योग माना गया है और योग का अभाव भी नहीं माना गया है। अतः शुभ योग रूप पुण्यास्रव और अशुभ योग रूप पापास्रव का संबंध क्रमशः शुभ परिणाम (भाव) और अशुभ परिणाम (भाव) से है। पुण्य-पाप की प्रकृतियों के बंध से नहीं है तथा शुभ परिणाम पुण्य तत्त्व है और अशुभ परिणाम पाप तत्त्व है। अतः पुण्य-पाप तत्त्व का संबंध पुण्य-पाप की प्रकृतियों के बंध से नहीं है। इस प्रकार पुण्य तत्त्व रूप शुभ परिणाम वही है जिससे रागादि दोषों में कमी हो अर्थात् आत्मा पवित्र हो, आत्म-विशुद्धि हो तथा पाप तत्त्व रूप अशुभ परिणाम वही है जिससे दोषों में वृद्धि हो अर्थात् आत्मा का पतन हो।

❑❑❑

(5)

पाप-पुण्य का आधार : संक्लेश-विशुद्धि

पुण्य-पाप तत्त्व का संबंध संक्लेश-विशुद्धि भावों से है। इसी विषय पर यहाँ विचार किया जा रहा है।

शुभः पुण्यस्य। अशुभः पापस्य।।

अर्थ-शुभ योग पुण्य का आस्रव है और अशुभ योग पाप का आस्रव है। इन सूत्रों की टीका करते हुए पं. श्री सुखलाल जी संघवी लिखते हैं- ''काययोग आदि तीनों योग शुभ भी हैं और अशुभ भी। योगों के शुभत्व और अशुभत्व का आधार भावना की शुभाशुभता है। शुभ उद्देश्य से प्रवृत्त योग शुभ और अशुभ उद्देश्य से प्रवृत्त योग अशुभ है। कार्य-कर्मबन्ध की शुभाशुभता पर योग की शुभाशुभता अवलंबित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से सभी योग अशुभ ही हो जायेंगे, कोई योग शुभ नहीं रह जायेगा, जबकि शुभ योग में भी आठवें आदि गुणस्थानों में अशुभ ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के बंध का कारण होता है।'' -तत्त्वार्थसूत्र 6.3-4

''शुभ योग का कार्य पुण्य-प्रकृति का बंध और अशुभ योग का कार्य पाप प्रकृति का बंध है। प्रस्तुत सूत्रों का यह विधान आपेक्षिक है, क्योंकि संक्लेश (कषाय) की मंदता के समय होने वाला योग शुभ और

संक्लेश की तीव्रता से होने वाला योग अशुभ है। जैसे अशुभ योग के समय प्रथम आदि गुणस्थानों में ज्ञानावरणीय आदि सभी पुण्य-पाप प्रकृतियों का यथासंभव बंध होता है वैसे ही छठे आदि गुणस्थानों में शुभयोग के समय भी पुण्य-पाप प्रकृतियों का यथासंभव बंध होता है। फिर शुभ योग का पुण्य बंध के कारण रूप में और अशुभ योग का पाप बंध के कारण रूप में अलग-अलग विधान कैसे संगत हो सकता है? इसलिए प्रस्तुत विधान मुख्यतया अनुभाग बंध की अपेक्षा से है। शुभ योग की तीव्रता के समय पुण्य-प्रकृतियों का अनुभाग बंध (रस) की मात्रा अधिक और पाप प्रकृतियों के अनुभाग की मात्रा अल्प निष्पन्न होती है। इससे उल्टे अशुभ योग की तीव्रता के समय पाप-प्रकृतियों का अनुभाग अधिक और पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग बंध अल्प होता है। इसमें जो शुभयोगजन्य पुण्यानुभाग की अधिक मात्रा तथा अशुभयोगजन्य पापानुभाग की अधिक मात्रा है, उसे प्रधान मानकर सूत्रों में अनुक्रम से शुभ योग को पुण्य का और अशुभ योग को पाप का कारण कहा गया है। शुभयोग जन्य पापानुभाग की अल्पमात्रा और अशुभयोग जन्य पुण्यानुभाग की अल्प मात्रा विवक्षित नहीं है। क्योंकि लोक की भाँति शास्त्र में भी प्रधानतापूर्वक विचारणीय व्यवहार का विधान प्रसिद्ध है।''

पं. श्री सुखलाल जी संघवी ने तत्त्वार्थसूत्र अध्ययन 6 सूत्र 4 की टीका में कहा है-''पुण्य-पाप दोनों द्रव्य और भाव रूप से दो-दो प्रकार के हैं। शुभ कर्म पुद्गल द्रव्य-पुण्य और अशुभ कर्म पुद्गल द्रव्य पाप है। इसलिए द्रव्य पुण्य तथा पाप बंध-तत्त्व में अंतर्भूत है, क्योंकि आत्म-सम्बद्ध कर्म पुद्गल या आत्मा और कर्म पुद्गल का सम्बन्ध विशेष ही द्रव्यबंध है। द्रव्य पुण्य का कारण शुभ अध्यवसाय जो भाव पुण्य है और द्रव्य पाप का

कारण अशुभ अध्यवसाय है जो भाव पाप है-ये दोनों ही बन्ध तत्त्व में अन्तर्भूत है क्योंकि बंध का कारणभूत काषायिक अध्यवसाय (परिणाम) ही भाव बंध है।''

पंडितजी ने उपर्युक्त विवेचन में संक्लेश की मन्दता को पुण्य के आस्रव का और तीव्रता को पाप के आस्रव का हेतु कहा है। कर्म-सिद्धान्त में कषाय की मंदता को विशुद्धि और कषाय की वृद्धि को संक्लेश कहा है। यह संक्लेश-विशुद्धि दसवें गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में, प्रत्येक लेश्या में, प्रत्येक असंयम-संयम (चारित्र) आदि सब अवस्थाओं में संभव है, जैसा कि भगवतीसूत्र के शतक 25 उद्देश्यक 7 में कहा है-

कंइणं भंते! सुहुमसंपराया पण्णत्ता? गोयमा! दुविहे पण्णत्ते-तंजहा-संकिलिस्समाणए य विसुद्धमाणए य। अर्थ-प्रश्न-हे भगवन्! सूक्ष्म संपराय संयत कितने प्रकार के होते हैं? **उत्तर**-हे गोतम! दो प्रकार के होते हैं, यथा-संक्लिश्यमानक और विशुद्ध्य-मानक। क्योंकि ये हीयमान और वर्द्धमान परिणाम वाले होते हैं। इससे स्पष्ट है कि संक्लेश शब्द हीयमान परिणामों का, कषाय वृद्धि का सूचक है और विशुद्धि शब्द वर्द्धमान परिणामों का, कषाय की मंदता का सूचक है। नवें गुणस्थान से चढ़ते समय दसवें गुणस्थान में जाना विशुद्ध्यमान कहलाता है और ग्यारहवें गुणस्थान से गिरते समय दसवें गुणस्थान में आना संक्लिश्यमान कहलाता है।

कर्मों का शुभत्व-अशुभत्व उनके शुभ-अशुभ फल पर अवलंबित है। शुभ फल देने वाले कर्म पुण्य कर्म कहे जाते हैं और अशुभ फल देने वाले कर्म-अशुभ (पाप कर्म) कहे जाते हैं। कर्म का फल कर्म-प्रकृति के अनुभाव (अनुभाग) पर अवलंबित होता है। अत: कर्म के अनुभाव पर ही पाप-पुण्य कर्म का निर्धारण होता है-जैसा कि ऊपर पं. सुखलाल जी संघवी ने कहा है तथा इसी का प्रतिपादन तत्त्वार्थ सूत्र अध्ययन 6 के सूत्र

3-4 की राजवार्तिक टीका में यह कहकर किया है कि पुण्य-पाप का संबंध अनुभाग से है। स्थिति बंध से नहीं है। शुभ अनुभाग की वृद्धि कषाय में कमी होने से होती है। पुण्य का आस्रव शुद्धोपयोग से और पाप का आस्रव अशुद्धोपयोग से होता है, यही कसायपाहुड की जयधवला टीका पुस्तक 1 में स्पष्ट कहा है यथा-

पुण्णासवभूदा अणकंपा सुद्धओ य उपजोओ।
विवरीओ पावस्स हु, आसवहेउं वियाणाहि।।

अर्थात् अनुकम्पा और शुद्ध उपयोग पुण्यास्रव स्वरूप है या पुण्यास्रव के कारण हैं तथा इनसे विपरीत अर्थात् निर्दयता और अशुद्ध उपयोग ये पापास्रव के कारण हैं। इस प्रकार आस्रव के हेतु कहे गये हैं।

-कसायपाहुड, जयधवला टीका, पुस्तक 1, पृष्ठ 96

तात्पर्य यह है कि पाप-पुण्य का आधार संक्लेश-तथा पुण्य का आधार विशुद्धि है। विशुद्धि से पुण्य का उपार्जन (आस्रव) होता है पुण्य बढता है इसलिए विशुद्धि रूप शुद्धोपयोग को पुण्य का आस्रव कहा गया है तथा संक्लेश से पाप का अर्जन (आस्रव) होता है पाप बढ़ता है, इसलिए संक्लेश रूप अशुद्धोपयोग को पाप का हेतु कहा है। जैसा कि कहा है-

"को संकिलेसो णाम? कोहमाणमायालोहपरिणाम विसेसो। को विसोही णाम? जेसु जीवपरिणामेसु समुप्पण्णेसु कसायाणं हानि होदि।"

अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ के परिणामों में वृद्धि होना संक्लेश है और जीव के जिन परिणामों से कषायों की हानि (कमी) होती है, उसे विशुद्धि कहते हैं। कषाय में कमी होने से आत्मा की विशुद्धि तथा शुद्धि बढ़ती है। अत: इसे विशुद्धि व शुद्धोपयोग कहा जाता है और कषाय में वृद्धि होने से आत्मा में संक्लेश व अशुद्धि बढ़ती है। अत: इसे संक्लेश व अशुद्धोपयोग कहा है। -जय धवला, पुस्तक 4 पृष्ठ 15 एवं 41

ऊपर यह कहा गया है कि पाप-पुण्य संक्लेश-विशुद्धि पर अवलंबित है, अर्थात् कर्मों का शुभाशुभत्व उनके कर्ता के शुभाशुभ भावों पर अवलंबित है। कर्ता के शुभाशुभ भावों का कर्मों के रूप में प्रकटीकरण उन कर्मों के प्रकृति व अनुभाव के रूप में होता है। शुभभावों से पुण्य कर्म प्रकृतियों के अनुभाव की एवं अशुभभाव से पाप प्रकृतियों के अनुभाव की वृद्धि होती है। शुभ (पुण्य) कर्म प्रकृतियों में यह अनुभाव की वृद्धि विशुद्धि से, कषायादि दोषों की कमी से होती है और अशुभ (पाप) कर्म प्रकृतियों में यह अनुभाव की वृद्धि संक्लेश से अर्थात् कषायादि दोषों की वृद्धि से होती है। अतः पाप-पुण्य कर्मों का एवं उनकी न्यूनाधिकता का आधार उनका अनुभाव है, प्रदेश व स्थिति बंध नहीं है क्योंकि कर्मों के प्रदेशों के न्यूनाधिक होने से उनके अनुभाव न्यूनाधिक नहीं होता है और पाप-पुण्य दोनों प्रकार के कर्मों का स्थितिबंध कषाय से होता है। अतः स्थितिबंध पाप कर्मों का अधिक हो अथवा पुण्य कर्मों का, तीन शुभ आयुकर्मों के अतिरिक्त समस्त कर्म प्रकृतियों का अशुभ ही है। इसलिए पुण्य-पाप कर्मों के शुभत्व-अशुभत्व का आधार उनका अनुभाव ही है।

जयधवला टीका के उपर्युक्त उद्धरण में संक्लेश और विशुद्धि की परिभाषा देते हुए कषाय शब्द के पहले समुत्पन्न विशेषण लगाया गया है जो वर्तमान क्षण में उत्पन्न कषाय का अर्थात् उदयमान, विद्यमान कषाय का सूचक है। इसका अभिप्राय यह है कि संक्लेश-विशुद्धि का संबंध वर्तमान में उदयमान-विद्यमान कषाय में वृद्धि व हानि होने से हैं, कम कषाय व अधिक कषाय से नहीं है। यदि कम कषाय को विशुद्धि और अधिक कषाय को संक्लेश माना जाय तो सदैव शुक्ल लेश्या की अवस्था को विशुद्धि और कृष्ण लेश्या की अवस्था को संक्लेश मानना होगा। इस प्रकार दसवें सूक्ष्म संपराय गुणस्थान में शुक्ल लेश्या होने से विशुद्धि ही मानना होगा। संक्लेश नहीं माना जा सकेगा। जिससे भगवती सूत्र के शतक 25

उद्देशक 7 के उपर्युक्त कथन का विरोध हो जायेगा। जो किसी को भी इष्ट नहीं होगा। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि संक्लेश-विुशद्धि का, पाप-पुण्य तत्त्व का संबंध कषाय में हानि-वृद्धि होने से है, कम व अधिक कषाय से नहीं है।

जैसाकि भगवती सूत्र में प्राप्त निम्न वर्णन से स्पष्ट होता है-

प्रश्न-से णूणं भंते! कण्हलेस्से जाव सुक्कलेस्से भवित्ता नीललेस्सेसु नेरइएसु उववज्जंति?

उत्तर-हंता गोयमा! जाव उववज्जंति।

प्रश्न-से केणट्ठेणं जाव उववज्जंति?

उत्तर-गोयमा! लेस्सट्ठाणेसु संकिलिस्समाणेसु वा विसुज्झ-माणेसु वा नीललेस्सं परिणमइ, नीललेस्सं परिणमित्ता नीललेस्सेसु नेरइएसु उववज्जंति से तेणट्ठेणं गोयमा! जाव उववज्जंति।

-भगवती सूत्र, शतक 13, उद्देशक 1

प्रश्न-हे भगवन्! कृष्णलेशी यावत् शुक्ललेशी होकर जीव नील लेश्या वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है?

उत्तर-हाँ गौतम! यावत् उत्पन्न होता है।

प्रश्न-हे भगवन्! इसका क्या कारण है?

उत्तर-हे गौतम! लेश्या के स्थान संक्लेश को प्राप्त होते हुए और विशुद्धि को प्राप्त होते हुए वह जीव नीलेलेश्या रूप में परिणत होता है और नीललेश्या रूप से परिणत होने के बाद वह नीललेशी नैरयिकों में उत्पन्न होता है। इसलिये हे गौतम! पूर्वोक्त रूप से कहा गया है।

यही वर्णन आगे के सूत्रों में कापोत आदि लेश्याओं के लिए भी किया गया है। वहाँ अशुभ लेश्या की ओर बढ़ने को संक्लेश और शुभ लेश्या की ओर बढ़ने को विशुद्धि कहा गया है।

यदि उदयमान अधिक कषाय को संक्लेश तथा न्यून कषाय को विशुद्धि माना जाय तो कृष्ण लेश्या वाले जीवों के सदैव कषाय का उदय अधिक तथा शुक्ल लेश्या वाले जीवों के कषाय का उदय कम रहता है। अतः कृष्ण लेश्या वाले जीवों के सदैव संक्लेश की विद्यमानता और विशुद्धि का अभाव मानना होगा। विशुद्धि का अभाव होने से उनके पुण्य आस्रव का ही अभाव मानना होगा जो कर्म सिद्धान्त व आगम के विरुद्ध है। इसी प्रकार शुक्ल लेश्या वाले जीवों के सदैव विशुद्धि की ही मौजूदगी (सद्भाव) और संक्लेश का अभाव मानना होगा जो आगम विरुद्ध है। तात्पर्य यह है कि जैनागम में उदयमान कषाय में वृद्धि होने को अर्थात् हीयमान व गिरते परिणामों को संक्लेश, पाप तत्त्व, अशुद्धोपयोग तथा पापास्रव का कारण कहा है तथा उदयमान कषाय में हानि होने को अर्थात् शुद्धता की ओर बढ़ते वर्धमान परिणामों को विशुद्धि, शुद्धोपयोग (पुण्य तत्त्व) तथा पुण्यास्रव का कारण कहा है।

समस्त संसारी जीवों के वीतराग होने के पहले सदैव पुण्य और पाप इन दोनों का आस्रव तथा बंध होता रहता है। अतः सब जीवों के सदैव संक्लेश-विशुद्धि दोनों मानना होगा। परन्तु यहाँ पर सामान्य से होने वाला यह पुण्य-पाप का आस्रव व बंध अपेक्षित व इष्ट नहीं है। प्रत्युत पुण्य-पाप कर्म का आस्रव व अनुभाग जो पहले हो रहा था उसमें वृद्धि होने से है। कषाय में हानि होने रूप परिणामों की विशुद्धि से पुण्यास्रव में तथा बध्यमान एवं सत्ता में स्थित पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग में वृद्धि होती है और पाप प्रकृतियों का पुण्य प्रकृतियों में संक्रमण होने से भी पुण्य प्रकृतियों के प्रदेशों में वृद्धि होती है।

इसी वृद्धि को पुण्य का उपार्जन कहा है और विशुद्धि को इसका हेतु कहा है। इसी प्रकार कषाय में वृद्धि होने रूप संक्लेश परिणामों से

पापास्रव में तथा बध्यमान एवं सत्ता में विद्यमान पाप प्रकृतियों के अनुभाग व स्थिति में वृद्धि होती है और पुण्य प्रकृतियों का पाप प्रकृतियों में संक्रमण होने से भी पाप प्रकृतियों के प्रदेशों में वृद्धि होती है। इस वृद्धि को ही पाप का उपार्जन कहा है और इसी के हेतु को संक्लेश कहा है। जिससे किसी में वृद्धि नहीं हो, उसे उसके उपार्जन का अर्थात् आस्रव का हेतु नहीं कहा जा सकता। जैसा कि कहा है-

विशुद्धि-संक्लेशांगं चेत् स्व-परस्थं सुखासुखम्।
पुण्यपापास्रवो युक्तो न चेद् व्यर्थस्तवार्हतः।।

अर्थात् आचार्य श्री समन्तभद्र का फरमाना है कि सुख-दुःख अपने को हो अथवा दूसरे को हो, वह यदि विशुद्धि का अंग हो तो पुण्यास्रव का और संक्लेश का अंग (रूप) हो तो पापास्रव का हेतु है। यदि वह इन दोनों में से किसी का भी अंग न हो तो व्यर्थ है, निष्फल है।

-देवागमकारिका 95

तिव्वो असुहसुहाणं संकेस-विसोहिओ विवज्जउ मंदरसो।।

अर्थात् अशुभ प्रकृतियों का तीव्र अनुभाग संक्लेश से और शुभ प्रकृतियों का तीव्र अनुभाग विशुद्धि से होता है। इसके विपरीत मंदरस का हेतु है-अर्थात् अशुभ प्रकृतियों के रस में मंदता विशुद्धि से और शुभ प्रकृतियों के रस में मंदता संक्लेश से होती है।

-पंचम कर्म-ग्रंथ गाथा 63

❑❑❑

(६)

कषाय की मंदता पुण्य है, मंद कषाय पाप है

अशुभभाव, अशुभयोग, दुष्प्रवृत्ति, संक्लेश, अशुद्ध उपयोग ये सब प्रायः समानार्थक एवं पाप के पर्यायवाची हैं। कारण कि ये सब कषाय वृद्धि के द्योतक हैं। इनसे आत्मा का पतन होता है और कर्मों का बंध होता है। इसके विपरीत शुभभाव, शुभयोग, सद्प्रवृत्ति, विशुद्धि, शुद्धोपयोग, क्षायोपशमिक भाव ये सब समानार्थक हैं एवं पुण्य के पर्यायवाची हैं। कारण कि ये सब कषाय की कमी के द्योतक हैं। इनसे आत्मा पवित्र होती है और कर्मों का क्षय होता है। कर्मबंध एवं कर्मक्षय होने की प्रक्रिया इस प्रकार है-

कर्म-बंध चार प्रकार का है-1. प्रकृति बंध, 2. स्थिति बंध, 3. अनुभाग बंध और 4. प्रदेश बंध। इन चार प्रकार के बंधनों में प्रदेश बंध का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। कारण कि प्रदेश बंध का उदय व क्षय कम हो या अधिक, इससे कर्म की फलदान शक्ति 'अनुभाग' में कोई अंतर नहीं पड़ता है। अतः मुख्यता अनुभाग एवं स्थिति बंध की है। स्थिति बंध होने से ही कर्म सत्ता (सत्त्व) को प्राप्त होते हैं व टिकते हैं और अपना फल देते हैं। स्थिति बंध के अभाव में कर्म बिना फल दिये ऐसे ही खिर (क्षय) जाते हैं जैसे सूखी बालू रेत को दीवार पर फेंकने से वह रेत दीवार को छूकर खिर

जाती है। स्थितिबंध होने से ही प्रकृति, प्रदेश व अनुभाग भी बंध दशा को प्राप्त होते हैं। अत: चारों प्रकार के बंधनों में स्थिति बंध ही मुख्य बंध है। स्थिति बंध के अभाव में शेष तीन प्रकार के बंधनों में से कोई भी बंध संभव नहीं है। स्थिति का क्षय ही कर्म का क्षय है। अनुभाग घटने-बढ़ने से कर्म-प्रदेशों का क्षय व बंध नहीं होता है। रस (अनुभाव) के घटने-बढ़ने पर कर्म के फल की तीव्रता-मंदता निर्भर करती है। अर्थात् कर्म की फलदान-शक्ति अर्थात् कर्म का फल उसके रस (अनुभाग) पर ही निर्भर करता है। अर्थात् पुण्य-पाप का आधार अनुभाग ही है, स्थिति नहीं, क्योंकि अनुभाग ही शुभ-अशुभ होता है, स्थिति तो समस्त पाप-पुण्य (तीनों शुभ आयु को छोड़कर) प्रकृतियों की अशुभ ही होती है। कारण कि पुण्य प्रकृतियों का स्थितिबंध पाप प्रकृतियों के समान कषाय की वृद्धि से अधिक बँधता है व कषाय की कमी से कम बँधता है। कषाय में कमी होना अच्छी बात है, परंतु कषाय में कमी होने के पश्चात् जो कम कषाय रह जाता है वह औदयिक भाव है, अत: वह कर्मों की स्थिति बंध का कारण है। स्थिति बंध से ही कर्म बँधे (टिके) रहते हैं। स्थिति के क्षय होते ही कर्मक्षय हो जाते हैं। स्थिति का क्षय कषाय के क्षय से होता है। आशय यह है कि कर्मों का क्षय कषाय के क्षय से होता है।

कषाय की मंदता क्या है? कषाय की मंदता व वृद्धि का आधार कषाय की प्रकृति, स्थिति व प्रदेश नहीं हैं, अपितु कषाय का अनुभाव है। कषाय का द्विस्थानिक आदि अनुभावों से बढ़कर त्रिस्थानिक, चतु:स्थानिक होना कषाय की वृद्धि है, संक्लेश है। इसके विपरीत कषाय का चतु:स्थानिक अनुभाव हीन होकर त्रिस्थानिक, त्रिस्थानिक से द्विस्थानिक होना कषाय की मंदता है। कषाय की मंदता में कषाय के अनुभाव या रस अथवा फलदान शक्ति का ह्रास होता है, जिससे पाप कर्मों की स्थिति व

अनुभाव का क्षय होता है। अतः यह क्षायोपशमिक भाव का सूचक है। इसके विपरीत कषाय की मंदता होने पर भी शेष रहा कषाय का जो द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक अनुभाव उदय में आ रहा है वह औदयिक भाव है। यह औदयिक भाव ही कर्मबंध (स्थितिबंध) का हेतु है। क्षायोपशमिक (कषाय की मंदता) भाव कर्मक्षय का हेतु होने से शुभभाव है, शुद्धोपयोग है, विशुद्धिभाव है, पुण्य है, निर्जरा है, जबकि कषाय का औदयिक भाव अशुभ भाव है, अशुद्धोपयोग है, पाप है।

जिसका फल शुभ मिले वह शुभ कर्म है। जिसका फल अशुभ मिले वह अशुभ कर्म है। कर्म का फल उसके अनुभाव से ही मिलता है। फलदान शक्ति अनुभाव है, स्थिति व प्रदेश नहीं है। प्रदेश घटने-बढ़ने से अनुभाव व रस घटता-बढ़ता नहीं है। जैसे मिश्री को तोड़ देने से, काट देने से उसके रस (स्वाद) में कोई कमी नहीं होती, यह तथ्य कर्म के अनुभाव पर भी घटित होता है।

कषाय के क्षय से पाप प्रकृतियों की प्रकृति, स्थिति, अनुभाग आदि का क्षय होता है तथा पुण्य प्रकृतियों के स्थिति बंध का भी क्षय होता है, परंतु पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग में वृद्धि होती है। अतः पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग का हेतु कषाय का क्षय है कषाय का उदय नहीं, अर्थात् क्षायोपशमिक, औपशमिक एवं क्षायिक भाव है, औदयिक भाव नहीं है। प्रत्युत औदयिक भावों में कमी है। क्षायोपशमिक आदि भावों से मोक्ष होता है, बंध नहीं होता है। अतः पुण्य व पुण्य का अनुभाग मोक्ष-प्राप्ति का सूचक है। कषाय की क्षीणता, मंदता एवं कमी को ही विशुद्धि, शुभभाव, शुभयोग, क्षायोपशमिक भाव या पुण्य कहा जाता है। अतः 'पुण्य' कर्म क्षय का, मोक्ष का हेतु है।

सारांश यह है कि कषाय में कमी होना क्षायोपशमिक तथा क्षायिक भाव है और कम कषाय या मंद कषाय औदयिक भाव है, जो कर्मबंध का हेतु है। अतः कषाय में कमी होना या कषाय की मंदता शुभ है और कम कषाय या मंद कषाय अशुभ है। शुभ भाव, कषाय की मंदता पुण्य कर्म के प्रकृति, प्रदेश एवं अनुभाग के आस्रव में हेतु है तथा पुण्य के बंध (स्थिति-बंध) के क्षय में भी हेतु है एवं पाप प्रकृतियों के प्रकृति, प्रदेश व अनुभाग के आस्रव के निरोध एवं पापकर्म के चारों प्रकार के बंध के क्षय का हेतु है और मंद कषाय पाप का, पापास्रव का उपार्जन करने वाला एवं पापकर्म के चारों प्रकार के बंध का हेतु है।

कषाय की मंदता और मंद कषाय में उतना ही अंतर है जितना रोग की कमी और कम रोग में अंतर है। रोग की कमी अच्छी बात है, शुभ है, परंतु रोग कम हो या अधिक रोग का होना तो बुरा ही है।

❑❑❑

(7)

कर्म-सिद्धांत और पुण्य-पाप

जैन दर्शन में प्रतिपादित तत्त्व ज्ञान और कर्म-सिद्धांत विश्व में अद्वितीय है। तत्त्वज्ञान में प्राणी के लिए हेय-उपादेय का वर्णन है और कर्म-सिद्धांत में प्राणी के जीवन से संबंधित समस्त स्थितियों का विवेचन है। यहाँ कर्म-सिद्धांत के परिप्रेक्ष्य में 'पुण्य-पाप' पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

कर्म-सिद्धांत

जैन दर्शन में ज्ञानावरण आदि आठ मूल कर्म कहे गये हैं और इन आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ 148 कही गई हैं। इन्हीं 148 प्रकृतियों को अभेद विवक्षा से बंध योग्य 120 प्रकृतियों में समाहित किया गया है- कर्मबंध चार प्रकार का है-1. प्रकृति बंध, 2. स्थिति बंध, 3. अनुभाग बंध और 4. प्रदेश बंध।

प्रकृति बंध-कर्मों के भिन्न-भिन्न स्वभाव के उत्पन्न होने को प्रकृति बंध कहते हैं। प्रकृति बंध की अपेक्षा पुण्य-पाप की प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं-

सुरनरतिगुच्च सायं तसदस तणुवंगवइरचउरंसं।
परघासग तिरिआऊ वन्नचउ पणिंदि सुभखगइ।।15।।
बायालपुन्नपगई अपढम-संठाण-खगइ-संघयणा।
तिरियदुग असायनीयोवघाय इगविगल निरयतिगं।।16।।

थावरदस वन्नचउक्क घाइपणयालसहिय बासीई।
पावपयडित्ति दोसुवि, वन्नाइगहा सुहा-असुहा।।17।।

अर्थ-सुरत्रिक (देवगति, देवानुपूर्वी, देवायु) मनुष्यत्रिक (मनुष्य गति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु), उच्च गोत्र, सातावेदनीय, त्रसदशक (त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशकीर्ति) औदारिक-वैक्रिय-आहारक-तैजस-कार्मण शरीर, अंगोपांगत्रिक (औदारिक अंगोपांग, वैक्रिय अंगोपांग, आहारक अंगोपांग), वज्रऋषभनाराच-संहनन, समचतुरस्रसंस्थान, पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थङ्कर, निर्माण। तिर्यंच आयु, शुभ वर्णचतुष्क (वर्ण, गंध, रस, स्पर्श) पंचेन्द्रिय जाति और शुभ विहायोगति, ये पुण्य की 42 कर्म प्रकृतियाँ हैं। -पंचम कर्मग्रन्थ

-पंचसंग्रह 3/21, 22, गोम्मटसार कर्म काण्ड गाथा 41, 42, 43

पहले संस्थान व संहनन को छोड़कर 5 संस्थान तथा 5 संहनन, अशुभ विहायोगति, तिर्यंचगति, तिर्यञ्चानुपूर्वी, असातावेदनीय, नीचगोत्र, उपघात, एकेन्द्रिय, विकलत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) नरकत्रिक (नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु), स्थावर दशक (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु:स्वर, अनादेय, अयश:कीर्ति) अशुभ वर्णचतुष्क (अशुभ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श) घाती कर्मों की 45 प्रकृतियाँ (ज्ञानावरण 5, दर्शनावरण 9, मोहनीय 26, अंतराय 5) ये 82 पाप की प्रकृतियाँ हैं।

स्थितिबंध-जीव के साथ कर्मों के रहने की मर्यादा को स्थितिबंध कहते हैं। पुण्य-पाप कर्मों का स्थिति बंध इस प्रकार हैं-

सव्वाण वि जिट्ठठिई असुभा जं साइसंकिलेसेणं।
इयरा विसोहिओ पुण मुत्तुं नरअमरतिरियाउं।।

-पंचमकर्म ग्रन्थ, 52

सव्वदिट्ठीणमुक्कस्सओ दुउक्कस्स संकिलेसेण।
विवरीदेण जहण्णो आउगतियवज्जियाणंतु।।

-गोम्मटसार कर्मकाण्ड, 134

अर्थ-मनुष्य, देव और तिर्यंच आयु को छोड़कर शेष सभी प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति अति संक्लेश परिणामों में बँधने के कारण अशुभ है। इनकी जघन्य स्थिति का बंध विशुद्धि द्वारा होता है। तीन आयु का उत्कृष्ट स्थिति बंध विशुद्धि परिणामों से और जघन्य स्थिति बंध संक्लेश परिणामों से होता है।

अनुभाग बंध-कर्म की फलदान शक्ति को अनुभाग कहते हैं। उत्कृष्ट और जघन्य अनुभाग के संबंध में कहा है-

बादालं तु पसत्था विसोहिगुणमुकडस्स तिव्वाओ।
बासीदि अप्पसत्था मिच्छुक्कडसंकिलिइट्ठस्स।।

-गोम्मटसार कर्मकाण्ड, 164

तिव्वो असुहसुहाणं संकेसविसोहिओ विवज्जयउ। मंदरसो.....

-पंचम कर्मग्रन्थ, 63

अर्थात् 42 पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग उत्कृष्ट विशुद्धि गुण वाले जीवों के होता है और 82 पाप प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि जीवों के होता है। आतप, उद्योत, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु इन चार पुण्य प्रकृतियों के अतिरिक्त शेष 38 पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध सम्यग्दृष्टि जीवों के ही होता है, मिथ्यात्वी जीवों के नहीं। इन 38 प्रकृतियों में से देवायु का

अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती के, मनुष्य गति, मनुष्यानुपूर्वी, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, वज्रऋषभनाराच संहनन इन 6 प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करते हुए अनिवृत्तिकरण के अंतिम समय में सम्यग्दृष्टि रहने वाले जीव के ही होता है। शेष 32 पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध चारित्र की क्षपक श्रेणी करने वाले साधक के केवलज्ञान, केवलदर्शन उत्पन्न होने के अंतर्मुहूर्त्त पूर्व ही होता है। यथा-

विउव्विसुराहारदुगं सुखगइ वन्नचउ तेयजिणसायं।
समचउपरघातसदस पणिंदिसासुच्च खवगाउ।।

-पंचम कर्मग्रन्थ 67

अर्थ-वैक्रियद्विक, देवद्विक, आहारक द्विक, शुभ विहायोगति, वर्णचतुष्क, तेजसचतुष्क, तीर्थङ्कर नामकर्म, सातावेदनीय, समचतुरस्र संस्थान, पराघात, त्रस दशक, पंचेन्द्रिय जाति, उच्छ्वास नाम और उच्च गोत्र का उत्कृष्ट अनुभागबंध क्षपक श्रेणी करने वाले ही करते हैं।

इन 32 पुण्य प्रकृतियों का यह उत्कृष्ट अनुभाग बंध उसी भव में मुक्ति प्राप्त करने वाले जीव ही करते हैं। उनका यह अनुभागबंध मुक्ति-प्राप्ति के अंतिम क्षण तक (दो समय पूर्व तक) उत्कृष्ट ही रहता है, जैसाकि कहा है-

सुहाणं पयडीणं विसोहिदो केवलिसमुग्घाएण जोगनिरोहेण वा अनुभागघाओ नत्थि ति जाणवेइ। खीणकसायसंजोगीसुट्ठिदि अणुभागवज्जिदे सुहाणं पयडीणमुकस्साणुभागो होदि नत्थि अत्थावतिसिद्धं।

अर्थात् शुभ प्रकृतियों के अनुभाग का घात विशुद्धि, केवलि-समुद्घात अथवा योग-निरोध से नहीं होता। क्षीण कषाय और सयोगी केवली गुणस्थान में स्थिति घात व अनुभाग घात के होने पर भी शुभ

प्रकृतियों का अनुभाग घात वहाँ नहीं होता है, यह सिद्ध होने पर स्थिति व अनुभाग से रहित आयोगी केवली गुणस्थान में शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग यथावत् बना रहता है। यह अर्थापत्ति से सिद्ध होता है। अभिप्राय यह है कि पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग क्षायिक चारित्र, वीतरागता, केवलज्ञान, केवलदर्शन की उत्पत्ति में बाधक नहीं है, अपितु आवश्यक है।

-धवला पुस्तक 12 पृष्ठ 14

यह नियम है कि जब तक पुण्य कर्म प्रकृतियों का द्विस्थानिक अनुभाग बढ़कर चतु:स्थानिक नहीं होता है तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता है और यह चतु:स्थानिक अनुभाग बढ़कर उत्कृष्ट नहीं होता है तब तक केवलज्ञान नहीं होता है। इसके विपरीत पापकर्म की प्रकृतियों का चतु:स्थानिक अनुभाग घटकर द्विस्थानिक नहीं होता है तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता है और घाती पाप प्रकृतियों का पूर्ण क्षय नहीं होता है तब तक केवलज्ञान नहीं होता है। इससे स्पष्ट होता है कि सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान में पाप ही बाधक है, पुण्य बाधक नहीं है, पुण्य और पाप प्रकृतियों के अनुभाग (रस) के विषय में कहा-

गुडखंडसक्करामियसरिसा सत्था हु णिंबकजीरा।
विसहलाहल सरिसाऽसत्था हु अघादिपडिभागा।।

अघाती कर्मों में प्रशस्त प्रकृतियों का रस गुड़, खाण्ड, मिश्री और अमृत के समान होता है और अप्रशस्त प्रकृतियों का रस नीम, कांजीरा, विष, हलाहल के समान होता है। यह कथन इन प्रकृतियों के एक-स्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक एवं चतु:स्थानिक स्पर्द्धकों की तरतमता का सूचक है अर्थात् पुण्य-प्रकृतियों का अनुभाग बढ़कर चतु:स्थानिक व उत्कृष्ट हो जाता है। वह अमरत्व (देवत्व, अविनाशीपन) का सूचक होता

है। इसके विपरीत पाप प्रकृतियों का अनुभाग उत्कृष्ट होता है तो हलाहल विष का कार्य करता है। अभिप्राय यह है कि पुण्य का अनुभाग जीव के लिए शुभफलदायक व अत्यन्त हितकारी है और पाप का अनुभाग अशुभफलदायक व अत्यन्त अहितकारी है। -गोम्मटसार कर्मकाण्ड, 184

प्रदेशबंध-जीव के साथ कर्म परमाणुओं के स्कंधों का संबंध होने को प्रदेशबंध कहते हैं। कर्मों का प्रदेश बंध योगों से होता है। यथा-

अप्पयरपयडिबंधी उक्कडजोगी व सन्निपज्जतो।
कुणइ पएसुक्कोसं जहन्नयं, तस्स वच्चासे।।

-पंचम कर्मग्रन्थ, 89

उक्कड-जोगो सण्णी, पज्जतो पयडिबंधमप्पदरो।
कुणदि पदेसुक्कस्सं, जहण्णये जाण विवरीयं।।

-गोम्मटसार कर्मकांड, 210

अर्थ-अल्पतर प्रकृतियों का बंध करने वाला, उत्कृष्ट योगधारक और पर्याप्त संज्ञी जीव उत्कृष्ट प्रदेश बंध करता है तथा इसके विपरीत अर्थात् बहुत प्रकृतियों का बंध करने वाला, जघन्य योगधारक, अपर्याप्त जीव जघन्य प्रदेश बंध करता है।

प्रदेश बंध मुख्यत: योगों से होता है। इस बंध में संक्लेश-विशुद्धि का विशेष स्थान नहीं है और किसी भी पुण्य व पाप कर्म की प्रकृतियों के प्रदेश बंध के न्यूनाधिक होने का इनके अनुभाव पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। जैसे कोई मधुर या कटु वस्तु बड़ी हो या छोटी हो, इससे इसके रस या स्वाद में कोई अंतर नहीं होता है। इसी प्रकार पुण्य-पाप की किसी प्रकृति के प्रदेश कितने ही कम हों या अधिक हों, इससे उसके फल पर कुछ भी

प्रभाव नहीं पड़ता है। इससे यह फलित होता है कि मन, वचन, काया के योग अर्थात् इनकी प्रवृत्ति कितनी ही न्यून व अधिक हो इससे प्रदेशों का न्यूनाधिक बंध तो होता है, परंतु उस बंध से जीव को हानि-लाभ नहीं होता है। जीव का हित-अहित नहीं होता है। जीव का हित-अहित का संबंध अनुभाग से है और अनुभाग बंध का संबंध कषाय की मंदता-वृद्धि से है, कहा भी है-

परमाणूणं बहुत्तमप्पत्तं वां अणुभागवइद्धि हाणीणं ण कारणमिदि।

अर्थात् कर्म परमाणुओं का बहुत्व या अल्पत्व अनुभाग की वृद्धि और हानि का कारण नहीं है।

-कसाय पाहुड, -जयधवला टीका पुस्तक 5, पृष्ठ 339

उदय-कर्मों का फल भोगना उदय है। मुक्ति प्राप्त करने वाले केवलज्ञानी जीवों के 13वें गुणस्थान में 42 एवं 14वें गुणस्थान में 12 प्रकृतियों का उदय रहता है, यथा-

तदियेक्कवज्जिणिमिणं थिरसुहसरगदिउरालतेऊदुगं।
संठाणं वण्णगुरुचउक्क पत्तेय जोगिम्हि।।
तदियेक्कं मणुवगदी पंचिंदिय सुभगतसतिगादेज्जं।
जसत्थिं मणुवाउ उच्चं च अजोगिचरिमम्हि।।

अर्थात् तेरहवें सयोगी केवली गुणस्थान में 42 प्रकृतियों का उदय रहता है। इनमें से 30 प्रकृतियों का इस गुणस्थान के अंतिम समय में उदय विच्छेद हो जाता है और शेष 12 प्रकृतियों का उदय चौदहवें गुणस्थान के अंतिम समय तक रहता है। 30 प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं-वेदनीय कर्म की साता-असाता में से कोई एक, वज्रऋषभनाराच संहनन, निर्माण, स्थिर, शुभ, सुस्वर, विहायोगति, औदारिक और तैजस इन 6 का जोड़ा (स्थिर,

अस्थिर, शुभ-अशुभ आदि) समचतुरस्रसंस्थान आदि 6 संस्थान, वर्णादि चार, अगुरुलघु आदि चार और प्रत्येक शरीर, साता-असाता में से कोई एक प्रकृति, मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति, सुभग, त्रसादि तीन, आदेय, यश:कीर्ति, तीर्थङ्कर, मनुष्यायु एवं उच्चगोत्र ये 12 प्रकृतियाँ उदय योग्य हैं।

-गोम्मटसार कर्मकांड, 271-272

उदीरणा-जो कर्म प्रकृतियाँ उदयकाल से बाहर हैं, उन्हें उदय में ले आना उदीरणा है। 'उदय-उदीरणा' कर्मग्रन्थ भाग 2 गाथा 23 के अनुसार सब गुणस्थानों में उदय के समान ही उदीरणा की संख्या होती है, परंतु साता वेदनीय, असातावेदनीय और मनुष्यायु इन तीन प्रकृतियों की उदीरणा सातवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक नहीं होती है। चौदहवें गुणस्थान में किसी भी प्रकृति की उदीरणा नहीं होती है।

सत्ता-कर्मों का आत्म-प्रदेशों के साथ स्थित रहना सत्ता है। तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में सत्ता इस प्रकार है-

पणसीइ सजोगि अजोगि दुचरिमे देवखगइगंधदुगं।
फासट्ठ वन्नरसतणुबंधणसंघायण-निमिणं।।
संघयण अथिर संठाण-छक्क अगुरुलहु चउअपज्जत्तं।
सायं च असायं वा परित्तुवंगतिग सुसरनियं।।
बिसयरिखओ च चरिमे तेरस मणुयतसतिग जसाइज्जं।
सुभगजिणुच्चं पणिंदिय तेरस सायासाएगयरछेओ।।

गाथार्थ-सयोगी और अयोगी गुणस्थान के द्विचरम समय तक 85 प्रकृतियों की सत्ता रहती है। उसके बाद देवद्विक, विहायोगति द्विक्, गंधद्विक, आठ स्पर्श, वर्ण, रस, शरीर, बंधन और संघातन इन सबकी पाँच-पाँच, निर्माण, संहनन षट्क, अस्थिरषट्क, संस्थानषट्क, अगुरुलघुचतुष्क, अपर्याप्त, साता अथवा असातावेदनीय, प्रत्येकत्रिक,

उपांगत्रिक, सुस्वर और नीच गोत्र इन 72 प्रकृतियों का क्षय चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में होता है। इसके बाद मनुष्यत्रिक, त्रसत्रिक, यश-कीर्ति, आदेय, सुभग, जिननाम, उच्चगोत्र, पंचेन्द्रिय जाति, साता अथवा असाता वेदनीय, इन तेरह प्रकृतियों की सत्ता का क्षय चौदहवें गुणस्थान में अंतिम समय में होने से आत्मा कर्मरहित होकर मुक्त हो जाता है।

-कर्मग्रंथ भाग 2, गाथा 31-33, गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा 340-341

तेरहवें सयोगी केवली गुणस्थान में पूर्वोक्त 42 प्रकृतियों का उदय होता है। इन प्रकृतियों में अघाती कर्मों की पाप व पुण्य दोनों प्रकार की प्रकृतियों का उदय है। इससे यह सिद्ध होता है कि मुक्ति के हेतु वीतरागता की उपलब्धि में अघाती कर्मों की पुण्य-पाप प्रकृतियों का उदय बाधक नहीं है। इसी प्रकार चौदहवें अयोगी केवली गुणस्थान में अघाती कर्मों की 85 प्रकृतियों की सत्ता द्विचरम समय तक रहती है। इन 85 प्रकृतियों में वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की पाप प्रकृतियाँ, असातावेदनीय, नीच गोत्र एवं अनादेय, अयशकीर्ति आदि की सत्ता भी है तथा पुण्य की 42 प्रकृतियों को छोड़कर शेष 38 प्रकृतियों की सत्ता है। जब वेदनीय, नाम, गोत्र कर्मों की पाप प्रकृतियों की सत्ता भी वीतरागता की उपलब्धि व शुक्ल ध्यान में बाधक नहीं है तब पुण्य प्रकृतियों की सत्ता वीतरागता में व शुक्ल ध्यान में बाधक होने की बात तो सोची भी नहीं जा सकती। अतः ''पुण्य कर्म वीतरागता व मुक्ति में बाधक है'' यह मान्यता निराधार है।

उत्कर्षण-अपकर्षण-संक्रमण-

कम्माणं संबंधो बंधो, उक्कट्टणं हवे वड्ढी।
संकमणमणत्थगदी हाणी ओकट्टणं णाम।।

कर्मों का आत्मा के साथ संबंध होना बंध है। सत्ता में स्थित कर्मों

की स्थिति व अनुभाग का बढ़ना उत्कर्षण है एवं स्थिति व अनुभाग का कम होना अपकर्षण है और अन्य प्रकृति रूप परिणमन या रूपान्तरण होना संक्रमण है। -गोम्मटसार कर्मकाण्ड, 438

संक्लेश परिणामों से पाप प्रकृतियों की स्थिति व अनुभाग का उत्कर्षण, पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग का अपकर्षण एवं पुण्य प्रकृतियों का अपनी सजातीय पाप प्रकृतियों में संक्रमण होता है। विशुद्ध परिणामों से पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग का उत्कर्षण, पाप प्रकृतियों की स्थिति व अनुभाग का अपकर्षण एवं पाप प्रकृतियों का अपनी सजातीय पुण्य प्रकृतियों में संक्रमण होता है अर्थात् विशुद्ध भावों से पुण्य कर्मों का उपार्जन होता है, साथ ही सत्ता में स्थित पाप-प्रकृतियों का सजातीय पुण्य-प्रकृतियों में रूपान्तरण होता है जिससे पुण्य कर्मों में अभिवृद्धि होती है।

बंधुक्कट्टणकरणं सगसगबंधोत्ति होदि णियमेण।
संकमणं करणं पुण सगसगजादीण बंधोत्ति।।

अर्थात् बंधकरण और उत्कर्षण करण, ये दोनों अपनी-अपनी प्रकृतियों की बंधव्युच्छित्ति पर्यन्त होते हैं और अपनी-अपनी जाति की प्रकृतियों की जहाँ बंध व्युच्छित्ति होती है वहाँ तक इनका संक्रमण होता है। -गोम्मटसार कर्मकाण्ड, 444

ऊपर कर्मों के बंध, उदय, उदीरणा व सत्ता, उत्कर्षण, अपकर्षण, अपवर्तन एवं संक्रमण के परिप्रेक्ष्य में पुण्य-पाप का विवेचन किया गया है। उसी पर यहाँ घाती-अघाती कर्म प्रकृतियों की दृष्टि से विचार किया जा रहा है। आत्मा के विकास व ह्रास का आधार आत्मा के गुणों का विकास एवं ह्रास है। जिन कर्म-प्रकृतियों से आत्मा के गुणों का ह्रास (हानि) हो, उन्हें घातीकर्म कहा गया है और जिन कर्मप्रकृतियों से आत्मा के गुणों का

अंशमात्र भी घात नहीं हो, उन्हें अघाती कर्म कहा गया है। घाती कर्म ही आत्मा के गुणों के घातक हैं। अत: साधक के लिए इनका ही क्षय करना आवश्यक है। अघाती कर्म प्रकृतियों की सत्ता का पूर्ण क्षय क्षपक श्रेणी, वीतरागता एवं केवली समुद्घात से भी नहीं होता है।

ज्ञानावरण की 5, दर्शनावरण की 9, मोहनीय की 28 एवं अंतराय कर्म की 5 ये कुल 47 कर्म प्रकृतियाँ घाती हैं। ये ही आत्मा के गुणों का घात करने वाली हैं। अत: ये सब पाप प्रकृतियाँ आत्मा के लिए घोर अहितकारी हैं। शेष वेदनीय की 2, आयुकर्म की 4, नाम कर्म की 67 और गोत्र कर्म की 2 प्रकृतियाँ-इन चार कर्मों की ये कुल 75 प्रकृतियाँ अघाती हैं। इन्हीं 75 प्रकृतियों में सातावेदनीय, तिर्यंच-मनुष्य-देव आयु, उच्च गोत्र तथा नाम कर्म की 37 शुभ प्रकृतियाँ, ये कुल 42 प्रकृतियाँ पुण्य कर्म की हैं, शेष प्रकृतियाँ पाप कर्म की हैं। अघाती कर्म के पुण्य-पाप की किसी भी प्रकृति के बंध, उदय व सत्ता से जीव के किसी भी गुण का घात नहीं होता है। अत: ये साधना में, आत्म-विकास में व मुक्ति के मार्ग में बाधक नहीं हैं। यही कारण है कि चौदहवें अयोगी गुणस्थान के द्विचरम समय तक चारों अघाती कर्मों की पुण्य-पाप की प्रकृतियों की सत्ता रहने पर भी केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि क्षायिक लब्धियाँ प्रकट होने में बाधा उपस्थित नहीं होती। अपितु मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति, सुभग, आदेय, यश:कीर्ति आदि पुण्य-प्रकृतियों के उदय की अवस्था में ही साधुत्व (महाव्रत) तथा वीतरागता की साधना एवं केवलज्ञान, केवलदर्शन की उत्पत्ति संभव है। तात्पर्य यह है कि पुण्य कर्म-प्रकृतियाँ मुक्ति-प्राप्ति की साधना में बाधक नहीं हैं, अपितु आवश्यक हैं।

कर्म-सिद्धांत का यह नियम है कि वेदनीय, गोत्र व नाम कर्म की सातावेदनीय, उच्चगोत्र, सुभग, आदेय आदि पुण्य प्रकृतियों का अक्षुण्ण व उत्कृष्ट अनुभाग बंध होने से पूर्व इन पुण्य-प्रकृतियों का बंध रुक जाने पर इनकी विरोधिनी असातावेदनीय, नीचगोत्र, दुर्भग, अनादेय आदि पाप प्रकृतियों का आस्रव व बंध अवश्य होता है अर्थात् पुण्य-प्रकृतियों के जीवन पर्यन्त के लिए उत्कृष्ट अनुभाग बंध के स्वामी वीतराग जीवों को छोड़कर शेष जीवों के पुण्य प्रकृतियों का बंध रुक जाने पर उनकी विरोधिनी पाप प्रकृतियों का बंध नियम से होता है। अतः कर्म सिद्धान्तानुसार पुण्य का विरोध व निरोध करना पाप कर्मों का आह्वान करना व आमन्त्रण देना है।

'कर्मसिद्धांत में पुण्य-पाप' विषयक उपर्युक्त निरूपण श्वेताम्बर एवं दिगम्बर कर्म साहित्य में सर्वमान्य है। कर्म-सिद्धांत संबंधी श्वेताम्बर साहित्य कर्मग्रन्थ, पंचसंग्रह, कर्मप्रकृति, भगवती सूत्र, पन्नवणा सूत्र आदि ग्रन्थों में तथा दिगम्बर साहित्य षट्खण्डागम व उसकी धवला-महाधवला टीका, गोम्मटसार, कषायपाहुड व उसकी चूर्णि तथा जयधवला टीका आदि ग्रंथों में कहीं पर भी, कुछ भी मतभेद नहीं है।

❑❑❑

(४)

तत्त्वज्ञान और पुण्य-पाप

पूर्व के प्रकरण में कर्म-सिद्धांत के परिप्रेक्ष्य में पुण्य-पाप कर्मों का संक्षेप में विवेचन किया जा रहा है। कर्मसिद्धांत और तत्त्वज्ञान में अंतर यह है कि कर्मसिद्धांत में विश्व के स्वरूप का एवं संसारी जीव की कर्म जन्य विविध अवस्थाओं का वर्णन है। इसमें हेय-उपादेय का विवेचन नहीं है। तत्त्वज्ञान का वर्णन आत्म-विकास व साधना की दृष्टि से हेय-उपादेय के रूप में किया गया है। जैन धर्म का मुख्य लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है, सर्वबंधनों से मुक्ति पाना है। अत: तत्त्वज्ञान का समस्त विवेचन इसी दृष्टि से है। चेतन और अचेतन के स्वरूप का प्रतिपादन जीव और अजीव तत्त्व में किया गया है। जीव का कौनसा भाव, प्रयास व प्रवृत्ति उसके साध्य मोक्ष की प्राप्ति में, आत्मा की पवित्रता में सहायक है उसे पुण्य तत्त्व में तथा कौनसा भाव व प्रवृत्ति मुक्ति में बाधक व आत्मा के पतन में हेतु है उसे पाप तत्त्व में प्रतिपादित किया गया है। उस पाप प्रवृत्ति में पापकर्मों का सर्जन व बंधन होने का वर्णन आस्रव व बंध तत्त्व में किया गया है। आस्रव के निरोध के हेतुओं का वर्णन संवर तत्त्व में और बंध के क्षय के हेतुओं का वर्णन निर्जरा तत्त्व में किया गया है। अपने लक्ष्य मुक्ति के स्वरूप व उसकी प्राप्ति की साधना का वर्णन मोक्ष तत्त्व में किया गया है। तत्त्वों का इस प्रकार का प्रतिपादन पं. श्री सुखलालजी संघवी ने तत्त्वार्थ सूत्र

अध्ययन 1, सूत्र 4 की टीका में किया है। अभिप्राय यह है कि जैन दर्शन में आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष तत्त्वों का विवेचन मुख्यत: पाप को दृष्टि में रखकर किया गया है।

वीतराग के अतिरिक्त शेष समस्त जीवों में आंशिक गुण और आंशिक दोष हैं। गुण स्वाभाविक हैं और सब जीवों को स्वत: प्राप्त हैं। दोष प्राणी के द्वारा पैदा किए गये हैं। दोषों ने ही गुणों को आच्छादित किया है। अत: गुण के प्रकट न होने में दोष ही कारण हैं। दोष जितने-जितने अंश में कम होते जाते हैं उतने-उतने अंश में गुण प्रकट होते जाते हैं, आत्मा पवित्र होती जाती है। आत्मा का पवित्र होना ही पुण्य है।

दोष पाप हैं। इनसे पाप कर्मों का बंध होता है और गुणों से आत्मा के पवित्र होने से पुण्य कर्मों का बंध होता है। इसलिये सभी प्राणियों के जितने अंश में दोष हैं उतने पाप कर्म बँधते हैं और जितने अंश में दोषों की कमी होती जाती है, गुण प्रकट होते जाते हैं, उतने अंशों में पुण्य कर्मों के उपार्जन से वृद्धि होती जाती है। पुण्य का उपार्जन पाप की कमी से ही होता है। अत: दोष मिटाने का दायित्व जीव का है। दोषों को, पापों को मिटाना ही साधना है, दु:खों से मुक्ति पाना है। आगमों में जो भी तत्त्वों का वर्णन किया गया है वह दोषों को दूर करने को अर्थात् साधना व मुक्ति प्राप्ति को लक्ष्य में रखकर किया गया है। दोष मिटने से गुणों की अभिव्यक्ति एवं पुण्य कर्मों का उपार्जन व वृद्धि नि:सर्ग से स्वत: होती है। इसके लिए अन्य कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। पुण्य-कर्म पाप की कमी का, आत्मा की पवित्रता का, आत्म-शुद्धि का, आत्म-विकास का सूचक है। जैसा कि कहा है-

पुनाति आत्मानम् इति पुण्यम्।

-स्थानांग सूत्र टीका एवं सर्वार्थसिद्धि टीका 6.3

'पातयति आत्मानम् इति पापम्' अर्थात् जिससे आत्मा पवित्र हो, शुद्ध हो वह पुण्य है और जिससे आत्मा का पतन हो, आत्मा अपवित्र हो, अशुद्ध हो वह पाप है (अभिधान राजेन्द्र कोष, खण्ड 5, पृष्ठ 76) आत्मा पवित्र व शुद्ध शुभ योग से, सद्प्रवृत्ति से होती है और अपवित्र व अशुद्ध अशुभ योग से, दुष्प्रवृत्ति से होती है। शुभ योग और अशुभ योग का हेतु विशुद्धि और संक्लेश परिणाम है। क्रोध, मान, माया और लोभ इन कषायों में वृद्धि होना संक्लेश परिणाम है और जीव के परिणामों में समुत्पन्न अर्थात् विद्यमान कषायों में हानि होना विशुद्धि परिणाम है, जैसा कि कहा है-

को संकिलेसो णाम? कोह-मान-माया-लोह परिणामविसेसो। को विसोहिणाम? जेसु जीवपरिणामेसु समुपण्णेसु हानि होदि।

-जयधवला टीका पुस्तक 4, पृष्ठ 15 व 41

विशुद्ध परिणाम से योगों में शुभता बढ़ती है और संक्लेश परिणाम से योगों में अशुभता बढ़ती है। विशुद्ध परिणामों एवं तज्जन्य शुभ योगों-सद्प्रवृत्तियों से आत्मा पवित्र होती है। परिणामों की यह विशुद्धता अर्थात् चढ़ते परिणाम; भाव पुण्य तत्त्व है और सद्प्रवृत्तियाँ द्रव्य पुण्य तत्त्व हैं। इसके विपरीत संक्लेश परिणामों एवं तज्जन्य अशुभ योगों-दुष्प्रवृत्तियों से आत्मा का पतन होता है, आत्मा अपवित्र होती है। परिणामों की संक्लिष्टता अर्थात् गिरते परिणाम, भाव पाप तत्त्व हैं और दुष्प्रवृत्तियाँ द्रव्य पाप तत्त्व हैं। पुण्य और पाप तत्त्वों का आधार जीव के परिणामों की शुद्धता-अशुद्धता पर निर्भर है। उदाहरणार्थ-डॉक्टर व डाकू दोनों छुरे से पेट चीरने की प्रवृत्ति करते हैं परंतु इस प्रवृत्ति में डॉक्टर का परिणाम रोगी के प्राणों की रक्षा करना है और डाकू का परिणाम व्यक्ति के प्राण हनन करना है। अत: डॉक्टर का परिणाम अनुकंपा युक्त होने से उसकी प्रवृत्ति शुभयोग है, पुण्य है और डाकू के परिणाम अशुद्ध, क्रूर होने से उसकी प्रवृत्ति अशुभ

योग है, पाप है। इन्हीं पुण्य-पाप परिणामों से व प्रवृत्तियों से पुण्य-पाप का आस्रव होता है। पुण्य परिणाम जीव के लिए कल्याणकारी हैं, जैसा कि ज्ञाताधर्मकथा सूत्र के प्रथम अध्ययन में भगवान महावीर ने मेघकुमार को प्रतिबोध देते हुए फरमाया है-**तुमं मेहा! ताए पाणाणुकंपयाए भूयाणुकंपयाए जीवाणुकंपयाए सत्ताणुकंपयाए संसारे परित्तीकए माणुस्साऊ निबद्धे।**

अर्थ-''हे मेघ! तुमने उस प्राणानुकंपा, भूतानुकंपा, जीवानुकंपा तथा सत्त्वानुकंपा से संसार परीत किया और मनुष्यायु का बंध किया।'' इसमें अनुकंपा को सर्व कर्मों का क्षय कर संसार सीमित करने का तथा मनुष्यायु रूप पुण्य कर्मबंध का हेतु बताया है। इसी ज्ञाताधर्मकथा में आगे अध्ययन 8 में तीर्थङ्कर नामगोत्र कर्म के 20 हेतु बताये हैं, यथा-

अरहंत सिद्ध पवयण गुरु, थेर बहुस्सुए तवस्सीसुं।
वच्छल्लया य तेसिं अभिक्खनाणोवओगे य।
दंसण-विणय-आवस्सए, सीलव्वए निरइयारो,
खणलवतवचियाए वेयावच्चे समाही य।।2।।
अपुव्वनाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ सो उ।।3।।

अर्थ-1. अरिहंत, 2. सिद्ध, 3. प्रवचन, 4. गुरु, 5. स्थविर, 6. बहुश्रुत, 7. तपस्वी के प्रति वत्सलता, 8. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, 9. दर्शन, 10. विनय, 11. छः आवश्यक, 12. निरतिचार शील पालन, 13. क्षणलव, 14. तप, 15. त्याग, 16. वैयावृत्त्य, 17. समाधि, 18. अपूर्वज्ञान ग्रहण, 19. सुश्रुत भक्ति, 20. प्रवचन प्रभावना। इन बीस बोलों से तीर्थङ्कर नाम कर्म का उपार्जन होता है। इसमें निरतिचार व्रत पालन, तप, संयम आदि के त्याग रूप निवृत्ति धर्म को तथा वात्सल्य, वैयावृत्त्य, ज्ञान ग्रहण रूप सद्प्रवृत्ति को पुण्य उपार्जन का कारण कहा गया है।

आस्रव तत्त्व का आधार पाप है, पुण्य नहीं

आस्रव तत्त्व-कर्मों के आने को आस्रव कहते हैं। पुण्य एवं पाप के आस्रव के संबंध में कहा है-

पुण्णासव भूदा अणुकंपा सुद्धओ व उवजोओ।
विवरीओ पावस्स हु आसवहेउं वियाणाहिं।।

-भगवती आराधना गाथा 1828, कसाय पाहुड, जय धवला टीका, पुस्तक 1, पृष्ठ 96

अनुकंपा अर्थात् सद्प्रवृत्तियों से और शुद्धोपयोग अर्थात् परिणामों की शुद्धता से पुण्य कर्मों का आस्रव होता है। इसके विपरीत पाप के आस्रव के हेतु हैं अर्थात् अशुद्धोपयोग, परिणामों की अशुद्धता एवं निर्दयता व दुष्प्रवृत्तियों से पाप कर्मों का आस्रव होता है।

मोक्षशास्त्र-तत्त्वार्थसूत्र के छठे अध्याय में आस्रव के हेतुओं के संबंध में कहा है-**''शुभः पुण्यस्य, अशुभः पापस्य''** अर्थात् शुभ योग पुण्य के आस्रव के हेतु हैं और अशुभयोग पाप के आस्रव के हेतु हैं। यहाँ शुभ और अशुभ योग का आधार शुभ और अशुभ कर्म प्रकृतियों का बंध होना नहीं है, अपितु विद्यमान पुण्य-पाप कर्मों के अनुभाग में वृद्धि हानि होना है। कारण कि यदि पाप कर्मों के बंध होने के आधार पर पापास्रव माना जाय तो दसवें गुणस्थान तक ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि पाप कर्म प्रकृतियों का सतत बंध होता रहता है। अतः दसवें गुणस्थान तक अशुभ योग ही मानना पड़ेगा, शुभ योग नहीं। इसी प्रकार आठवें गुणस्थान तक अगुरुलघु, निर्माण, तैजस, कार्मण शरीर आदि पुण्य प्रकृतियों का बंध भी निरंतर होता रहता है तथा दसवें गुणस्थान में उच्चगोत्र, यशकीर्ति आदि पुण्य प्रकृतियों का बंध होता है। अतः यहाँ तक शुभ योग ही मानना होगा, अशुभ योग नहीं। इस प्रकार दसवें गुणस्थान तक शुभयोग और अशुभयोग इन दोनों योगों का होना और न होना युगपत् मानना पड़ेगा जो उचित नहीं

है। आस्रव का अर्थ है-आगमन अर्थात् विद्यमान में वृद्धि होना। अतः जिससे शुभ (पुण्य) कर्मों के अनुभाग में वृद्धि हो वह पुण्यास्रव है, शुभ योग है और जिससे अशुभ (पाप) कर्मों के अनुभाग में वृद्धि हो वह पापास्रव है, अशुभ योग है। इसी तथ्य का समर्थन प्रज्ञाचक्षु पं. श्री सुखलालजी संघवी ने तत्त्वार्थ सूत्र अध्ययन 6, सूत्र 4 की टीका में किया है।

ऊपर गाथा में पुण्य कर्म के आस्रव का हेतु शुद्धोपयोग को कहा है। इसका कारण यह है कि पुण्य का आस्रव व उपार्जन कषाय की कमी से होता है और कषाय की कमी होना शुद्धता के अभिमुख होना, शुद्धोपयोग है (समयसार तात्पर्यवृत्ति गाथा 320)।

पुण्यास्रव-वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चारों अघाती कर्मों में ही पुण्य प्रकृतियाँ होती हैं। इन चारों कर्मों की पुण्य प्रकृतियों का उपार्जन अर्थात् पुण्य का आस्रव चारों कषायों की कमी से होता है। यथा-

वेदनीय कर्म-वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियाँ हैं-साता वेदनीय और असातावेदनीय। सातावेदनीय पुण्य प्रकृति है और असाता वेदनीय पाप प्रकृति है। इनके बंध के हेतु हैं-

दुःख-शोक-तापा-क्रन्दन-वध-परिवेदनान्यात्म-परोभय-स्थान्यसद्वेद्यस्य। 'भूत व्रत्यनुकंपादानं सरागसंयमादि योगः, क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य।। -तत्त्वार्थ सूत्र अध्ययन 6/12-13

अर्थात् दुःख देना, शोक पैदा करना, ताप देना, आक्रंदन करना, वध करना और परिवेदन, ये असाता वेदनीय के हेतु हैं। ये सब अनुकंपा एवं क्षमाशीलता के अभाव के सूचक क्रोध कषाय के रूप हैं। इसके विपरीत भूत-व्रती-अनुकंपा, दान, सरागसंयमादि योग, क्षान्ति और शौच, ये सातावेदनीय कर्म के बंध के हेतु हैं।

क्षान्ति क्रोध के अभाव में ही होती है। अतः क्रोध कषाय का अभाव, उपशम या क्षय ही सातावेदनीय का हेतु है। इसी सिद्धांत का प्रतिपादन भगवती सूत्र शतक 7 उद्देशक 6 में किया गया है।

आयुकर्म-आयु कर्म की चार प्रकृतियाँ हैं। इनमें से नरकायु अशुभ है और तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु व देवायु शुभ हैं। इनके बंध के हेतु हैं-

बह्वा-रम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः। माया तैर्यग्योनस्य। अल्पारम्भ-परिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य। सराग संयम-संयमासंयमा-ऽकाम-निर्जरा-बालतपांसि देवस्य। -तत्त्वार्थ सूत्र अध्ययन 6, सूत्र 16-18 एवं 20

बहुत आरंभ-परिग्रह अर्थात् लोभ कषाय नरकायु के बंध का हेतु है। माया कषाय तिर्यञ्च गति व आयु के बंध का हेतु है। अल्प आरंभ-परिग्रह, स्वभाव की मृदुता व सरलता, ये मनुष्यायु के हेतु है। आरंभ-परिग्रह में कमी होना लोभ-कषाय की कमी का, स्वभाव की मृदुता मान कषाय की कमी का और सरलता माया कषाय की कमी का अभिव्यक्तक है। अर्थात् लोभ, मान और माया कषाय की कमी से मनुष्यायु का बंध होता है। सराग संयम, संयमासंयम, अकाम निर्जरा, बालतप और सम्यक्त्व ये देवायु के हेतु हैं। देवायु का उत्कृष्टबंध अप्रमत्त साधु ही करता है। अतः साधुत्व ही देवायु के बंध का हेतु है। इसी तथ्य का प्रतिपादन भगवती सूत्र शतक 8 उद्देशक 9 में किया गया है।

नामकर्म-नाम कर्म की 93 या 67 प्रकृतियाँ हैं। इन 67 प्रकृतियों में 37 प्रकृतियाँ पुण्य की हैं शेष पाप कर्म की हैं। इनके बंध के हेतु हैं-

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः। विपरीतं शुभस्य।

'मन, वचन और काया के योगों की वक्रता अर्थात् माया कषाय

अशुभ नाम कर्म की प्रकृतियों के बंध का हेतु है और इसके विपरीत अर्थात् मन, वचन, काया के योगों की सरलता रूप माया कषाय की कमी शुभ नाम कर्म की प्रकृतियों की हेतु है। इसी का प्रतिपादन भगवती सूत्र शतक 8 उद्देशक 9 में तथा उत्तराध्ययन सूत्र के अध्ययन 29 में किया गया है।

-तत्त्वार्थ सूत्र अध्ययन 6, सूत्र 21-22

गोत्रकर्म-गोत्र कर्म की दो प्रकृतियाँ हैं। इनमें से उच्च गोत्र शुभ और नीच गोत्र अशुभ है। इनके बंध के हेतु हैं-

परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्-गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य।।
तद्विपर्ययो नींचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य।।

परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, सद्गुणों का आच्छादन, असद्गुणों का प्रकाशन अर्थात् मान कषाय नीच गोत्र के बंध का हेतु है और इसके विपरीत अर्थात् मान कषाय की कमी उच्च गोत्र के बंध की हेतु है। भगवती सूत्र शतक 8 उद्देशक 9 में कहा गया है कि जाति, कुल, बल, श्रुत आदि का मद, अभिमान करने से नीच गोत्र का और मद न करने से अर्थात् निरभिमानता-विनम्रता से उच्च गोत्र का बंध होता है।

-तत्त्वार्थ सूत्र अध्ययन 6, सूत्र 24-25

वंदणएण नीयागोयं कम्मं खवेइ, उच्चागोयं कम्मं निबंधइ।।

अर्थात् वंदना से जीव नीच गोत्र कर्म का क्षय करता है और उच्च गोत्र कर्म का बंध करता है। -उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 29, सूत्र 10

तात्पर्य यह है कि क्रोध, मान, माया व लोभ कषाय से क्रमशः वेदनीय, गोत्र, नाम व आयु इन चारों कर्मों की अशुभ (पाप) प्रकृतियों का बंध होता है। इन कषायों की कमी से इन कर्मों की शुभ प्रकृतियों का बंध होता है। क्रोध कषाय की कमी से क्षमा व अनुकंपा गुण प्रकट होता

है जो सातावेदनीय के बंध का हेतु है। मान कषाय की कमी से मृदुता-नम्रता, निरभिमानता गुण प्रकट होता है जो उच्च गोत्र के बंध का हेतु है। माया कषाय की कमी से सरलता का गुण प्रकट होता है जो नाम कर्म की शुभ प्रकृतियों के बंध का हेतु तथा लोभ कषाय की कमी से निर्लोभता का गुण प्रकट होता है जो शुभ आयु के बंध का हेतु है। इस प्रकार कषाय की, पाप की कमी से समस्त पुण्य प्रकृतियों का आस्रव नियम से होता है। कोई साधक कषाय की कमी व क्षय करे और उसके पुण्य प्रकृतियों का अनुबंध न हो यह कदापि संभव नहीं है। इन चारों ही कर्मों की सातावेदनीय, मनुष्यायु, उच्च गोत्र, मनुष्यगति, यशकीर्ति आदि 12 पुण्य प्रकृतियों का उदय चौदहवें गुणस्थान में मुक्ति-प्राप्ति के अंतिम समय तक रहता है। पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग का क्षय कषाय के उदय से ही होता है। अतः इनके अनुभाव का क्षय किसी भी साधना से संभव नहीं है। सभी साधनाओं से इनका अनुभाग बढ़ता ही है, घटता नहीं है। इसीलिए पुण्य के उपार्जन को आस्रव तत्त्व के किसी भी भेद में नहीं लिया गया है यथा-

इंदिय कसाय-अव्वय-जोगा पंच चउ पंच तिन्निकम्मा।
किरियाओ पणवीसं इमाउ ताओ अनुक्कमसो।।

अर्थात् पाँच इन्द्रियाँ, चार कषाय, पाँच अव्रत, तीन योग और पच्चीस क्रियाएँ, ये आस्रव के 42 भेद हैं। तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय 6 के सूत्र 6 में आस्रव के भेद इस प्रकार हैं-

इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पंचचतुः पंचपंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः।

अर्थात् अव्रत 5, कषाय 4, इन्द्रियाँ 5, क्रियाएँ 25, ये 39 सांपरायिक आस्रव के भेद हैं। इन भेदों में तीन योगों के मिलाने से 42 भेद हो जाते हैं। इन 42 आस्रव के भेदों में कर्म उपार्जन के हेतुओं में केवल

पापास्रव का ही ग्रहण किया गया है। व्रत, प्रत्याख्यान, त्याग-तप से तथा दया, दान, अनुकंपा आदि शुभ योगों से होने वाले पुण्यास्रव के हेतुओं को नहीं लिया गया है। इसका कारण यह है कि जैन धर्म में साधक के लिए पाप के आस्रव के त्याग का ही उपदेश है, पुण्यास्रव के त्याग का उपदेश नहीं है। यदि पुण्यास्रव को आस्रव तत्त्व में गिना जाता तो साधक के लिए इसका निरोध व त्याग आवश्यक होता। साधना काल में अर्थात् दसवें गुणस्थान तक जब भी पुण्य प्रकृतियों के आस्रव का निरोध होता है तो उनकी विरोधिनी पाप प्रकृतियों का आस्रव अवश्य होता है। जैसे सातावेदनीय, उच्च गोत्र, यशकीर्ति नाम, आदेय नाम आदि पुण्य प्रकृतियों के आस्रव का निरोध होने पर असातावेदनीय, नीच गोत्र, अयशकीर्ति नाम, अनादेय नाम आदि पाप प्रकृतियों का आस्रव व बंध अवश्य होता है। अतः पुण्य प्रकृतियों के आस्रव के निरोध का अर्थ है पाप प्रकृतियों के आस्रव व बंध को आमंत्रण देना, आह्वान करना। जो जीव के लिए अहितकर है अर्थात् पुण्य के आस्रव का निरोध पाप के आस्रव का हेतु है। पुण्य का आस्रव शुभ योग से होता है। अतः पुण्य के आस्रव का निरोध तभी संभव है, जब शुभ योग हो। कारण कि संसार के समस्त जीवों के शुभ और अशुभ इन दोनों योगों में से एक योग अवश्य ही रहता है। अतः शुभ योग के अभाव में अशुभ योग अवश्य होता है जो पापास्रव का हेतु है। अतः जहाँ योग को आस्रव का हेतु कहा है वहाँ अशुभ योग ही ग्राह्य है, पुण्यास्रव नहीं। तात्पर्य यह है कि आस्रव तत्त्व के भेदों में पाप व पाप कर्मों के बंध के हेतु मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय व अशुभ योग को ही ग्रहण किया गया है। पुण्य तत्त्व व पुण्य कर्म प्रकृतियों के आस्रव व बंध के हेतु सम्यग्दर्शन, व्रत, प्रत्याख्यान, संयम, त्याग, तप, धर्मध्यान, शुक्लध्यान, शुभ योग आदि को ग्रहण नहीं किया गया है। अपितु इन्हें आस्रव निरोध का कारण बताया है, यथा-

पंचसमिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइंदियो।
अगारवो य णिस्सल्लो, जीवो हवइ अणासवो।।

अर्थ-पाँच समिति वाला, तीन गुप्ति वाला, कषाय रहित, जितेन्द्रिय, तीन गारव रहित और तीन शल्य रहित जीव अनास्रवी होता है।

संवर तत्त्व

निरुद्धासवे संवरो।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 29, गाथा 11

आस्रवनिरोध: संवर:।।

-तत्त्वार्थ सूत्र, अध्ययन 9, सूत्र 1

अर्थात् आस्रव का निरोध होना, रुक जाना संवर है। यह कथन पाप के आस्रव के निरोध से ही संबंधित है, पुण्य के आस्रव के निरोध से नहीं। जैसाकि उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 29, पृच्छा 55 में कहा है- **संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवणिरोहं करेइ।** अर्थात् संवर से पाप के आस्रव का निरोध होता है। संवर तत्त्व में संवर के 57 भेद कहे गये हैं-

समिति गुत्ती धम्मो अणुप्पेहा परीसह चरित्तं व।
सत्तावन्नं भेया पणतिगभेयाइं संवरणे।

-स्थानांग वृत्ति स्थान

स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परिषहजय-चारित्रै:।

-तत्त्वार्थ सूत्र, अध्ययन 9, सूत्र 2

अर्थात् संवर समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र रूप है। जिसके क्रमश 5, 3, 10, 12, 22 और 5 कुल 57 भेद होते हैं। इन 57 भेदों में एक में भी पुण्य के आस्रव का निरोध नहीं है। इन सबसे पुण्य के अनुभाव में वृद्धि ही होती है।

संवर के मुख्य पाँच भेद हैं-जो आस्रव निरोध के हैं। यथा-

1. सम्यक्त्व संवर-यह मिथ्यात्व पाप के आस्रव का निरोध करता है।

2. विरति संवर-यह अविरतिभाव-प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह इन पापों के आस्रव का निरोध करता है।

3. अप्रमाद संवर-यह प्रमाद से होने वाले पाप कर्मों का निरोध करता है।

4. अकषाय संवर-यह क्रोध, मान, माया, लोभ, रति, अरति, राग, द्वेष इन पापों के आस्रव का निरोध करता है।

5. शुभयोग संवर-यह अशुभ योग, परपरिवाद, कलह, अभ्याख्यान आदि दुष्प्रवृत्तियों के पापास्रव का निरोध करता है।

संवर के 57 भेदों में शुभ योग में वृद्धि होती है जो पुण्य के आस्रव की हेतु है। इन सबसे पुण्य कर्म के अनुभाग में वृद्धि होती है और इनका अनुभाग कभी भी चतु:स्थानिक से घटता नहीं है। अत: पुण्य कर्म के निरोध की दृष्टि से इन्हें संवर नहीं कहा है, अपितु पुण्य प्रकृतियों का आस्रव होने से इनकी विरोधिनी व अन्य पाप कर्म की प्रकृतियों के आस्रव का निरोध होता है, वही संवर है। अत: पाप के आस्रव के निरोध को ही संवर तत्त्व में स्थान दिया गया है। पुण्य के आस्रव के निरोध को संवर नहीं कहा गया है। अत: पाप का आस्रव ही त्याज्य है। पाप के आस्रव के त्याग से पुण्य का आस्रव स्वत: होता है।

इस प्रकार संवर के समस्त भेद-प्रभेद पापास्रव के ही निरोधक हैं। किसी भी भेद से पुण्य के आस्रव का निरोध नहीं होता है।

शुभ योग को संवर क्यों कहा?

तत्त्वार्थ सूत्र अध्ययन 6 सूत्र 3 में **'शुभः पुण्यस्य'** कहा है अर्थात् शुभ योग से पुण्य का आस्रव होता है। यहाँ प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि शुभयोग आस्रव का हेतु है, अतः उसे संवर क्यों कहा जाए? उत्तर में कहना है कि-जैनागम में आस्रव-संवर तत्त्वों का विवेचन मोक्ष-प्राप्ति की साधना की दृष्टि से किया गया है। मोक्ष-प्राप्ति में पाप ही बाधक है, पुण्य नहीं। अतः आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष आदि तत्त्वों का विवेचन पाप को ही लक्ष्य में रखकर किया गया है। कारण कि प्राणी पाप से, कषाय से ही कर्मों का बंध करता है, संसार को बढ़ाता है व संसार में परिभ्रमण करता है। अतः पाप ही हेय व त्याज्य है, पाप के क्षय से ही वीतरागता व मुक्ति की उपलब्धि संभव है।

पाप का अवरोध व निरोध होने पर पुण्य स्वतः होता है। प्राणी पाप में जितनी कमी करता है, उतनी ही पुण्य में वृद्धि होती है। अशुभ योग पाप है, जिससे पाप का आस्रव व बंध होता है। अशुभ योग में कमी होने से शुभ योग होता है। जिससे शुभ योग जन्य पापकर्मों के आस्रव का निरोध होता है, नवीन पापकर्मों का बंध रुकता है तथा पूर्व में बँधे हुए पाप कर्मों का क्षय होता है। जैसे सातावेदनीय के आस्रव से असातावेदनीय पाप कर्म का, उच्च गोत्र से नीच गोत्र पाप कर्म का, शुभ नाम कर्म से अशुभ नाम कर्म की पाप प्रकृतियों के आस्रव का निरोध नियम से होता है तथा पूर्व में बँधी हुई इनकी पाप प्रकृतियों के स्थिति व अनुभाग का घात भी होता है। इस प्रकार पुण्य के आस्रव से पाप कर्मों के आस्रव का निरोध तथा पूर्व में बँधे पाप कर्मों का क्षय होता है। जिससे आत्मा मुक्ति के पथ पर आगे बढ़ती है। इस प्रकार पाप के आस्रव के निरोध का हेतु होने से शुभ योग को संवर कहा है। शुभ योग से पाप कर्मों के आस्रव का निरोध तो होता ही है, साथ ही घाती कर्मों का क्षय भी होता है। यथा-

गरिहणयाए णं अपुरक्कारं जणयइ! अपुरक्कारगए णं जीवे अप्पसत्थेहिंतो जोगेहिंतो नियत्तेइ, पसत्थे य पडिवज्जइ। पसत्थजोगपडिवन्ने य णं अणगारे अणंतघाइ-पज्जवे खवेइ। -उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 29, सूत्र 7

साधक गर्हणा से अपुरस्कार आत्म-नम्रता पाता है तथा आत्म-नम्रता से अप्रशस्त योगों से निवृत्त होकर प्रशस्त योगों को प्राप्त करता है। प्रशस्त योगों को प्राप्त अनगार ज्ञानावरणादि घाती कर्मों का क्षय करता है।

उत्तराध्ययन सूत्र के 29वें अध्ययन में तिहत्तर बोलों की पृच्छा की गई है। इनमें से साधना की प्रत्येक क्रिया से पुराने पाप कर्मों का क्षय, नवीन पाप कर्मों के बंध का निरोध एवं पुण्य कर्मों का उपार्जन होना कहा गया है। यहाँ इस सातवें बोल में भी कहा गया है कि गर्हा से अप्रशस्त योगों से निवृत्त होता है और प्रशस्त योगों में प्रवृत्त होता है तथा प्रशस्त अर्थात् शुभ योगों से घाती कर्मों का क्षय होता है। घाती कर्मों का क्षय होने से पूर्व निर्दोषता आती है जिससे केवल ज्ञान, केवल दर्शन, क्षायिक चारित्र आदि समस्त आत्मिक गुणों की उलपब्धि होती है और साधक मुक्ति को प्राप्त करता है।

उत्तराध्ययन सूत्र के उपर्युक्त भगवद् वचन से स्पष्ट है कि शुभ योग से अघाती पाप कर्म ही नहीं घाती कर्म भी क्षय होते हैं एवं मुक्ति की प्राप्ति होती है।

पाणिवह-मुसावाया, अदत्त-मेहुण परिग्गहा विरओ।
राइभोयण विरओ, जीवो हवइ अणासवो।।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 30, गाथा 2

प्राणिवध, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह एवं रात्रि-भोजन से विरत जीव अनास्रव (आस्रव रहित) होता है। इस गाथा में अनास्रव होने

अर्थात् संवर के लिए पाप के त्याग को ही ग्रहण किया गया है, पुण्य को नहीं।

''एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं।।''

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 31, गाथा 2

साधक एक ओर से विरति-निवृत्ति करे और एक ओर प्रवृत्ति करे। असंयम से निवृत्ति व संयम में प्रवृत्ति करे। इस दूसरी गाथा में पाप प्रवृत्ति का ही निषेध है और सद्प्रवृत्ति करने का आदेश है।

रागदोसे य दो पावे, पाव-कम्म पवत्तणे।
जे भिक्खू रुम्भइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले।।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 31, गाथा 3

पाप कर्म में प्रवृत्ति कराने वाले राग और द्वेष ये पाप हैं, जो भिक्षु इन्हें रोकता है, वह संसार सागर में परिभ्रमण नहीं करता है।

तात्पर्य यह है कि जैनागम में संवर तत्त्व में, अनास्रव में केवल पाप के आस्रव के निरोध को ही स्थान दिया गया है, पुण्य के आस्रव के निरोध को कहीं भी स्थान नहीं दिया गया है। यही नहीं पुण्य के आस्रव के निरोध को संवर में ग्रहण नहीं किया गया है। कारण कि सकषायी जीवों के पुण्य के आस्रव का निरोध होने पर पाप का आस्रव (पाप कर्मों के दलिकों में वृद्धि) नियम से होता है। पुण्य के आस्रव-निरोध का प्रयास करना पाप के आस्रव को आह्वान करना तथा आमंत्रण देना है।

इस प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र के इकतीसवें अध्ययन 'चरण विधि' में इक्कीस गाथाओं में एक से लेकर तेतीस बोल संसार-परिभ्रमण से मुक्त होने के दिये हैं। इन सबमें पाप प्रवृत्ति का ही निषेध किया गया है, पुण्य का

निषेध कहीं भी नहीं किया गया है। उत्तराध्ययन के बत्तीसवें 'प्रमाद स्थान' अध्ययन में एक सौ ग्यारह गाथाओं में विषय, कषाय, राग, द्वेष, मोह, तृष्णा आदि पापों के त्याग को ही सब दुःखों से मुक्ति पाने का उपाय बताया है। कहीं पर भी पुण्य को त्याज्य नहीं कहा है।

एए दहप्पयारा पावकम्मस्स णासया भणिया।
पुण्णस्स य संजणया, पर पुणत्थं ण कायव्वा।।

-कार्तियकेयानुप्रेक्षा, 40

धर्म के दस भेद पाप कर्म का नाश करने वाले तथा पुण्य कर्म का उपार्जन करने वाले कहे हैं, परंतु इन्हें पुण्य के लिए नहीं करना चाहिए। इससे स्पष्ट है क्षमा, सरलता आदि धर्मों से पाप कर्मों का ही क्षय होता है, पुण्य कर्मों का क्षय नहीं होता है। अपितु इनसे तो पुण्य कर्मों का उपार्जन होता है।

विशुद्धि-संक्लेशांगं चेत् स्व-परस्थं सुखासुखम्।
पुण्यपापास्रवो युक्तो न चेद् व्यर्थस्तवार्हतः।।

-देवागम कारिका, 95

आचार्य श्री समंतभद्र के मत में सुख-दुःख अपने को हो या दूसरे को हो, वह यदि विशुद्धि का अंग हो तो पुण्यास्रव का और संक्लेश का अंग हो तो पापास्रव का हेतु है। यदि वह दोनों में से किसी का भी अंग नहीं है तो वह व्यर्थ है, निष्फल है।

सम्मत्तेण सुदेण य विरदीए कसायणिग्गहगुणेहिं।
जो परिणदो सो पुण्णो.....।।

-मूलाचार 234

सम्यक्त्व, श्रुतज्ञान, विरति, कषायनिग्रह रूप गुणों से परिणत आत्मा पुण्य स्वरूप है। जैनागम में सम्यक्त्व, विरति, कषाय निग्रह आदि

गुणों को जीव का स्वभाव व संवर कहा है। अत: जहाँ संवर है वहाँ पुण्य है। अत: संवर पाप के निरोध व क्षय का ही हेतु है, पुण्य के निरोध या क्षय का नहीं।

शुभ योग मोक्ष रूप फल को प्रदान करने वाला है। जैसा कि कहा है-

प्रतिवर्तनं वा शुभेषु योगेषु मोक्षफलदेषु।
नि:शल्यस्य यतेर्यत् तद्वा ज्ञेयं प्रतिक्रमणम्।।

-आवश्यक सूत्र

प्रतिक्रमण का स्वरूप बतलाते हुए इस श्लोक में कहा गया है कि शल्य रहित मुनि का मोक्षफल को प्रदान करने वाले शुभ योगों में उत्तरोत्तर वर्तन करना प्रतिक्रमण है। यहाँ भी शुभयोग को मोक्ष रूपी फल प्रदान करने वाला कहा गया है।

निर्जरा तत्त्व

निर्जरा पाप की ही इष्ट है

कर्मों के क्षय होने को निर्जरा कहते हैं। निर्जरा के दो प्रकार हैं- अकाम निर्जरा और सकाम निर्जरा। अकाम निर्जरा-काल प्राप्त होने पर कर्मों का स्वत: उदय में आकर निर्जरित होना। सकाम निर्जरा-तप से कर्मों का निर्जरित (क्षय) होना। निर्जरा तत्त्व में सकाम निर्जरा को लिया गया है। सकाम निर्जरा तप से होती है। तप के अनशन आदि बारह भेद हैं। तप से आत्मा पवित्र होती है, जिससे पुण्य कर्मों का उपार्जन होता है और उनके अनुभाग में वृद्धि होती है। पाप कर्मों का विशेषत: घाती कर्मों के अनुभाग व स्थिति का क्षय होता है। जिससे आत्म-गुण प्रकट होते हैं। अत: निर्जरा तत्त्व में पाप कर्मों की निर्जरा ही इष्ट है, पुण्य कर्मों की निर्जरा नहीं। कारण कि तप से पुण्य कर्मों की 32 प्रकृतियों का अनुभाग बढ़कर उत्कृष्ट

हो जाता है, फिर यह अनुभाग चौदहवें अयोगी केवली गुणस्थान में अंतिम समय तक उत्कृष्ट ही रहता है। किसी भी साधना से क्षीण नहीं होता है अर्थात् उसकी निर्जरा नहीं होती है।

तवसा निज्जरिज्जइ (उत्तरा. 30/6)
तपसा निर्जरा च (तत्त्वार्थ 9/3)

अर्थात् तप से निर्जरा होती है। तप के 12 भेद हैं-1. अनशन 2. ऊनोदरी 3. भिक्षाचर्या 4. रसपरित्याग 5. कायक्लेश 6. प्रतिसंलीनता 7. प्रायश्चित्त 8. विनय 9. वैयावृत्त्य 10. स्वाध्याय 11. ध्यान 12. व्युत्सर्ग। (भगवती शतक 25 उद्देशक 7, उत्तराध्ययन 30 गाथा 8 व 30, तत्त्वार्थ सूत्र 9/19-20)

तप के बारह भेदों में से किसी से भी पुण्य कर्म का क्षय नहीं होता है, प्रत्युत पुण्य का उपार्जन ही होता है। तप के बारह भेदों में स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि तपों का विशेष महत्त्व है। इन सबसे पाप कर्मों का क्षय होता है, परंतु पुण्य कर्मों का क्षय न होकर उपार्जन होता है यथा-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 29

पृच्छा 18-स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है।

पृच्छा 20-प्रतिपृच्छना से कांक्षा मोहनीय कर्म का नाश होता है।

पृच्छा 22-साधक अनुप्रेक्षा से सात कर्मों की पाप प्रकृतियों के गाढ़ बन्धनों को शिथिल बंध, दीर्घ स्थिति बंध को अल्प स्थिति बंध, तीव्र अनुभाग को मंद अनुभाग, बहुप्रदेशी को अल्पप्रदेशी करता है।

पृच्छा 43-वैयावृत्त्य से तीर्थङ्कर नाम गोत्रकर्म का बंध करता है।

पृच्छा 12-कायोत्सर्ग से आत्म-विशुद्धि व शुभ ध्यान करता हुआ सुख से विचरता है।

काय-गुत्तयाए णं संवरं जणयइ। संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ। -उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 29, सूत्र 55

काय गुप्ति में संवर होता है और फिर संवर से पाप के आस्रव का निरोध होता है। यहाँ संवर से पाप के आस्रव का निरोध होना बताया है, पुण्य के आस्रव का नहीं।

जोगसच्चेणं जोगं विसोहेइ।।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 29, सूत्र 52

सत्य योग से योग (मन-वचन-काया की प्रवृत्ति) की विशुद्धि होती है।

धम्मकहाए णं निज्जरं जणयइ। धम्मकहाए णं पवयणं पभावेइ। पवयण-पभावेणं जीवे आगमेसस्स भद्दत्ताए कम्मं निबंधइ।।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 29, सूत्र 23

धर्मकथा से जीव के कर्मों की निर्जरा होती है, धर्मकथा से जीव प्रवचन की प्रभावना करता है। प्रवचन की प्रभावना से आगामी काल के भद्रता वाले अर्थात् भविष्य में शुभ फलदायक पुण्य कर्मों का उपार्जन करता है।

धर्मकथा धर्मध्यान की तृतीय भावना है। इससे कर्मों की निर्जरा होती है, स्थिति का क्षय होता है और शुभ कर्मों का उपार्जन (आस्रव) होता है। पुण्य के अनुभाग में वृद्धि होती है।

जहा उ पावगं कम्मं, रागदोस समज्जियं।
खवेइ तवसा भिक्खू, तमेगग्गमणो सुण।।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 30, गाथा 1

भिक्षु राग-द्वेष से उपार्जित पाप कर्म का क्षय तप से जिस प्रकार करता है उसे एकाग्रचित्त होकर सुनो-

जहा महातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिंचणाए तवणाए, कम्मेणं सोसणा भवे।।
एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे।
भवकोडी-संचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ।।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 30, गाथा 5-6

जिस प्रकार किसी बड़े तालाब में नये जल के आने को रोक देने पर पूर्व जल को उलीचने से एवं सूर्य के आतप से पहले का जल सूख जाता है, इसी प्रकार संयमी साधु के भी पाप कर्मों का आस्रव रुक जाने पर तप से करोड़ों भवों के कर्म निर्जरित-क्षीण हो जाते हैं। इन गाथाओं में तप से पाप कर्मों के क्षय व पापास्रव के निरोध का ही प्रतिपादन किया गया है, पुण्यास्रव के निरोध का नहीं।

तवसाधुणइ पुराणपावगं, जुत्तो सया तवसमाहिए।

-दशवैकालिक 9.4.4

समाधि से युक्त साधक तप से पुराने पाप कर्मों का क्षय कर देता है।

खवेंति अप्पाणममोह-दंसिणो, तवे रया संजम-अज्जवे गुणे।
धुणंति पावाइं पुरे कडाइं, णवाइं पावाइं ण ते करेंति।।

-दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन 6, गाथा 68

मोह रहित होने में, संयम में, आर्जव, मार्दव आदि गुणों में और तप में निरत साधु पूर्वकृत पाप कर्मों को क्षय करता है व नवीन पाप कर्मों का बंध नहीं करता है। इस प्रकार साधक अपने अशुभ कर्मों का क्षय कर देते हैं।

उपर्युक्त गाथा में संयम में, आर्जव आदि गुणों से अर्थात् कषाय की कमी से तथा तप से केवल पुराने पाप-कर्मों का क्षय एवं नये पाप कर्मों का बंध नहीं होना कहा गया है। यदि इनसे ''पुण्य कर्मों का भी क्षय होना

तथा पुण्य कर्मों का नया बंध नहीं होना।'' गाथाकार को इष्ट होता तो कर्म शब्द के पहले पाप विशेषण लगाने की आवश्यकता ही नहीं होती।

ऊपर निर्जरा तत्त्व में तप के 12 भेद कहे गये हैं। इनसे पाप कर्मों की ही निर्जरा होती है, पुण्य कर्मों की निर्जरा नहीं होती है, अपितु पुण्य कर्मों का प्रदेश व अनुभाग बढ़ता है। यदि निर्जरा तत्त्व में पुण्य कर्मों की निर्जरा भी इष्ट होती तो पुण्य कर्मों की निर्जरा पाप प्रवृत्तियों से होती है, अत: पुण्य कर्मों की निर्जरा के हेतु प्राणातिपात आदि 18 पापों को निर्जरा तत्त्व में स्थान दिया जाता। लेकिन ऐसा नहीं किया गया। इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि निर्जरा तत्त्व में पुण्य कर्मों की निर्जरा को स्थान नहीं दिया गया है।

बंध तत्त्व

बंध चार प्रकार का है। इनमें से प्रकृति और प्रदेश बंध योग से तथा स्थिति और अनुभाग बंध कषाय से होता है। जैसा कि कहा है-**जोगा पयडिपएसं ठिइअणुभागं कसायाउ** -पंचम कर्मग्रन्थ 96, गोम्म.कर्मकाण्ड गाथा 257,

इन चार प्रकार के बंधनों का विवेचन पहले कर आए हैं। इनमें महत्त्व अनुभाग का है, कारण कि कर्म का फल उसके अनुभाग से मिलता है, स्थिति बंध और प्रदेश बंध से नहीं। प्रदेश बंध किसी भी कर्म का कितना ही न्यूनाधिक हो उसका अनुभाग पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। यहाँ **'अणुभागं कसायाउ'** सूत्र कहा गया है। यह सूत्र भी पाप कर्मों पर ही लागू होता है पुण्य कर्मों पर नहीं। कारण कि कषाय से पाप कर्मों के अनुभाग में वृद्धि होती है और पुण्य कर्मों के अनुभाग में कषाय से वृद्धि नहीं होती अपितु क्षति होती है। पुण्य कर्मों के अनुभाग में वृद्धि कषाय से नहीं होकर कषाय की कमी से होती है।

कषाय का सम्पूर्ण क्षय क्षपक श्रेणी में होता है। अतः वहाँ विद्यमान पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग बढ़कर उत्कृष्ट हो जाता है। यह उत्कृष्ट अनुभाग मुक्ति-प्राप्ति के समय तक ज्यों का त्यों विद्यमान रहता है, केवलिसमुद्घात की साधना से भी इसका क्षय नहीं होता है। इस कारण कि पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग का क्षय संक्लेश भाव से ही होता है और किसी भी हेतु से नहीं होता है जो केवली के यथाख्यात चारित्र में संभव नहीं है। समस्त साधनाओं से पुण्य का अनुभाग बढ़ता ही है, घटता नहीं।

मोक्ष-तत्त्व

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।

-तत्त्वार्थसूत्र, अध्ययन 1, सूत्र 1

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गुत्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसीहिं।।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 28, गाथा 2

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों के मिलने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इनमें जो बाधक हैं वे ही मोक्ष की प्राप्ति में बाधक हैं। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में मिथ्यात्व बाधक है और सम्यक् चारित्र की प्राप्ति में अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान आदि कषाय बाधक हैं, ये सब बाधक कारण मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ है, पुण्य प्रकृतियाँ व शुभ योग नहीं। अपितु मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति आदि पुण्य प्रकृतियों के उदय के अभाव में मोक्षमार्ग की साधना ही संभव नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से आत्मा पवित्र होती है, जिससे शुभयोग में एवं पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग में वृद्धि होती है। अतः साधक मोक्षमार्ग में जितना बढ़ता जाता है उतनी ही उसके पुण्य के अनुभाग में वृद्धि होती जाती है। प्रथम तो जब तक पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग बढ़कर

चतु:स्थानिक नहीं हो जाता तब तक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता और फिर यही चतु:स्थानिक अनुभाग बढ़कर उत्कृष्ट हो जाता है तब ही केवलज्ञान होता है। पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग के अनुत्कृष्ट रहते क्षायिक चारित्र व केवलज्ञान नहीं होता है। अभिप्राय यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र रूप मोक्ष मार्ग में पुण्य कहीं भी बाधक नहीं है, अपितु सहायक है।

अत: पुण्य कर्म के संवर, निर्जरा व क्षय करने की मुक्ति-प्राप्ति में किंचित् भी अपेक्षा नहीं है। इसीलिए पुण्य कर्म को आस्रव, संवर, निर्जरा व मोक्ष तत्त्व के किसी भी भेद-प्रभेद में स्थान नहीं दिया गया है। जीव के लिए पाप तत्त्व, पापास्रव, पाप प्रवृत्ति, पाप कर्म का बंध ही अहितकर है। अत: साधना में पाप के संवर, निर्जरा व क्षय को ही स्थान दिया गया है।

उपर्युक्त तथ्य महर्षि श्री जिनभद्रगणी विरचित एवं श्री हरिभद्रसूरि द्वारा टीका कृत 'ध्यान शतक' ग्रन्थ में वर्णित धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान के फल से भी स्पष्ट प्रकट होता है यथा-

होंति सुहासव-संवर विणिज्जराऽमर सुहाइं विउलाइं।
झाणवरस्स फलाइं सुहाणुबंधीणि धम्मस्स।।93।।

-धवला पुस्तक 13, गाथा 56

ते य विसेसेण सुभासवादओऽणुत्तरामरसुहं च।
दोण्हं सुक्काण फलं परिनिव्वाणं परिल्लाणं।।94।।
आसवदारा संसारहेयवो जं ण धम्म-सुक्केसु।
संसारकारणाइ तओ धुवं धम्मसुक्काइं।।95।।
संवर-विणिज्जराओ मोक्खस्स पहो तवो तासिं।
झाणं च पहाणगं तवस्स तो मोक्खहेउयं।।96।।

अर्थात्-उत्तम धर्मध्यान से शुभास्रव (पुण्य कर्मों का आगमन),

संवर (पापास्रव का, पाप कर्मों का निरोध), निर्जरा (संचित कर्मों का क्षय) तथा अमर (देव) सुख मिलते हैं एवं शुभानुबंधी (पुण्यानुबंधी) विपुल फल मिलते हैं।।93।।

धर्मध्यान के फल शुभास्रव, संवर, निर्जरा और अमरसुख इनमें विशेष रूप से उत्तरोत्तर वृद्धि होना प्रारंभ के दो शुक्ल ध्यानों (पृथक्त्व वितर्क सविचार और एकत्व वितर्क अविचार) का भी फल है। अंतिम दो शुक्ल ध्यान सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति और व्युपरतक्रिया अप्रतिपाति का फल मोक्ष की प्राप्ति है।।94।।

जो मिथ्यात्व आदि आस्रवद्वार संसार के कारण हैं वे चूँकि धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान में संभव नहीं हैं। इसलिये यह ध्रुव नियम है कि ये ध्यान नियमतः संसार के कारण नहीं हैं, किंतु संवर और निर्जरा ये मोक्ष के मार्ग हैं। उनका पथ तप है और उस तप का प्रधान अंग ध्यान है। अतः ध्यान मोक्ष का हेतु है।।95-96।।

गाथा 93-94 में बताया गया है कि धर्म ध्यान में शुभास्रव (पुण्यास्रव) संवर (पापास्रव का निरोध), निर्जरा (कर्मों का क्षय) अमर (अविनाशी-देव) सुख एवं शुभानुबंध (पुण्यानुबंध) कहा है। टीका में शैलेशी अवस्था तथा अपवर्ग (मोक्ष) का अनुबंध कहा है। इससे यह फलित होता है कि धर्मध्यान पुण्य, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध व मोक्ष इन सब तत्त्वों व रूपों में हैं।

संवर, निर्जरा, बंध व मोक्ष तत्त्व का वर्णन पाप कर्मों को दृष्टि में रखकर ही किया गया है, पुण्य कर्मों को नहीं, क्योंकि पुण्य कर्मों का आस्रव व अनुबंध आत्म विशुद्धि में होता है।

जो कार्य धर्म-ध्यान में होते हैं, वे ही कार्य विशुद्धि भाव रूप चढ़ते विचार से पुण्य तत्त्व से भी होते हैं, उदाहरणार्थ पुण्य से अनादेय, अयश कीर्ति, नीच गोत्र आदि पाप कर्म प्रकृतियों का निरोध संवर होता है, आदेय आदि पुण्य कर्म प्रकृतियों का आस्रव होता है, स्थिति बंध का अपवर्तन होने से पाप कर्मों का क्षय-निर्जरा होती है। पुण्य कर्म प्रकृति का अनुभाग बंध होता है व पाप कर्मों का पुण्य कर्मों में संक्रमण होता है, जिससे पुण्य कर्मों में वृद्धि होती है।

पुण्य तत्त्व के फल से पुण्य कर्म प्रकृतियों के स्थिति बंध का क्षय होता है और अनुभाग बंध में वृद्धि होती है। इस प्रकार पुण्य कर्म का क्षय व बंध दोनों होते हैं। इन सबका कथन युगपत् अवक्तव्य है। क्रम से यथा प्रसंग ही संभव है। प्रत्येक स्थल पर कैसे संभव है?

धवला टीका पुस्तक 13 गाथा 26 पृष्ठ 68 में धर्मध्यान की चार भावनाएँ हैं-1. ज्ञानभावना 2. दर्शनभावना 3. चारित्रभावना और 4. वैराग्यभावना। इनमें से चारित्रभावना के स्वरूप व गुण के विषय में कहा गया है-

नव कम्माणायाणं पोराणविणिज्जरं सुभायाणं।
चारित्तभावणाए झाणमयत्तेण य समेइ।।

-ध्यानशतक गाथा 33, धवला पुस्तक 13, गाथा 26

अर्थ-चारित्रभावना से नवीन कर्मों के ग्रहण का अभाव, पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा, शुभ (पुण्य) कर्मों का ग्रहण (आदान) और ध्यान, ये बिना किसी प्रयत्न के (स्वतः) होते हैं।

पापाचरण (सावद्ययोग) की निवृत्ति को चारित्र कहा है। इसके ग्रहण का नाम चारित्र भावना है। इस भावना से वर्तमान में आते हुए

ज्ञानावरणादि पाप कर्मों का निरोध और पूर्वोपार्जित इन्हीं पाप कर्मों की निर्जरा होती है तथा पुण्य कर्म प्रकृतियों का ग्रहण व ध्यान की उपलब्धि, ये सब अनायास (स्वतः) होते हैं।

यहाँ चारित्र भावना से नवीन कर्मों का अनादान पाप कर्मों का ही कहा गया है। शुभ (पुण्य) कर्मों का नहीं कहा है, बल्कि यहाँ पुण्य कर्मों का आदान ग्रहण होना कहा है।

विवेचन-ध्यान के अतिप्राचीन एवं प्रामाणिक ध्यानशतक ग्रन्थ के रचनाकार जैन जगत् के विख्यात महर्षि श्री जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण एवं वृत्तिकार श्री हरिभद्रसूरि हैं। जैन धर्म की दोनों सम्प्रदायों में इस ग्रंथ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रंथ की उपर्युक्त गाथाओं से निम्नांकित तथ्य प्रकट होते हैं।

गाथा 93-94 में श्रेष्ठध्यान-धर्मध्यान का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि धर्मध्यान से 1. आस्रव 2. संवर 3. निर्जरा 4. बंध और 5. देवसुख होता है और गाथा 96 में इसे मोक्ष का हेतु भी कहा है। पृथक्त्व वितर्क सविचार शुक्ल ध्यान जो उपशम कषाय वाले साधु के होता है तथा एकत्व वितर्क अविचार शुक्ल ध्यान जो क्षपक कषाय वाले साधु के होता है। इन दोनों शुक्लध्यानों का फल भी धर्मध्यान से होने वाले आस्रव, संवर, निर्जरा व मोक्ष का होना कहा है।

यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि आस्रव और संवर दोनों परस्पर में विरोधी हैं तथा निर्जरा और बंध ये दोनों भी परस्पर विरोधी हैं। इन विरोधियों का धर्मध्यान व शुक्लध्यान में एक साथ होना कहा गया है, यह कैसे संभव है?

समाधान-यहाँ आस्रव व बंध में शुभास्रव और शुभानुबंध को ही लिया गया है, अशुभ (पाप) आस्रव और अशुभ (पाप) अनुबंध को नहीं लिया गया है। इसी प्रकार संवर और निर्जरा में पाप के संवर और पाप कर्मों की निर्जरा को ही लिया गया है, शुभ कर्मों के संवर व निर्जरा को नहीं लिया गया है। कारण कि धर्मध्यान आदि समस्त साधनाओं से आत्म-विशुद्धि होती है, आत्मा पवित्र होती है जिससे पुण्य का आस्रव तथा पुण्य का अनुबंध होता है। जिस समय जिस पुण्य कर्म प्रकृति का आस्रव व निरोध-संवर हो जाता है तथा पाप प्रकृतियों की निर्जरा (क्षय) होती है। पुण्य का आस्रव चार अघाती कर्मों का ही होता है। इनमें से आयु कर्म को छोड़कर शेष वेदनीय, गोत्र व नाम कर्म की प्रकृतियों में शुभ अथवा अशुभ दोनों में से किसी एक का आस्रव व बंध निरंतर होता रहता है। अतः जब सातावेदनीय, उच्च गोत्र, शुभ गति व आनुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, वज्रऋषभनाराच संहनन, उच्च गोत्र, शुभ वर्ण-गंध-रस-स्पर्श, शुभ-विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, शुभ, स्थिर, सुभग, आदेय और यशकीर्ति इन पुण्य प्रकृतियों में से जिनका आस्रव व अनुबंध होता है तब इनकी विरोधिनी पाप कर्म प्रकृतियाँ असातावेदनीय, नीच गोत्र, अशुभ गति व आनुपूर्वी, अशुभ संहनन-संस्थान-वर्ण-गंध-रस-स्पर्श, अशुभ विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अशुभ, अस्थिर, दुर्भग, अनादेय और अयशकीर्ति के आस्रव का निरोध-संवर हो जाता है, बंध रुक जाता है तथा सत्ता में स्थित पाप प्रकृतियों की स्थिति व अनुभाग का अपर्वतन रूप क्षय (निर्जरा) होता है। अतः समस्त साधनाओं से होने वाली आत्म-विशुद्धि से शुभास्रव-शुभानुबंध होता है और अशुभ (पाप) प्रकृतियों का संवर व निर्जरा होती है। अतः साधक के लिए पाप प्रकृतियों का संवर व इनकी निर्जरा ही इष्ट है। जब आत्म-विशुद्धि से पाप प्रकृतियों

का संवर व निर्जरा होती है तब पुण्य प्रकृतियों का आस्रव व अनुबंध स्वत: ही होता है।

अत: पुण्यास्रव का निरोध व पुण्य कर्मों के अनुभाग के अनुबंध का क्षय व निर्जरा किसी भी साधक के लिए अपेक्षित नहीं है और न किसी भी साधना से संभव ही है। प्रत्येक साधना से पुण्यास्रव व पुण्यानुबंध में वृद्धि ही होती है। इसलिये पुण्य के आस्रव के निरोध को संवर में और पुण्य कर्मों के अनुभाग बंध के क्षय को निर्जरा में ग्रहण नहीं किया है, क्योंकि पुण्य कर्म का संवर और अनुभाग की निर्जरा, संयम, तप, त्याग आदि साधन से संभव नहीं है। यही तथ्य उपर्युक्त गाथा 95 से प्रकट होता है। गाथा 93-94 में तो कहा है कि धर्म ध्यान-शुक्ल ध्यान से शुभास्रव होता है और इसकी अगली गाथा में यह कह दिया गया कि आस्रव द्वार संसार के कारण हैं, इसलिये वे धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान से नहीं होते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि आगम में आस्रव द्वार उन्हीं को कहा है जो संसार वृद्धि के हेतु हैं। शुभास्रव (पुण्यास्रव) संसार वृद्धि का हेतु नहीं है, अपितु संसार क्षय का सूचक है, इसलिये इसके निरोध को संवर के किसी भी भेद में स्थान नहीं दिया है। अत: पुण्य के आस्रव को संसार का हेतु मानना आगम व कर्म सिद्धांत के विपरीत है। साधना के क्षेत्र में केवल पाप के आस्रव के निरोध को ही संवर और पाप कर्मों के क्षय को ही निर्जरा में ग्रहण किया है। पुण्य के आस्रव, संवर, निर्जरा व बंध को किसी भी तत्त्व में ग्रहण नहीं किया है।

ध्यान सब तपों में प्रधान तप है, कर्मों की निर्जरा का मुख्य हेतु है। इससे पुण्य का आस्रव होता है, पुण्यकर्म का निरोध (संवर) व पुण्य के फल की निर्जरा नहीं होती है। पुण्य का आस्रव एवं पुण्य कर्म का शुभानुबंध ये आत्म-विशुद्धि से ही होते हैं। अत: उपर्युक्त गाथाओं में इन्हें

धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान का फल कहा है। इनको त्याज्य व हेय नहीं बताया है। केवल पाप के आस्रव के निरोध को संवर और पाप कर्म के क्षय को निर्जरा व मोक्ष तत्त्व में समाहित किया है।

शुक्ल ध्यान के आलंबन

अह खंति मद्दवऽज्जवमुत्तीओ जिणमदप्पहाणाओ।
आलंबणाइं जेहिं सुक्कज्झाणं समारुहइ।।

-ध्यान शतक 69, धवला टीका पुस्तक 13, गाथा 64, पृष्ठ 80

अर्थ-क्षमा, मार्दव, आर्जव और मुक्ति, ये जिनमत में ध्यान के प्रधान आलंबन या अंग कहे गये हैं। इन आलंबनों का सहारा लेकर ध्याता शुक्ल ध्यान पर आरूढ़ होता है। इसी प्रकरण में पहले तत्त्वार्थ सूत्र एवं भगवती सूत्र के उद्धरणों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया गया है कि क्षमा से सातावेदनीय, मार्दव से उच्च गोत्र, आर्जव से शुभ नाम कर्म और मुक्ति से शुभ आयु का शुभास्रव व शुभानुबंध होता है और इन्हीं गुणों में शुक्लध्यान होता है। अर्थात् जो शुक्लध्यान के हेतु हैं वे ही शुभास्रव, पुण्यास्रव के शुभानुबंध के भी हेतु हैं। शुक्ल ध्यान मोक्ष का हेतु है। अतः शुभास्रव व शुभानुबंध मोक्ष के बाधक नहीं हो सकते। क्षमा, मार्दव, आर्जव व मुक्ति, इन गुणों की उपलब्धि क्रमशः क्रोध, मान, माया व लोभ कषाय के क्षय से होती है। अतः ये गुण जीव के स्वभाव हैं, धर्म हैं, परिणामों की विशुद्धि के द्योतक हैं, शुद्धोपयोग हैं और इन गुणों का क्रियात्मक रूप शुभ योग है। अतः ये पुण्यास्रव के हेतु हैं। इससे जयधवला टीका में प्रतिपादित यह कथन कि शुद्धोपयोग और अनुकंपा (शुभ योग) से पुण्यास्रव होता है, पुष्ट होता है। कषाय की हानि या क्षय से ही परिणामों में शुद्धता तथा योगों में शुभता आती है जिससे ही पुण्य का आस्रव व अनुबंध होता है।

पूर्वोक्त कर्म-सिद्धांत व तात्त्विक विवेचन से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि चार घाती कर्मों की 47 पाप कर्म प्रकृतियों के बंध, उदय व सत्ता-वीतरागता, केवलज्ञान, केवलदर्शन और क्षायिक चारित्र में बाधक है। पुण्य कर्मों की कोई भी प्रकृति वीतरागता में, शुक्लध्यान में या मुक्ति-मार्ग में बाधक नहीं है। कुछ लोग यह मानते हैं कि पुण्य के आस्रव की हेतु दया, दान, करुणा आदि सद्प्रवृत्तियों का व शुभ योग तथा समिति-गुप्ति, संयम आदि का त्याग किये बिना वीतरागता, क्षायिक चारित्र, केवलज्ञान, केवलदर्शन की उपलब्धि संभव नहीं है। किंतु ऐसी मान्यता नितान्त निराधार है एवं कर्म सिद्धांत, तत्त्वज्ञान व आगम-विरुद्ध है और मानवता की भी घोर विरोधी है। वास्तविकता तो यह है कि दया, दान, करुणा, अनुकंपा, सेवा, सरलता, मृदुता आदि सद्प्रवृत्तियों व शुभयोग से तथा समिति गुप्ति, संयम आदि समस्त साधनाओं से पाप कर्मों के आस्रव का निरोध अर्थात् संवर होता है तथा पाप कर्मों का क्षय अर्थात् निर्जरा होती है। पाप कर्मों के संवर व निर्जरा से ही मुक्ति की उपलब्धि होती है। संक्षेप में कहें तो दोष या पाप से आत्मा-अशुद्ध-अपवित्र होती है। दोष या पाप प्राणी के करने से होता है, स्वतः नहीं होता है। अतः दोष के त्याग से, दोष न करने से आत्मा निर्दोष पवित्र होती है, जिससे पुण्य कर्मों का आस्रव व अनुबंध होता है। आशय यह है कि पुण्य कर्मों का आस्रव व अनुबंध निर्दोषता से, पाप के त्याग से स्वतः होता है, किया नहीं जाता है। अतः साधक पर पाप के त्याग का ही दायित्व है, पुण्य का नहीं। पुण्यास्रव व अनुबंध पाप के त्याग से होता है। अतः पुण्य कर्म में भी महत्त्व पाप के त्याग का ही है।

उपसंहार

जैन दर्शन में कर्म सिद्धांत का उद्देश्य जीव की कर्मजन्य विविध अवस्थाओं का यथातथ्य वर्णन करना है और तत्त्वज्ञान का उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति को लक्ष्य में रखकर आत्म-विकास व साधनाओं का वर्णन करना है। कर्म मुख्यत: दो प्रकार के हैं-शुभ और अशुभ। शुभ कर्म वे हैं जो जीव के लिए हितकर, कल्याणकारी, मंगलकारी हैं, आत्मा को पवित्र करने वाले हैं, जो जीव के किसी भी गुण का घात करने वाले नहीं हैं। इन्हें पुण्य कर्म कहा गया है और अशुभ कर्म वे हैं जो आत्मा का पतन करने वाले हैं, अहितकर हैं, इन्हें पाप कर्म कहा गया है। पाप कर्म आत्मा के गुणों का घात करने वाले हैं और मुक्ति में बाधक हैं। अत: पाप कर्मों को आधार बनाकर ही आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध व मोक्ष तत्त्व का वर्णन किया गया है। इन तत्त्वों में पुण्य को ग्रहण नहीं किया गया है। कारण कि पुण्य से आत्मा पवित्र होती है, मुक्ति की ओर बढ़ती है, पुण्य मुक्ति में सहायक है, बाधक व घातक नहीं है। अत: परिणामों की विशुद्धि रूप पुण्य तत्त्व से उपार्जित पुण्य कर्मों का आस्रव व अनुभाग जीव के किसी भी गुण का घातक नहीं है। समस्त पुण्य कर्म प्रकृतियाँ पूर्ण रूपेण अघाती हैं, लेश मात्र भी अहितकर नहीं हैं, अत: मुक्ति प्राप्ति के लिए इनके संवर, निर्जरा व क्षय की आवश्यकता ही नहीं है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, संयम, त्याग, तप आदि किसी भी साधना से पुण्य के आस्रव का निरोध व अनुभाग का क्षय नहीं होता है, अपितु वृद्धि होती है। अत: मुक्ति प्राप्ति के अंतिम क्षण तक इनकी सत्ता व उदय रहता है तथा इनका अनुभाग उत्कृष्ट व अक्षुण्ण रहता है। निर्वाण प्राप्ति के समय जब देह का अवसान होता है तब इनका भी स्वत: अवसान हो जाता है अत: यह मान्यता कि- ''पुण्य कर्म साधना में, वीतरागता में, आत्म विकास में बाधक है, इसलिये

हेय व त्याज्य है'' तथ्य हीन है, निराधार है तथा कर्म सिद्धांत, तत्त्वज्ञान, युक्ति और आगम विरुद्ध है।

जैन दर्शन में तत्त्व का निरूपण पाप कर्मों को ही लक्ष्य में रखकर किया गया है, पुण्य कर्मों को लेकर नहीं। कारण कि पाप आत्मा के पतन से होता है और पुण्य आत्मा के उत्थान से होता है। अत: ये दोनों परस्पर में विरोधी हैं। अत: आस्रव, संवर, निर्जरा व मोक्ष तत्त्व में जो भेद पाप की अपेक्षा से होंगे, ठीक उसके विपरीत पुण्य की अपेक्षा से होंगे। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व में परस्पर में विरोधी भेदों को स्थान देना होगा, जिससे तत्त्व का स्वरूप ही लुप्त हो जाने का प्रसंग उत्पन्न हो जायेगा। अत: तत्त्व का निरूपण पाप कर्मों के त्याग को ही लक्ष्य में रखकर किया गया है, पुण्य कर्मों के त्याग को नहीं।

❑❑❑

(७)

पुण्य का उपार्जन कषाय की कमी से और पाप का उपार्जन कषाय की वृद्धि से

संसारी जीव के नवम गुणस्थान तक आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों का बंध निरंतर होता रहता है। यह बंध चार प्रकार का है-प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध। प्रदेश बंध न्यून हो या अधिक हो इससे स्थिति बंध एवं अनुभाग बंध में कोई अंतर नहीं पड़ता है अर्थात् प्रदेश बंध की न्यूनाधिकता से कर्मों की स्थिति एवं फल में हानि-वृद्धि नहीं होती है। सातों ही कर्मों की समस्त पुण्य-पाप प्रकृतियों का स्थिति बंध कषाय से होता है अर्थात् इनका स्थिति बंध कषाय की वृद्धि से बढ़ता है तथा कषाय की मंदता से घटता है। कषाय अधिक है या कम अशुभ है। अत: पुण्य-पाप प्रकृतियों का स्थिति बंध अधिक है या कम अशुभ ही है। इसलिये कर्म की शुभता-अशुभता अर्थात् पुण्य-पाप का संबंध कर्मों के प्रदेश व स्थिति बंध से न होकर अनुभाग या फलदान शक्ति से है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अंतराय इन चार घाती कर्मों में पाप और पुण्य दोनों प्रकार की प्रकृतियाँ होती हैं। इनमें पाप प्रकृतियों का उपार्जन कषाय के उदय से होता है और पुण्य प्रकृतियों का उपार्जन कषाय के क्षय (क्षीणता) से होता है।

कषाय के क्षय या कमी से आत्मा पवित्र होती है और आत्मा का

पवित्र होना ही पुण्यत्व है अर्थात् शुभ भाव से पुण्य कर्म का उपार्जन होता है तथा अशुभ भाव से अर्थात् दुष्प्रवृत्ति से पाप कर्म का उपार्जन होता है। पाप अठारह हैं। इनमें से कर्मबंध में चार कषाय मुख्य हेतु हैं, यथा-क्रोध, मान, माया और लोभ। भगवती सूत्र शतक 12 उद्देशक 5 में क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों के एकार्थक नाम दिये हैं। वहाँ क्रोध के लिए अक्षमा व द्वेष शब्दों का, मान के लिए मद शब्द का, माया के लिए जिह्मता, वक्रता शब्दों का और लोभ के लिए मूर्च्छा, परिग्रह, तृष्णा शब्दों का ग्रहण किया गया है। अतः इन चारों कषायों के क्षय या कमी से चार गुण प्रकट होते हैं-1. क्रोध, अक्षमा और द्वेष की कमी (क्षीणता) व त्याग से क्षमा गुण, 2. मान, मद के क्षय (क्षीणता) व त्याग से मृदुता गुण 3. माया-वक्रता के क्षय व त्याग से ऋजुता, सरलता गुण और 4. लोभ मूर्च्छा (परिग्रह) व तृष्णा के क्षय (क्षीणता) व त्याग से संतोष गुण प्रकट होता है। इन्हें आगम की भाषा में खंति (क्षमा), मद्दवे (मार्दव), अज्जवे (ऋजुता), मुत्ती (मुक्ति-निर्लोभता) भी कहा गया है। स्थानांग सूत्र के दसवें स्थान में इन्हें धर्म कहा गया है। कारण कि इन्हीं गुणों के प्रकट होने से जीव के विभाव रूप घाती कर्मों का क्षय होता है और पुण्य रूप अघाती कर्मों का उपार्जन होता है। आगे इसी पर प्रकाश डाला जा रहा है-

साता-असाता वेदनीय कर्म का उपार्जन

वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियाँ हैं-1. साता वेदनीय और 2. असाता वेदनीय। इन दोनों प्रकृतियों के हेतु कहे गये हैं-

कहं णं भंते! जीवाणं सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति? गोयमा! पाणाणुकंपाए, भूयाणुकंपाए, जीवाणुकंपाए, सत्ताणुकंपाए, बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए, असोयणट्टाए, अजूरणयाए, अतिप्पणयाए, अपिट्टणयाए, अपरियावणयाए एवं खलु गोयमा! जीवाणं सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति।।

.....कहं णं भंते! जीवाणं असायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति? गोयमा! पर-दुक्खणयाए, परसोयणयाए, परजूरणयाए, परतिप्पणयाए, परपिट्टणयाए, पर परियावणयाए, बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं दुक्खणयाए, सोयणयाए जाव परियावणयाए, एवं खलु गोयमा! जीवाणं असायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति।। -भगवती सूत्र शतक 7, उद्देशक 6

प्रश्न-हे भगवन्! जीव साता वेदनीय कर्म का उपार्जन किस प्रकार करते हैं?

उत्तर-हे गौतम! प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों पर अनुकंपा करने से, बहुत से प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को दु:ख न देने से, उन्हें शोक उत्पन्न न करने से अथवा शोक दूर करने से, उन्हें खेदित व पीड़ित न करने व न पीटने से तथा उनकी पीड़ा-परिताप दूर करने से जीव साता वेदनीय कर्म का उपार्जन करते हैं।

प्रश्न-हे भगवन्! जीव असातावेदनीय कर्म का उपार्जन किस प्रकार करते हैं?

उत्तर-हे गौतम! दूसरे जीवों को 1. दु:ख देने से 2. शोक उत्पन्न करने से 3. खेद उत्पन्न करने से 4. पीड़ित करने से 5. पीटने से 6. परिताप उत्पन्न करने से 7. बहुत से प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों को दु:ख देने से, शोक उत्पन्न करने से यावत् परिताप उत्पन्न करने से जीव असाता वेदनीय कर्म का उपार्जन करते हैं।

भगवती सूत्र के उपर्युक्त उद्धरण में सातावेदनीय का हेतु अनुकंपा को एवं असातावेदनीय का हेतु क्रूरता को कहा है। अनुकंपा का हेतु क्रोध कषाय की क्षीणता है जैसा कि कहा है-

''कोहविजएणं खंतिं जणयइ''

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 29, सूत्र 67

खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ। पल्हायणभावमुवगए य सव्व-पाण-भूय-जीव-सत्तेसु मित्तीभावमुप्पाएइ।।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 29, सूत्र 17

''सर्वप्राणिषु मैत्री अनुकम्पा''

-राजवार्तिक अध्ययन 1, सूत्र 2

अर्थात् क्रोध के विजय (क्षय) से क्षमा गुण प्रकट होता है। क्षमापना से मैत्रीभाव उत्पन्न होता है और सर्व प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव होना ही अनुकम्पा है। अनुकम्पा से ही सातावेदनीय कर्म का उपार्जन होता है। तात्पर्य यह है कि क्रोध कषाय के क्षय (क्षीणता) से सातावेदनीय कर्म का उपार्जन होता है, साथ ही चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय भी होता है। जैसा कि कहा है-

अणुस्सुयाए णं जीवे अणुकंपए, अणुब्भडे, विगयसोगे, चरित्त-मोहणिज्जं कम्मं खवेइ।। -उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 29, सूत्र 29

अर्थ-प्राणी में विषयों के प्रति विरति से अनुकंपा पैदा होती है तथा वह उद्धत एवं शोक रहित होकर चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय कर देता है, जिससे वीतरागता की उपलब्धि होती है।

अभिप्राय यह है कि कषाय के क्षय से क्षमा गुण, क्षमा से मैत्रीभाव, मैत्रीभाव से अनुकंपा गुण प्रकट होता है। क्षमाशीलता आदि गुणों से युक्त जीव ही सब जीवों के प्रति वैरभाव का त्याग कर उनके सब अपराधों को क्षमा कर सकता है जैसा कि कहा है-**कोहो पीइं पणासेइ** (दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन 8, गाथा 38) अर्थात् क्रोध प्रीति का नाश

करता है। अतः जहाँ क्रोध नहीं है वहाँ ही प्रीति भाव है। प्रीति ही मैत्री है। मैत्री जहाँ होती है वहाँ वैर भाव नहीं होता-क्षमा भाव होता है। कहा भी है-

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणइ।।

-आवश्यक सूत्र, पाँचवाँ आवश्यक

अर्थात् मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करें। सब प्राणियों के प्रति मेरा मैत्री भाव है, मेरा किसी से भी वैर नहीं है। इस भाव से हृदय में प्रीति उमड़ती है जो प्राणियों की पीड़ा-शोक आदि दुःखों को दूर करने वाले अनुकंपा गुण के रूप में प्रकट होती है। जिससे साता वेदनीय कर्म का उपार्जन होता है।

सातावेदनीय के विपरीत असातावेदनीय है। क्रोध कषाय के उदय से द्वेष और वैरभाव उत्पन्न होता है। जिससे वह दूसरों के प्रति क्रूरता या असाता उपजाने का व्यवहार करने लगता है और स्वयं द्वेष और वैरभाव की अग्नि में जलने लगता है, जिससे अशांति और खिन्नता का अनुभव होता है। यही असातावेदनीय कर्म का हेतु है।

सारांश यह है कि क्रोध कषाय की क्षीणता से सातावेदनीय एवं क्रोध कषाय के उदय से असातावेदनीय कर्म का उपार्जन होता है।

शुभ आयु कर्म का बंध

आयु कर्म की चार प्रकृतियाँ हैं। इनमें 1. तिर्यंच आयु 2. मनुष्य आयु और 3. देव आयु पुण्य प्रकृतियाँ हैं। मनुष्य आयु और देव आयु का निर्माण तृष्णा-लोभ की कमी से होता है अर्थात् जितना-जितना आरंभ-परिग्रह घटता जाता है उतनी-उतनी शुभ आयु अधिक होती है। अभिप्राय

यह है कि लोभ कषाय की कमी शुभ आयु में वृद्धि की हेतु है, यथा-शुभ आयु कर्म मनुष्य-देव-आयु के बंध के हेतु हैं।

गोयमा! पगइभद्दयाए पगइविणीययाए, साणुक्कोसणयाए,
अमच्छरियाए मणुस्साउयकम्मा जाव पओगबंधे।।
गोयमा! सरागसंजमेणं, संजमासंजमेणं, बालतवोकम्मेणं,
अकामणिज्जराए, देवाउयकम्मासरीर जाव पओगबंधे।।

-भगवती सूत्र शतक 8, उद्देशक 9, सूत्र 82-83

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य।।18।।
निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम्।।19।।
सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि देवस्य।।20।।

-तत्त्वार्थ सूत्र, अध्ययन 6

अर्थात् प्रकृति की भद्रता, विनीतता, मृदुता, दयालुता, अमत्सर तथा आरंभ, परिग्रह की अल्पता से मनुष्य आयु का बंध होता है। सरागसंयम, संयमासंयम (देश विरति), बालतप और अकाम निर्जरा से देवायु का बंध होता है।

मनुष्य और देव आयु में मुख्य हेतु आरंभ परिग्रह के त्याग एवं संयम हैं। सराग संयम, संयमासंयम भी आरंभ-परिग्रह के त्याग के सूचक हैं। अभिप्राय यह है कि लोभ-तृष्णा के त्याग में शुभ आयु का बंध होता है।

अशुभ आयु कर्म का बंध

अशुभ आयु कर्म में नरकायु का बंध होता है, जिसके हेतु के विषय में कहा गया है-**गोयमा! महारंभयाए, महापरिग्गहाए, कुणिमाहारेणं, पंचिंदियवहेणं, नेरइयाउयकम्मासरीरप्पओगनामाए कम्मस्स उदएणं नेरइयकम्मा सरीर-जाव पओगबंधे।।**

-भगवती सूत्र शतक 8, उद्दे. 9

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः।।

-तत्त्वार्थ सूत्र अध्ययन 6, सूत्र 16

अर्थ-हे गौतम! महारंभ, महापरिग्रह, मांसाहार एवं पंचेन्द्रिय जीवों के वध से नरक आयु का बंध होता है।

बहुत आरंभ, परिग्रह आदि तृष्णा या लोभ से ही होते हैं। अतः नरकायु के बंध का मुख्य हेतु लोभ कषाय का उदय ही है। तात्पर्य यह है कि लोभ कषाय की क्षीणता व कमी से मनुष्य और देव संबंधी शुभ आयु का और लोभकषाय की वृद्धि से नरक की अशुभ आयु का बंध होता है।

नाम कर्म

नाम कर्म दो प्रकार का है-शुभ नाम कर्म और अशुभ नाम कर्म। अशुभ नाम कर्म का अर्थात् नाम कर्म की पुण्य प्रकृतियों का उपार्जन माया कषाय की क्षीणता से होता है एवं अशुभ नाम कर्म का अर्थात् नाम कर्म की पाप प्रकृतियों का अर्जन एवं बंध माया कषाय के उदय से होता है, यथा-

शुभनामकर्म का उपार्जन

मायमज्जवभावेण

-दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन 8, गाथा 39

माया-विजएणं अज्जवं जणयइ।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 29, सूत्र 69

अज्जवयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ? अज्जवयाए णं काउज्जुययं, भावुज्जुययं, भासुज्जुययं, अविसंवायणं जणयइ। अविसंवायण-संपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ।। -उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 29, सूत्र 48

गोयमा! काउज्जुययाए, भावुज्जुययाए, भासुज्जुययाए, अविसंवायण-जोगेणं सुभनामकम्मासरीर-जाव पओगबंधे। -भगवती सूत्र 8.9.84

योगवक्रताविसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः। विपरीतं शुभस्य।

-तत्त्वार्थसूत्र, अध्ययन 6, सूत्र 21-22

अर्थ-माया कषाय को ऋजुभाव से जीते अर्थात् माया को जीतने से जीव ऋजुभाव को प्राप्त करता है। ऋजुता (सरलता) से जीव काया की सरलता, भावों की सरलता, भाषा (वचन) की सरलता और अविसंवादिता को प्राप्त करता है जिससे धर्म का आराधक होता है। काया की सरलता, भाव की सरलता, भाषा (वाणी) की सरलता तथा अविसंवादन योग शुभ नामकर्म के हेतु हैं।

अशुभ नाम कर्म का उपार्जन

गोयमा! कायअणुज्जयाए·····जाव विसंवायणजोगेणं पओगबंधे।

-भगवती सूत्र 8.9

अर्थ-काया की वक्रता से, भाव की वक्रता से, भाषा की वक्रता से और विसंवाद योग से अशुभ नाम कर्म की प्रकृतियों का बंध होता है।

उपर्युक्त आगम सूत्रों से स्पष्ट है कि अऋजुता से, वक्रता से अर्थात् माया कषाय के उदय से अशुभ नाम कर्म की प्रकृतियों का अर्जन (आस्रव) एवं बंध होता है तथा ऋजुता से, सरलता से अर्थात् माया कषाय की क्षीणता व कमी से शुभ नामकर्म की प्रकृतियों का उपार्जन होता है।

उच्च गोत्र कर्म का उपार्जन

गोत्र कर्म के दो भेद हैं-नीच गोत्र एवं उच्च गोत्र। इनमें से नीच गोत्र पाप प्रकृति है, जिसका उपार्जन (आस्रव) मद से अर्थात् मान कषाय के उदय से होता है तथा उच्च गोत्र पुण्य प्रकृति है जिसका उपार्जन मृदुता से अर्थात् मान कषाय के क्षय व कमी से होता है। जैसा कि कहा है-

माणं मद्दवया जिणे।

-दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन 8, गाथा 39

माणविजएणं मद्दवं जणयइ।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 29, सूत्र 68

मद्दवयाए णं अणुस्सियत्तं जणयइ। अणुसियत्तेणं जीवे मिउ-मद्दव-संपन्ने अट्ठ-मयट्ठाणाइं निट्ठावेइ।। -उत्तराध्ययन, अध्ययन 29, सूत्र 49

गोयमा! जाइअमएणं, कुलअमएणं, बलअमएणं, रूवअमएणं, तवअमएणं, सुयअमएणं, लाभअमएणं, इस्सरियअमएणं उच्चगोयकम्मासरीरं जाव पओगबंधे। -भगवती सूत्र, शतक 8, उद्देशक 9

अर्थ-मान कषाय को मृदुता से जीते अर्थात् मान कषाय पर विजय से मृदुता गुण प्रकट होता है। मृदुता से जीव अनुद्धतभाव को प्राप्त होता है। अनुद्धतभाव (विनय) से, मृदुता से जीव आठ मदों को नष्ट कर देता है। जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपमद, श्रुतमद, लाभमद और ऐश्वर्यमद इन आठ मदों को न करने से उच्च गोत्र का बंध होता है।

नीच गोत्र का उपार्जन

गोयमा! जाइमएणं, कुलमएणं, बलमएणं, जाव इस्सरियमएणं णीयागोयकम्मा जाव पओगबंधे। -भगवती, शतक 8, उद्देशक 9, सूत्र 87

अर्थ-जातिमद, कुलमद आदि उपर्युक्त आठ मद करने से अर्थात् मान कषाय के उदय से नीच गोत्र रूप पाप प्रकृति का बंध होता है।

यह नियम है कि प्राणी जिस वस्तु का मद या अभिमान करता है अर्थात् जिस वस्तु के आधार पर अपना मूल्यांकन करता है, उस वस्तु का मूल्य व महत्त्व बढ़ जाता है और उस स्वयं का मूल्य घट जाता है। जिसके पास वह वस्तु उससे अधिक है उसके समक्ष अपने को दीन-हीन अनुभव करता है, उससे अपने को निम्न स्तर का, निम्न श्रेणी का मानता है। वह हीनता और अभिमान की अग्नि में जलता रहता है। यह हीनता-दीनता की

भावना ही नीच गोत्र का हेतु है। इसके विपरीत जो व्यक्ति अपना मूल्यांकन वस्तु के आधार पर नहीं करता वह मद रहित निरभिमानी हो जाता है। उसमें उच्च-नीच भाव, छोटे-बड़े का भाव, गुरु-लघु, हीन-दीन भाव पैदा नहीं होता है, यही निरभिमानता एवं अगुरु-लघुत्व उच्च गोत्र के उपार्जन के हेतु हैं।

तात्पर्य यह है कि मान कषाय के उदय से उत्पन्न मद से नीच गोत्र का उपार्जन एवं बंध होता है और मान कषाय के क्षय से विनम्रता, मृदुता से उच्च गोत्र का उपार्जन होता है।

पूर्वोक्त विवेचन एवं आगमों के उद्धरणों से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि कषायों के क्षय से पुण्य का उपार्जन एवं कषायों के उदय से पाप का अर्जन होता है। उत्तराध्ययन सूत्र के अध्ययन 29 में 73 बोलों की पृच्छा है। वहाँ पर तथा भगवती आदि सूत्रों में सर्वत्र पापों के क्षय का ही विधान है। कहीं पर भी पुण्य के क्षय करने का विधि-विधान नहीं आया है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि संसारी जीव के नवम गुणस्थान तक आयु कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों का प्रतिक्षण बंध होता रहता है। इन कर्मों के बंध के कारण क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय का उदय है। इनमें से प्रत्येक कषाय के उदय से सातों कर्मों की पुण्य-पाप प्रकृतियों का उपार्जन व बंध होता है और कषाय के क्षय से कर्म बंध का क्षय होता है, परंतु उपर्युक्त विवेचन के अनुसार किसी कषाय के क्षय से किसी विशेष एक कर्म की पाप प्रकृतियों का क्षय और पुण्य प्रकृतियों के उपार्जन का कारण माना जाय तो शेष कर्मों का बंध किससे हो सकता है?

उत्तर में कहना होगा कि ऊपर पृथक्-पृथक् कषाय के क्षीण होने

से पृथक्-पृथक् कर्म की पाप प्रकृतियों का क्षय और पुण्य प्रकृतियों का उपार्जन बताया गया है, वह स्थिति बंध की अपेक्षा से नहीं है, किंतु अनुभाग बंध की न्यूनाधिकता की अपेक्षा से समझना चाहिये। उदाहरणार्थ- काया की, भावों की, भाषा की सरलता और अविसंवाद से नाम की शुभ प्रकृतियों का उपार्जन होना बताया है। इसका अभिप्राय यह है कि इनसे सातों कर्मों की समस्त प्रकृतियों के स्थिति बंध का एवं पाप प्रकृतियों का क्षय व शुभ प्रकृतियों के अनुभाग में विशेष वृद्धि होती है। इसी प्रकार अन्य कषायों के क्षय से समझना चाहिये। इसके विपरीत किसी कषाय के उदय से सातों कर्मों के पाप कर्मों के स्थिति बंध में वृद्धि होती है, परंतु किसी कर्म विशेष की पाप प्रकृतियों के अनुभाग में विशेष वृद्धि होती है।

फलितार्थ यह है कि कषाय के क्षय से दो प्रकार के फल मिलते हैं यथा-1. पाप कर्मों का क्षय होता है 2. पुण्य कर्मों का उपार्जन होता है अथवा यों कहें कि कषाय क्षय का आभ्यंतरिक फल है क्षमा, सरलता, मृदुता आदि धर्मों की उपलब्धि होना और बाह्य फल सातावेदनीय, उच्च गोत्र, शुभ नाम आदि पुण्य प्रकृतियों का उपार्जन होना है।

इस प्रकार कषाय के क्षय व कमी से, आभ्यंतरिक फल के रूप में आध्यात्मिक विकास एवं बाह्य फल के रूप में भौतिक विकास होता है। भौतिक विकास पुण्य-प्रकृतियों के रूप में प्रकट होता है। इससे यह भी फलित होता है कि भौतिक विकास आध्यात्मिक विकास का घातक व विरोधी नहीं है, प्रत्युत आध्यात्मिक विकास का आनुषंगिक फल है और भौतिक विकास का सदुपयोग आध्यात्मिक विकास में सहायक व सहयोगी है। आशय यह है कि भौतिक विकास का सदुपयोग दया, अनुकंपा, करुणा से करने से भोग-वासनाओं का राग गलता है जिससे आध्यात्मिक विकास

होता है। इसके विपरीत भौतिक विकास के दुरुपयोग रूप भोग-प्रवृत्ति से आत्मिक अध:पतन होता है। अत: महत्त्व पुण्य कर्म से प्राप्त भौतिक विकास के सदुपयोग का है। इस प्रकार भौतिक विकास आध्यात्मिक विकास का सहयोगी कारण हो सकता है।

भौतिक विकास है इन्द्रिय, मन, वचन, काया आदि की प्राण शक्तियों का विकास होना। प्राण शक्ति का विकास ही प्राणी का विकास है। पुण्य के सदुपयोग से शुभ आयु का, उच्चगोत्र से उदात्तभावों का, शुभ वेदनीय से संवेदनशीलता का, शुभ नामकर्म से पाँच इन्द्रिय, मन, वचन, काय रूप करणों का निर्माण एवं इनकी शक्ति का विकास होता है।

❑❑❑

(10)

क्षयोपशमादि भाव, पुण्य और धर्म

जीव के शुभाशुभ परिणाम या भाव ही कर्म-बंध के एवं मुक्ति के हेतु हैं। भाव पाँच हैं-औदयिक, क्षायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक एवं पारिणामिक। इन भावों में से कौनसे भाव कर्म बंध के हेतु हैं और कौनसे भाव कर्म क्षय के या मोक्ष के हेतु हैं, इस संबंध में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों को यह गाथा मान्य है-

ओदइया बंधयरा उवसमखयमिस्सया य मोक्खयरा।
भावो दु पारिणामिओ करणो य वज्जिओ होइ।।

अर्थ-औदयिक भावों से कर्म बंध होता है, औपशमिक, क्षायिक और मिश्र (क्षायोपशमिक) भावों से मोक्ष होता है और पारिणामिक भाव बंध और मोक्ष इन दोनों का कारण नहीं है।

इस गाथा में औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इन तीनों भावों को मोक्ष का हेतु कहा है। जो मोक्ष का हेतु है, वह धर्म होता है। अतः इससे यह फलित होता है कि जैसे औपशमिक भाव और क्षायिक भाव धर्मरूप हैं, वैसे ही क्षायोपशमिक भाव भी धर्म हैं। कारण कि क्षायोपशमिक भाव स्वभाव है क्योंकि वह किसी कर्म के उदय से नहीं होता है, अपितु कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के क्षय व उपशम से होता है।

यहीं प्रश्न उठता है कि यदि क्षयोपशम भाव को धर्म माना जाये तो क्षयोपशम भाव तो मिथ्यात्वी के भी होता है। अतः उसके भी धर्म होना मानना होगा जबकि आगम में सम्यग्दर्शन के पश्चात् ही धर्म होना माना है सम्यग्दर्शन के पूर्व नहीं। इस प्रकार इन दोनों मान्यताओं में विरोध प्रतीत होता है। इसका समाधान क्या है?

उपर्युक्त प्रश्न मौलिक है। इसके समाधान के लिए व्यावहारिक एवं आगमिक तथा सामान्य एवं विशेष दृष्टि से विचार करना होगा। सामान्य दृष्टि गुण स्वभाव है, अतः धर्म है और दोष कृत्रिम है, अतः अधर्म है, पाप है। दोष की उत्पत्ति प्राणी की भूल से होती है, अतः दोष का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। इसे दूसरे शब्दों में कहें तो गुण की कमी का नाम ही दोष है। गुण का पूर्ण अभाव कभी नहीं होता, केवल कमी ही हो सकती है। यही कारण है कि कोई भी प्राणी कभी पूर्ण दोषी या पापी नहीं हो सकता। क्योंकि कोई पूर्ण दोषी या पापी हो जाये तो उसके गुण पूर्ण रूप से नष्ट हो जायेंगे, जिससे चेतन 'चेतन' न रहकर जड़ हो जायेगा, परंतु ऐसा कभी होता नहीं। प्रकारान्तर से कहें तो प्रत्येक प्राणी गुण दोष युक्त होता है। गुण जीव का स्वभाव है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती। उत्पत्ति दोष की होती है। अतः निवृत्ति भी दोष की होती है। दोष की निवृत्ति से गुण की अभिव्यक्ति होती है उत्पत्ति नहीं, क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है उसका विनाश अवश्य होता है। गुण का नाश कभी नहीं होता, उस पर आवरण आता है या अंतराय (अंतराल) पड़ती है।

गुण स्वभाव रूप होने से धर्म है और स्वभाव में कमी होना दोष है, जो अधर्म है। पहले कह आये हैं कि प्रत्येक प्राणी में आंशिक गुण व आंशिक दोष हैं। अतः प्रत्येक प्राणी में आंशिक धर्म व आंशिक अधर्म

(दोष-पाप) है। इस दृष्टि से प्रत्येक प्राणी या सभी सांसारिक प्राणी धर्मात्मा भी हैं व पापात्मा भी हैं। फिर किसे धर्मात्मा कहें और किसे पापात्मा? ऐसी स्थिति में पापी व धर्मी में भेद ही नहीं किया जा सकेगा। सभी एक समान हो जायेंगे, जिससे पापी व धर्मात्मा की पहचान करना कठिन हो जायेगा। वास्तविकता तो यह है कि इस आंशिक गुण-दोष रूप धर्म-अधर्म का विशेष महत्त्व नहीं है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी के प्रतिक्षण उसके गुण दोष में, हानि-वृद्धि अर्थात् न्यूनाधिकता होती ही रहती है। दोष की न्यूनता अथवा आंशिक गुणों की अभिव्यक्ति को ही क्षयोपशम कहा जाता है।

मिथ्यादृष्टि के क्षमा, सरलता, नम्रता, करुणा आदि गुणों की उपलब्धि भी दोषों के क्षयोपशम से ही होती है। शुभ योग भी विशुद्धि भाव से अर्थात् क्षयोपशम भाव से ही होते हैं, किसी कर्म के उदय से नहीं होते हैं। अतः स्वभाव है, धर्म है, विभाव व अधर्म नहीं है। प्रज्ञाचक्षु पं. श्री सुखलालजी संघवी के तत्त्वार्थ सूत्र अध्ययन 2 सूत्र 1-7 में टीका में स्पष्ट कहा है कि औदयिक भाव विभाव है और शेष चार भाव (क्षायोपशमिक, क्षायिक आदि) स्वभाव है। पंडितजी ने इसी सूत्र के अध्ययन 5 सूत्र 6 की टीका में असंयमी के क्षमा आदि गुणों को सामान्य धर्म कहा है। तात्पर्य यह है कि क्षमा, सरलता, दया, आदि गुण क्षायोपशमिक भाव मिथ्यादृष्टि के भी होते हैं और वे स्वभाव व धर्म हैं। परंतु ये सामान्य धर्म हैं और यह सामान्य धर्म सभी प्राणियों में न्यूनाधिक पाया जाता है। परंतु जब तक क्षायिक भाव से कर्मों का मूल से क्षय नहीं होता तब तक मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। अतः जो महत्त्व कर्मों के क्षय होने का है वह क्षयोपशम का नहीं। कारण कि सामान्य धर्म में हानि वृद्धि होती ही रहती है और किसी न किसी अंश में तत्संबंधी दोष का उदय भी बना ही रहता है।

दोष का ही दूसरा नाम राग-द्वेष रूप कषाय है। कषाय चार प्रकार का है-1. अनंतानुबंधी 2. अप्रत्याख्यानावरण 3. प्रत्याख्यानावरण और 4. संज्वलन। सम्यक्त्व के अभाव में अनंतानुबंधी कषाय के अनुभाग की न्यूनता को विशुद्धि या पुण्य व अनुभाग की वृद्धि को संक्लेश या पाप कहा जाता है। कषाय की न्यूनता से चेतना के दर्शन गुण रूप संवेदन शक्ति के आवरण में व ज्ञान गुण के आवरण में कमी हो जाती है, जिससे इन गुणों की अभिव्यक्ति में वृद्धि होती है। यही विकास पुण्य तत्त्व का द्योतक है। यही कारण है कि विशुद्धि की वृद्धि से बाह्य जगत् से संबंध रखने वाले अघाती कर्म की वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र की अधिकांश पाप प्रकृतियों का बंध रुक जाता है और गति, जाति, संहनन, संस्थान, आयु, गोत्र आदि की पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग का सर्जन होता है।

जिस प्रकार अनंतानुबंधी के क्षय व उपशम से जो चेतना का शुद्ध स्वरूप प्रकट होता है, वह धर्म है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण व संज्वलन कषाय के क्षय या उपशम से चारित्र की विशुद्धि होती है वही धर्म कहा गया है। इन कर्मों के अनुभाग व स्थिति की कमी को धर्म नहीं कहा गया है।

उपर्युक्त धर्म की व्याख्या साधना की दृष्टि से है जो गुण के पूर्ण शुद्ध रूप विशुद्धि को लेकर कही गई है। अन्यथा तो आंशिक विशुद्धि भी स्वभाव को ही प्रगट करती है। अतः वह भी व्यावहारिक दृष्टि से धर्म ही है। इस दृष्टि से क्षयोपशम, शुभ प्रवृत्ति या पुण्य प्रवृत्ति भी धर्म ही है। धर्म की इन दोनों व्याख्याओं में विरोध या मौलिक भेद नहीं है। यह भेद केवल लक्ष्य व लाक्षणिक दृष्टि से है।

इसे लक्ष्यभेद इस रूप में कहा जा सकता है कि जो कार्य जिस

लक्ष्य से किया जाता है वह उसी का अंग होता है और उसी नाम से कहा जाता है। जैसे जिस महिला का लक्ष्य भोजन बनाना है, उस महिला की भोजन बनाने संबंधी जितनी क्रियाएँ हैं वे सब भोजन बनाने रूप कार्य की ही अंग हैं। भोजन के लिए स्टोव जलाना, कोयले फोड़ना, जल लाना, आटा गूँथना आदि कार्य करते हुए उसे पूछा जाय कि क्या कर रही हो? तो इन सबका एक ही उत्तर होगा-भोजन बना रही हूँ। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य मुक्ति-प्राप्ति रूप धर्म होने से उसकी तद्विषयक प्रत्येक क्रिया धर्म कही जाती है तथा मिथ्यादृष्टि का लक्ष्य विषय-सुख का भोग होने से उसका प्रत्येक कार्य उसी का अंग कहलाता है। यह भेद लक्ष्य की दृष्टि से है अन्यथा तो मिथ्यादृष्टि का क्षयोपशम व विशुद्धि भाव भी कर्मक्षय का ही हेतु है, बंध का नहीं। यही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में भी हेतु है, जैसा कि कहा है-

खयउवसमिया विसोही देसणापाउग्गा करणलद्धी य।
चत्तारि वि सामण्णा करण पुण होइ सम्मत्ते।।

-धवला पुस्तक 6, पृष्ठ 204 व गोम्मटसार जीव कांड गाथा 651

अर्थात् सम्यक्त्व-प्राप्ति में क्षायोपशमिक, विशुद्धि (पुण्य), देशना, प्रायोग्य और करण, ये पाँच लब्धियाँ होती हैं। इनमें से चार सामान्य हैं, जो करणलब्धि में सहायक होती हैं। इस दृष्टि से मिथ्यादृष्टि के क्षायोपशमिक व विशुद्धि (पुण्य) भाव भी धर्म ही हैं। धर्म का यह भेद लक्षण की दृष्टि से है। सामान्य धर्म से पृथक् करने वाले विशेष असाधारण धर्म को लक्षण कहा जाता है। धर्म के इस लाक्षणिक भेद को समझने के लिए औदयिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक व औपशमिक भाव को दृष्टिगत करना होगा।

कर्मों के उदयजन्य भाव को औदयिक भाव कहा जाता है। उदय

दो प्रकार का है-घातीकर्म और अघाती कर्म रूप। घाती कर्म के उदय में आंशिक कमी को क्षायोपशमिक भाव कहा जाता है। उदय रूप दोष के सर्वथा क्षय को क्षायिक भाव व उदय के पूर्ण उपशम को औपशमिक भाव कहा जाता है।

औदयिक भाव आत्मा के निज स्वरूप या स्वभाव रूप धर्म की घात करने वाला होने से इसे अधर्म या पाप कहा जाता है। क्षायोपशमिक भाव से आत्मा के आंशिक गुण प्रकट होते हैं व क्षायिक व उपशम भाव से पूर्ण गुण प्रकट होते हैं। अत: ये तीनों भाव आत्मा के गुण स्वभाव को प्रकट करने वाले होने से धर्म हैं। परंतु इन तीनों भावों में से दोषों की कमी रूप क्षायोपशमिक भाव न्यूनाधिक रूप से सभी जीवों में पाया जाता है। अत: क्षायोपशमिक भाव सभी जीवों का सामान्य धर्म हुआ।

इस सामान्य धर्म से पृथक् करने वाला अर्थात् असामान्य कोटि का, दोष को पूर्ण क्षय करने वाला क्षायिक भाव व दोष उपशम करने वाला औपशमिक भाव ये दोनों भाव अपनी विशेषता रखते हैं। इसी विशेष धर्म को, सामान्य धर्म से पृथक् करने वाला होने की दृष्टि से इन्हीं को धर्म माना है। परंतु इससे सामान्य धर्म का महत्त्व कम नहीं हो जाता है। जैसे हायर सैकेण्डरी शिक्षा से कॉलेज की शिक्षा अपनी विशेषता रखती है, इससे हायर सैकेण्डरी शिक्षा का महत्त्व खत्म नहीं हो जाता है। कारण कि हायर सैकेण्डरी शिक्षा के बिना कॉलेज की शिक्षा का ज्ञान संभव नहीं है। इसी प्रकार क्षायोपशमिक भाव की वृद्धि के बिना क्षायिक व औपशमिक भाव रूप धर्म संभव ही नहीं है। कारण कि क्षायोपशमिक भाव से आत्म-शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, जिससे व्यक्ति में मुक्ति प्राप्त करने के लिए आवश्यक पुरुषार्थ करने का सामर्थ्य आता है तथा क्षायिक एवं औपशमिक उपलब्धि

की अभिव्यक्ति होती है। अत: क्षायोपशमिक भाव सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र की भूमिका है। यह निश्चित है कि क्षायोपशमिक भाव का भी बड़ा महत्त्व है, क्योंकि सामान्य धर्म के अभाव में विशेष धर्म संभव ही नहीं है। इसीलिये क्षायोपशमिक भाव को मुक्ति का हेतु कहा है।

मिथ्यात्वी जीव के दया, दान, करुणा एवं वात्सल्य भाव क्षयोपशम भाव रूप होते हैं। इनसे उसके उदयमान कषाय या राग-द्वेष-मोह गलते हैं, क्षय व क्षीण होते हैं। इसलिये इसे शुभ योग रूप संवर व सामान्य निर्जरा का हेतु कहा जा सकता है। परंतु यह क्षयोपशमभाव रूप ही होता है क्षायिक या उपशम भाव रूप नहीं होता है। क्योंकि इसके साथ रहे मिथ्यात्व के कारण सत्ता में रहे हुये कषाय रूप राग-द्वेष मोह की जड़ का इससे उन्मूलन व क्षय नहीं होता है। इस दृष्टि से इसे आत्यंतिक कर्म क्षय रूप विशेष धर्म की कोटि में नहीं गिनाया गया है।

ऊपर जैसे धर्म के दो प्रकार कहे हैं यथा-1. सहज भाव से स्वत: होने वाला सामान्य धर्म और 2. विशेष विशुद्धि के लिए विशेष प्रत्यन से होने वाला विशेष धर्म। ऐसे ही निर्जरा के भी दो प्रकार कहे हैं-1. स्वत: होने वाली सहज कर्म-निर्जरा। इसे अकाम निर्जरा या सविपाक निर्जरा कहा जाता है तथा 2. कर्मों के विशेष क्षय के लिए तपश्चर्या आदि विशेष प्रयत्न से होने वाली विशेष निर्जरा, जिसे सकाम निर्जरा या अविपाक निर्जरा कहा जाता है। यह सम्यग्दर्शनपूर्वक, विषय-कषाय के त्याग से, स्वाध्याय, ध्यान आदि साधना से होती है।

इन दो प्रकार की निर्जराओं में से तत्त्वज्ञान में दूसरी प्रकार की विशेष निर्जरा को ही निर्जरा तत्त्व में स्थान दिया है जो बाह्य व आभ्यंतर तप से होती है। मिथ्यात्वी जीव भी अनशन, विनय, वैयावृत्त्य, ध्यान आदि

तप करता है इससे मिथ्यात्वी के कर्मों की निर्जरा होती है, परंतु यह निर्जरा कर्मों के क्षयोपशम रूप होती है-कर्मों के आत्यंतिक क्षय या उपशम रूप नहीं होती। कारण कि वह मिथ्यात्वी जीव अनशन, ध्यान आदि तप भी करता है, तो किसी दुःख के भय से या विषय-कषाय जन्य सुख के प्रलोभन से करता है, निर्विकार होने के लिए नहीं करता है। अतः इसे साधना रूप धर्म नहीं कहा। दूसरी निर्जरा विकार रहित होने के लिए विशेष प्रकार के पुरुषार्थ रूप साधना करने से होती है। इससे कर्मों की निर्जरा सामान्य निर्जरा से असंख्य गुणी होती है। इस विशेष निर्जरा को सामान्य से पृथक् रूप से प्रस्तुत करने के लिए निर्जरा तत्त्व में स्थान दिया गया है तथा धर्म कहा गया है।

इसी प्रकार संवर को भी लें, कर्मों के आने के रुकने को संवर कहते हैं। यह संवर भी दो प्रकार का है-1. स्वतः सहजभाव से होने वाला सामान्य संवर और 2. विशेष प्रयत्न पूर्वक विशेष कर्मों का आना रुकने रूप विशेष संवर। इनमें से प्रथम प्रकार के संवर में क्षयोपशम भाव से अर्थात् कषाय की कमी से स्वतः जितनी दुष्प्रवृत्ति कम हो रही है, जिससे उतना कर्मों का आना रुक रहा है, कर्म बंध कम हो रहा है, यह सामान्य संवर है जो न्यूनाधिक रूप से प्राणी मात्र के हर समय हो रहा है। इस संवर की दृष्टि से सभी प्राणी संवर युक्त हैं। परंतु इस सामान्य संवर को साधना रूप संवर में ग्रहण नहीं किया गया है, प्रत्युत जो राग-द्वेष आदि विकारों से बचने के लिए सम्यग्दर्शन पूर्वक विशेष संवर किया जाता है, उसे ही सामान्य संवर से पृथक् करने के लिए संवर रूप धर्म कहा है।

इस प्रकार संयम, त्याग, तप आदि सभी साधनाएँ दो प्रकार की हैं-1. दुःख के भय व सुख के प्रलोभन से की जाने वाली और 2. विषय

कषाय जन्य सुख में (भोगों) दु:ख का दर्शन कर उस विषय भोग के सुख से मुक्ति पाने के लिए की जाने वाली । इसी को आगम की भाषा में सम्यग्दर्शन युक्त साधना कहा जाता है।

इन दो प्रकार के संयम-त्याग आदि में से प्रथम प्रकार का संयम, त्याग आदि समय-समय पर सभी मानव प्राय: करते रहते हैं। यथा-मधुमेह के रोगी का शक्कर या मिठाई खाना छोड़ देना, हृदय रोगी का घृत, नमक खाना छोड़ देना, शाम को भोज में विशेष मिठाई खाने के सुख लेने के प्रलोभन से प्रात:काल का भोजन न करना, वस्तु के न मिलने से या भोगने की शक्ति न होने से भोग न करना या समाज की बुराई के भय से या राज्य के दण्ड के डर से किसी दुष्प्रवृत्ति से बचना आदि रूप में संयम व त्याग करना। यह प्रथम प्रकार का त्याग व संयम है। इसे साधना रूप संयम या त्याग की कोटि में नहीं गिना जा सकता, क्योंकि इसका लक्ष्य विषय सुख त्यागना नहीं है प्रत्युत उसे बनाये रखना है, उसका पोषण करना व प्राप्त करना है जो असंयम का ही द्योतक है; जबकि दूसरे प्रकार के संयम-त्याग का लक्ष्य विषय-विकार के भोग (सुख) से मुक्ति पाना है, यही सच्चा संयम व सच्चा त्याग है। आगम में इस दूसरे प्रकार के संयम व त्याग को ही संयम व त्याग की कोटि में लिया गया है।

इसी प्रकार पुण्य भी दो प्रकार का है। पहला मिथ्यादृष्टि का-सहज-स्वाभाविक क्षायोपशमिक भाव से होने वाला, सामान्य पुण्य। यह दु:ख के भय व सुख के प्रलोभन से युक्त होता है। दूसरा सम्यग्दृष्टि का क्षायिक व औपशमिक भाव से, संवर निर्जरा से होने वाला असामान्य पुण्य। यह भावात्मक पुण्य आध्यात्मिक विकास एवं मुक्ति का हेतु होता है। अत: यह धर्म रूप है।

आगे अहिंसा, पुण्य और धर्म प्रकरण में स्थानांग सूत्र के अनुसार मुक्ति प्राप्ति के चार द्वार बताये गये हैं-1. क्षमा, 2. मुक्ति (संतोष), 3. आर्जव (सरलता) और 4. मार्दव (विनम्रता)। ये चारों गुण क्रोध, लोभ, माया और मान इन चारों कषायों के क्षय, उपशम, क्षयोपशम (मंदता) से प्रकट होते हैं। ये चार कषाय चारित्र मोहनीय हैं। ये चार कषाय ही आत्मा को दूषित करने वाले, चारित्र का पतन करने वाले अर्थात् क्षमा, सरलता आदि आत्मा के दिव्य गुणों का घात करने वाले हैं। इन्हीं से समस्त पाप कर्मों का बंध होता है। इसके विपरीत इन कषायों में हानि होने से भावों में विशुद्धि होती है, जिससे आत्मा में आंशिक निर्दोषता बढ़ती है, आत्म-गुण आंशिक रूप में प्रकट होते हैं। आत्म गुणों का प्रकट होना धर्म है। परंतु आंशिक निर्दोषता से, आत्म गुणों के आंशिक रूप में प्रकट होने से आत्मा को मुक्ति नहीं मिलती है। मुक्ति की अनुभूति होती है पूर्ण निर्दोषता से। यही कारण है कि आंशिक निर्दोषता, आंशिक आत्मगुण सभी प्राणियों में होने पर भी उन्हें मुक्ति नहीं मिली। मुक्ति-प्राप्ति के लिए पूर्ण निर्दोषता की आवश्यकता होती है। पूर्ण निर्दोषता की अनुभूति क्षयोपशम भाव से नहीं होकर औपशमिक एवं क्षायिक स्वरूप की झलक मिलती है, आत्मा का सम्यग्दर्शन होता है। फिर शेष कषायों के पूर्ण उपशम से अथवा पूर्ण क्षय होने से वीतरागता की व मुक्ति की अनुभूति होती है, जैसा कि कहा है-

नाणं च दसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गुपत्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं।।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 28, गाथा 2

नत्थि-चरित्तं सम्मत्तविहूणं।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 28, गाथा 29

अकसायं खु चरित्तं।

-बृहत्कल्पभाष्य, 2712

चरणं हवइ स धम्मो।

-मोक्षपाहुड 50

जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा।
जो न उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा।।

-बृहत्कल्प 1.35

भावार्थ-ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप से मुक्ति की प्राप्ति होती है। सम्यक्त्व के बिना चारित्र नहीं होता। अकषाय ही चारित्र है और चारित्र ही धर्म है तथा कषायों के उपशम के बिना आराधना नहीं होती है।

अभिप्राय यह है कि क्षयोपशम भाव से जो आत्मा के क्षमा आदि गुण प्रकट होते हैं अर्थात् आत्मा में जो निर्दोषता आती है वह आंशिक होती है और क्षायिक भाव से जो निर्दोषता आती है वह परिपूर्ण होती है।

आंशिक निर्दोषता व आंशिक गुण प्राणि-मात्र में है। जो आंशिक निर्दोषता में ही संतुष्ट हैं वे मुक्ति के पथ पर आगे नहीं बढ़ते हैं। मुक्ति के पथ पर वे ही आगे बढ़ते हैं जो आंशिक निर्दोषता से संतुष्ट न होकर दोषों को सर्वथा निर्मूलकर निर्दोष होना चाहते हैं। पूर्ण निर्दोषता ही वीतरागता है, मुक्ति है।

❑❑❑

(11)

अहिंसा, पुण्य और धर्म

पुण्य की व्याख्या पहले कर आए हैं, यहाँ धर्म की कतिपय परिभाषाएँ दे रहे हैं-

चत्तारि धम्मदारा-खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे

धर्म के चार द्वार हैं-क्षमा, संतोष, सरलता और मृदुता (नम्रता)।

-स्थानांग 4.4

समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए

आर्य महानुभावों ने समभाव में धर्म कहा है।

-आचारांग 1.8.3

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।

धर्म उत्कृष्ट मंगल है। वह अहिंसा, संयम एवं तप रूप है।

-दशवैकालिक 1.1

धम्मस्स विणओ मूलं।

धर्म का मूल विनय है।

-दशवैकालिक 9.2.2

धम्मो वत्थुसहावो।

वस्तु का स्वभाव ही धर्म है।

-कार्तिकेयानुप्रेक्षा 478

असुहादो विणिवत्ति, सुहे पवित्ति य जाण चारित्तं।

अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति को चारित्र जानो।

-द्रव्यसंग्रह, 45

धम्मो दयाविसुद्धोह्न

दया युक्त धर्म विशुद्ध होता है।

-बोधपाहुड, 25

जीवाणं रक्खणं धम्मो।

जीवों की रक्षा करना धर्म है।

-कार्तिकेयानुप्रेक्षा 478

अहिंसादिलक्षणो धर्मः।

धर्म अहिंसादि लक्षण वाला है।

-तत्त्वार्थसूत्र 6.13, राजवार्तिक टीका

सीलं मोक्खस्स सोवाणं।

शील-सदाचार मोक्ष का सोपान है।

-शीलपाहुड 20

संतोसिणो नो पकरेंति पावं।

संतोषी साधक पााप नहीं करते हैं।

-सूत्रकृतांग 1.12.15

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायमज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे।।

क्रोध को शांति से, मान को मृदुता से-नम्रता से, माया को ऋजुता, सरलता से और लोभ को संतोष से जीतना चाहिये।

-दशवैकालिक सूत्र 8.39

ऊपर जो धर्म की परिभाषाएँ दी गई हैं, उनमें आत्मा के स्वाभाविक गुण क्षमा, संतोष, सरलता, नम्रता, समभाव, अनुकंपा आदि को एवं इन गुणों के क्रियात्मक रूप दया, जीवों का रक्षण, शील, सदाचार आदि सद्प्रवृत्तियों को धर्म कहा गया है।

साामान्य जन तो दया, दान, सेवा, परोपकार आदि सद्प्रवृत्तियों को अर्थात् शुभ योग को धर्म ही मानते हैं, परंतु कुछ बुद्धिवादी यह युक्ति देते हैं कि दया, रक्षा, करुणा, अनुग्रह, वात्सल्य, सेवा, परोपकार, मैत्री, अनुकंपा आदि अहिंसा के विधिपरक रूप अर्थात् शुभ योग प्रवृत्तियुक्त होते हैं, अत: ये पुण्य बंध के कारण हैं, धर्म नहीं हैं और बंध संसार में भ्रमण कराता है, रुलाता है, अत: बुरा है, हेय है, त्याज्य है। अत: पुण्य मुक्ति-प्राप्ति में बाधक होने से धर्म नहीं है। धर्म तो निवृत्ति रूप ही होता है। लेकिन उनका यह कथन युक्तियुक्त नहीं है, कारण कि जीवन का अध्ययन करने से ऐसा विदित होता है कि प्रवृत्ति दो प्रकार की है-1. दुष्प्रवृत्ति और 2. सद्प्रवृत्ति। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-कषाय आदि दुष्प्रवृत्तियाँ सर्वथा त्याज्य ही हैं। दया, दान, करुणा, वात्सल्य आदि सद्प्रवृत्तियाँ हैं। ये आत्मा को पवित्र करने वाली हैं। अत: इन्हें धर्म कहा जाता है तथा पुण्य भी कहा जाता है। इन प्रवृत्तियों का भावात्मक रूप त्यागमय होने से धर्म है, कारण कि जहाँ त्याग है, वहाँ धर्म है तथा इन प्रवृत्तियों का क्रियात्मक रूप स्व-पर हितकारी होने से ये पुण्य रूप हैं। पुण्य और धर्म परस्पर सहयोगी, सहायक व पूरक हैं। सद्प्रवृत्तियों के क्रियात्मक रूप पुण्य से त्याग रूप धर्म सजीव, प्राणवान, स्थायी व सबल होता है और त्याग रूप धर्म से क्रियात्मक रूप पुण्य पुष्ट होता है।

किसी का मन से भला या हित सोचना रूप प्रवृत्ति तथा वचन और काया से हित करने रूप दया, दान, रक्षा आदि विधिपरक प्रवृत्तियों को ठाणांग सूत्र के नवम ठाणे में पुण्य में गिनाया गया है। दया, रक्षा आदि को प्रश्नव्याकरण सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध में अहिंसा में गिनाया है और अहिंसा को वहाँ संवर में ग्रहण किया गया है। संवर धर्म रूप ही होता है।

अतः दया, रक्षा आदि सद्प्रवृत्तियाँ व शुभ योग संवर या धर्म रूप ही हैं। पुण्य और संवर इन दोनों का आत्मा की पवित्रता के साथ घनिष्ठ संबंध हैं। इनका यह संबंध देह के अंत होने तक अर्थात् सिद्ध होने के पूर्व क्षण तक रहता है। अतः कुछ लोगों की मान्यता कि-''जो पुण्य है, वह धर्म नहीं है'', के पीछे आगम का कोई आधार हो, ऐसा नहीं लगता है। किसी भी आगम में व उसकी प्राचीन टीकाओं में यह नहीं कहा गया है कि पुण्य धर्म नहीं है। वस्तुतः जिस प्रकार संवर और निर्जरा आत्मा को पवित्र करने वाले तथा मोक्ष के साधन होने से धर्म हैं, इसी प्रकार आत्मा को पवित्र करने वाला पुण्य भी मोक्ष का साधन होने से धर्म है। संवर और निर्जरा तक की तरह पुण्य भी धर्म का ही अंग है, कारण कि शुभ योग पुण्य है और शुभयोग संवर भी है। शुभ योग प्रवृत्ति का भावात्मक रूप, अशुभ की निवृत्ति रूप संवर है और क्रियात्मक रूप पुण्य है। भावात्मक और क्रियात्मक रूप का प्रगाढ़ संबंध होने से मुक्ति मार्ग में अंत तक साथ रहने से दोनों ही धर्म हैं। जो आत्मा का पतन करता है, वह पाप है। पाप धर्म नहीं है, पाप अधर्म है। यदि आत्मा को पवित्र करने वाले पुण्य को अधर्म माना जाय तो आत्मा को पवित्र करने वाले संवर, तप को भी अधर्म मानना होगा। इसी प्रकार मुक्ति-प्राप्ति के समय पुण्य छूट जाने से पुण्य को अधर्म, हेय या त्याज्य माना जाय तो मुक्ति प्राप्ति के समय संवर, तप, यथाख्यात चारित्र आदि समस्त साधनाएँ छूट जाती हैं। अतः इन्हें भी अधर्म एवं हेय मानना होगा जो किसी को स्वीकार्य नहीं है।

शुभ योग दया, दान आदि अहिंसा के क्रियात्मक रूप हैं, जो आत्मा को पवित्र करने वाले हैं। इसलिए शुभ योग को पुण्य कहा गया है। यह ज्ञातव्य है कि प्राचीन सभी ग्रन्थों में 'पुण्य' को आत्मा को पवित्र करने

वाला कहा है अर्थात् धर्म कहा है। आत्मा को पवित्र करने वाले पुण्य को अधर्म, हेय या त्याज्य माना जाय तो आत्मा का पतन करने वाला पाप तो हेय व त्याज्य है ही। फिर तो दोनों हेय ही हुए। दोनों में कोई अंतर ही नहीं हुआ, ऐसा ही मानकर कुछ विद्वानों ने आत्मा को पवित्र करने वाले पुण्य को सोने की शूली और आत्मा का पतन करने वाले पाप को लोहे की शूली कहा है। शूली लोहे की हो या सोने की, शूली पर चढ़कर मृत्युदण्ड पाने वाले को इससे क्या अंतर पड़ता है? अर्थात् कुछ नहीं। क्योंकि ऐसा तो होता नहीं है कि सोने की शूली पर मृत्युदंड पाने वाले की मृत्यु प्रसन्नतापूर्वक होती हो अथवा मृत्यु नहीं होती हो। शूली सोने की हो अथवा लोहे की, उसका काम मौत के घाट उतारना है, मृत्यु व दुःख दोनों तो समान ही मिलते हैं। दोनों का फल समान है। इस दृष्टि से पाप को लोहे की बेड़ी या लोहे की शूली मानना तथा पुण्य को सोने की बेड़ी या शूली मानना पुण्य-पाप को समान मानना है व समान स्तर पर ला देना है। फिर पुण्य का पाप से भिन्न कुछ अर्थ ही नहीं रह जाता है। इस प्रकार दया, दान, मैत्री, रक्षा आदि पुण्य रूप शुभ प्रवृत्तियों को हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि पाप रूप अशुभ प्रवृत्तियों की कोटि में ला देना है, जो सर्वथा अनुपयुक्त एवं अनुचित है।

उपर्युक्त मान्यता को स्वीकार करना पुण्य करके अपनी हानि करना है। इससे उसका दया, दान आदि शुभ या सद्कार्य व पुण्य न करना ही श्रेष्ठ होगा, जिससे जन्म-मरण व संसार-परिभ्रमण रूप दुःख को बढ़ावा तो न मिले। अभी पाप प्रवृत्ति से संसार-परिभ्रमण हो रहा है, वही बहुत है। फिर पुण्य करके उस परिभ्रमण को बढ़ाने की मूर्खता क्यों की जाय? आशय यही है कि इस मान्यता को स्वीकार करना दया, दान, करुणा, सेवा रूप

मानवीय गुणों का ही उच्छेद कर देना है जो घोर अमानवता है। जिसका मानव जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

इसी विषय में बहुश्रुत पं. रत्न श्री समर्थमलजी म.सा. से लेखक ने बूँदी (राजस्थान) में पृच्छा की थी-''महाराज! यह फरमाइये कि आगमों में पुण्य को हेय क्यों कहा गया है?'' उत्तर में श्री बहुश्रुतजी महाराज ने फरमाया कि-''आगमों में पुण्य को कहीं भी हेय नहीं कहा गया है और न हम ''पुण्य हेय है'', ऐसा मानते हैं। जो शोभास्पद होता है।'' मुझे बहुश्रुतजी का यह कथन यथार्थ लगता है, क्योंकि पुण्य यदि हेय होता और साधक के लिए त्याज्य होता तो आगमों में जैसे पाप के क्षय की साधना बताई गई हैं उसी प्रकार पुण्य क्षय की साधना भी बताई गई होती। परंतु आगम में पुण्य क्षय का कोई उपाय या साधना नहीं बतायी गयी है। आगम में अहिंसा, संयम और तपरूप धर्म-साधना अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप साधना अथवा अन्य जो भी साधनाएँ बताई गई हैं उनसे पुण्य का क्षय नहीं होता है, प्रत्युत जैसे-जैसे साधक साधना मार्ग में आगे बढ़ता जाता है, पुण्य के अनुभाग का उत्कर्ष अवश्य होता है। इसीलिये वीतराग केवली अनन्त पुण्यवान होता है। यदि मुक्ति के लिए पुण्य क्षय करना आवश्यक माना जाये तो फिर पुण्य क्षय करने के दो ही मार्ग शेष रह जाते हैं-1. पुण्य का उदय में आकर स्वत: क्षय होना और 2. पाप की वृद्धि रूप संक्लेश भाव से पुण्य प्रकृतियों का पाप प्रकृतियों में संक्रमण होना। प्रथम मार्ग निसर्ग पर निर्भर करता है। उसमें साधक को कुछ नहीं करना होता है। दूसरा मार्ग पापवृद्धि का है जो साधक के लिए घातक है, अत: त्याज्य ही है। तात्पर्य यह है कि पुण्य साधक के लिए बाधक या त्याज्य नहीं है और न पुण्य क्षय का साधना से कोई संबंध ही है।

जिस प्रकार सागर पार पहुँचने पर नौका छूट जाती है, उसी प्रकार संसार सागर पार पहुँचकर मुक्त होने पर पुण्य स्वत: छूट जाता है अथवा जिस प्रकार औषधि रोग को मिटाकर स्वयं छुट्टी पा लेती है, उसी प्रकार 'पुण्य' पाप रूप विकारों को नष्टकर स्वयं छूट जाता है। इसीलिये आगम में पुण्य के क्षय करने का कहीं भी विधि-विधान नहीं है। साधक के लिए पापत्याग का व्रत ग्रहण करने के समान पुण्य-त्याग का व्रत ग्रहण करने का कहीं पर नाममात्र का भी उल्लेख या विधान नहीं है।

यथार्थता तो यह है कि त्याग धर्म की आत्मा है और पुण्य प्रवृत्ति धर्म की देह है। जैसे देह आत्मा को धारण करने वाला है, संसारी आत्मा देह के बिना नहीं रह सकती, देहान्त होना मृत्यु है वैसे ही पुण्य धर्म को धारण करने वाला है, सदेह अवस्था में दया, दान, करुणा, वात्सल्य, मैत्री आदि सद्प्रवृत्तियाँ रूप पुण्य के बिना धर्म या त्याग नहीं टिक सकता है, कारण कि देह के रहते हुये प्रवृत्ति होगी ही। अत: सद्प्रवृत्ति न होगी तो दुष्प्रवृत्ति होगी, जिससे साधक का पतन होगा। इसलिये पुण्य रहित होना पुण्यहीन होना है, पुण्यहीन धर्महीन ही होता है। धर्महीन होना सौभाग्यहीन होना है, दुर्भाग्य का आह्वान करना है।

ऊपर कह आये हैं कि त्याग-संवर-संयम धर्म की आत्मा है और पुण्य रूप सद्प्रवृत्तियाँ धर्म की देह हैं। दोनों धर्म के अंग हैं। दोनों में अंतर इतना ही है कि आत्मा अविनाशी होती है और देह विनाशी। इस प्रकार संवर और पुण्य सद्प्रवृत्तियों में इतना ही अंतर है कि त्याग रूप संवर साधना का अभिन्न अंग है जो अंत में मुक्ति-प्राप्ति के समय साध्य में परिणत हो जाता है। जबकि सद्प्रवृत्ति रूप पुण्य साधना का सहयोगी अंग है जो साध्य की प्राप्ति हो जाने पर नौका की तरह स्वत: छूट जाता है अथवा अग्नि की

तरह है जो ईंधन समाप्त होने पर स्वतः शांत एवं सांत हो जाता है। संवर या त्याग साधना भी है और साध्य भी है जबकि पुण्य साधन व साधना ही है, साध्य नहीं है। पुण्य विकार दूर करने के लिए औषधि के समान है जो विकार से मुक्ति पाने पर, स्वस्थ (निर्विकार) होने पर स्वतः छूट जाता है, जैसे कि यथाख्यात चारित्र भी स्वतः छूट जाता है।

जब तक शरीर है तब तक प्राणी प्रवृत्ति किये बिना नहीं रह सकता। यदि तन व वचन से प्रवृत्ति करना रुक भी जाय तो मन में चिंतन, मनन, संकल्प, विकल्प, विचार आदि प्रवृत्तियाँ चलती ही रहती हैं। अतः साधक राग, द्वेष, मोह रूप रोग या विकार गलाने वाली, घटाने वाली सद्प्रवृत्ति नहीं करेगा तो राग या विकार वर्द्धक दुष्प्रवृत्ति होगी ही। सद्प्रवृत्तियों से वीतरागता तथा अक्षय, अव्याबाध, अनंत सुख की ओर गति होती है और दुष्प्रवृत्ति से दोषों और दुःखों की ओर गति होती है। अतः जब-जब प्रवृत्ति करें सजगता, स्मृति, समिति-यतनापूर्वक करें, राग-द्वेष रहित होकर समभावपूर्वक-सामायिक रूप से करें।

मन-वचन व काया इन तीनों योगों में से किसी न किसी योग की प्रवृत्ति तो सयोगी वीतराग के भी होती रहती है। वे प्रवचन व उपदेश देते ही हैं। अतः प्रवृत्ति करना बुरा नहीं है और न बंधन का कारण है। बुरा है प्रवृत्ति के साथ लगा हुआ विषय-कषाय, राग-द्वेष। यही बंधन का कारण भी है। अतः प्रवृत्ति त्याज्य नहीं हैं, त्याज्य है विषय-कषाय। जिस प्रवृत्ति के साथ जितना विषय-कषाय भाव प्रगाढ़ है वह उतनी ही दुष्प्रवृत्ति है, पाप प्रवृत्ति है, जो त्याज्य है।

प्रवृत्ति के तीन रूप कहे जा सकते हैं-1. राग-द्वेष आदि दोष वर्द्धक, 2. रागादि दोष नाशक (गालने वाला) और 3. राग-द्वेष आदि दोष

रहित वीतरागता युक्त। इनमें से प्रथम रागादि दोषवर्द्धक प्रवृत्ति पाप रूप होने से त्याज्य ही है। द्वितीय रागादि दोषनाशक प्रवृत्ति साधना रूप होने से कर्म क्षय करने वाली है और तृतीय वीतराग-प्रवृत्ति नैसर्गिक होने से स्वत: सहज होती है। इनमें अंतिम दोनों प्रवृत्तियाँ सद्प्रवृत्तियाँ हैं, इनसे लेशमात्र भी हानि नहीं है। ये सद्प्रवृत्तियाँ त्याज्य नहीं है, उपादेय हैं। यहाँ तक कि साधक और वीतराग पुरुष (सयोगी केवली) का श्वास लेना, भाषण देना आदि भी सद्प्रवृत्तियाँ हैं। परंतु ये कर्म बंध की हेतु नहीं हैं कारण कि इनका उपयोग व उनका जीवन अपने भोग के लिए नहीं है, प्रत्युत संसार की सेवा के लिए है।

प्रवृत्ति मात्र कर्मबंध का कारण हो, ऐसी बात नहीं है। प्रवृत्ति कर्मों को क्षय करने वाली भी होती है अर्थात् प्रवृत्ति से कर्मों की निर्जरा भी होती है। इस संबंध में भगवतीसूत्र का निम्नांकित कथन उल्लेखनीय है-

समणोवासगस्स णं भंते! तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ? गोयमा! एगंत सो निज्जरा कज्जइ, नत्थि य से पावे कम्मे कज्जइ।

-भगवती सूत्र शतक 8 उद्देशक 6

अर्थात् (गौतमस्वामी पूछते हैं) हे भंते! तथारूप श्रमण या माहण को प्रासुक अशन, पान, खादिम और स्वादिम का आहार देने वाले श्रमणोपासक को क्या फल प्राप्त होता है? (उत्तर में भगवान फरमाते हैं) हे गौतम! श्रमणोपासक को एकांत निर्जरा रूप फल प्राप्त होता है, उसे पापकर्म नहीं लगता है।

यहाँ दान रूप प्रवृत्ति को एकांत निर्जरा का कारण बताया है अर्थात् दान रूप प्रवृत्ति को लेशमात्र भी पापरूप बंध का कारण नहीं

बताया है। क्योंकि एकांत निर्जरा का तात्पर्य बंध का सर्वथा निषेध ही है। तात्पर्य यह है कि दानादि प्रवृत्तियाँ बंध रहित एकांत निर्जरा रूप होती हैं।

भगवती सूत्र के पहले शतक में एक प्रश्नावली के माध्यम से यह समझाया गया है कि जीव आत्मारंभी, परारंभी, तदुभयारंभी और अनारंभी है। संसार के सभी जीव यानी चौबीस ही दंडकों में जीव आत्मारंभी, परारंभी, तदुभयारंभी और अनारंभी यों चारों प्रकार के होते हैं। इस विषय को स्पष्ट करते हुये भगवती सूत्र शतक 1 उद्देशक 1 सूत्र 16 में इस प्रकार कहा है-

जीवा दुविहा पण्णत्ता, तंजहा-संसारसमावन्नगा य असंसार-समावन्नगा य, तत्थ णं जे ते असंसारसमावन्नगा ते णं सिद्धा, सिद्धा णं नो आयारंभा जाव अणारम्भा, तत्थ णं जे ते संसारसमावन्नगा ते दुविहा पण्णत्ता, तंजहा-संजया य असंजया य, तत्थ णं जे ते संजया दुविहा पण्णत्ता, तंजहा-पमत्तसंजया य अपमत्तसंजया य, तत्थ णं जे ते अपमत्तसंजया ते णं नो आयारंभा नो परारंभा जाव अणारंभा तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया ते सुहजोगं पडुच्च नो आयारंभा नो परारंभा जाव अणारंभा, असुभं जोगं पडुच्च आयारंभा वि जाव नो अणारंभा, तत्थ णं जे ते असंजया ते अविरतिं पडुच्च आयारंभावि जाव नो अणारंभा।

गौतम! जीव दो प्रकार के हैं-सिद्ध और संसारी। इनमें जो सिद्ध जीव हैं वे न आत्मारंभी हैं, न परारंभी हैं और न तदुभयारंभी हैं, परंतु अनारंभी हैं। संसारी जीव दो प्रकार के हैं-संयमी व असंयमी। इनमें संयमी दो प्रकार के हैं-प्रमत्तसंयमी और अप्रमत्तसंयमी। इनमें जो अप्रमत्तसंयमी हैं-वे आत्मारंभी नहीं हैं, परारंभी नहीं हैं, तदुभयारंभी नहीं हैं, किंतु अनारंभी हैं। पर जो प्रमत्तसंयमी हैं वे **सुहं जोगं पडुच्च** अर्थात् शुभ योग की अपेक्षा न आत्मारंभी हैं, न परारंभी हैं, न तदुभयारंभी हैं, अपितु अनारंभी हैं और **असुहं**

जोगं पडुच्च अर्थात् अशुभ योग की अपेक्षा आत्मारंभी भी हैं, परारंभी भी हैं और तदुभयारंभी हैं, परंतु अनारंभी नहीं हैं।

उपर्युक्त सूत्र में शुभयोग की अपेक्षा प्रमत्तसंयमी को एकांत अनारंभी कहा है। अशुभ प्रवृत्ति को रोकने वाला होने से शुभ योग को संवर कहा है।

जैनागम उत्तराध्ययन सूत्र में भी कहा है-

सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकंपी खंतिक्खमे संजयबंभयारी।
सावज्जजोगं परिवज्जयंतो, चरिज्ज भिक्खू सुसमाहिइंदिए।।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 21, गाथा 13

अर्थात् ''इन्द्रियों को संयम में रखने वाला भिक्षु सभी प्राणियों के प्रति दयालु व अनुकंपाशील रहे, क्षमावान, संयमी व ब्रह्मचारी हो तथा पाप प्रवृत्तियों का त्याग करता हुआ विचरण करे।'' इस गाथा में साधु के लिए सर्व जीवों के प्रति दयालु व अनुकंपाशील रहने का स्पष्ट विधान है। यहाँ दया और अनुकंपा को भी संयम, ब्रह्मचर्य, क्षमा, सावद्ययोग-त्याग के समान ही स्थान व महत्त्व दिया गया है अर्थात् संवर व निर्जरा रूप धर्म कहा है।

प्रसिद्ध **दिगबंराचार्य श्री वीरसेनस्वामी ने कषायपाहुड की** जयधवला टीका में कहा है-**सुहसुद्धपरिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।** -जयधवला पुस्तक 1, पृष्ठ 15। अर्थात् यदि शुभ और शुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता। यहाँ आचार्य ने शुद्धभाव के समान शुभ भाव से भी कर्मक्षय होते हैं, स्पष्ट कहा है। तात्पर्य यह है कि शुभभाव कर्मबंध के कारण नहीं हैं, कर्मक्षय के कारण हैं।

अहिंसा के दो रूप हैं-1. भावात्मक और 2. क्रियात्मक (द्रव्यात्मक) अर्थात् आभ्यंतरिक एवं बाह्य। अहिंसा का भावात्मक रूप स्व-पर सर्व हितकारी होता है, उसमें लेशमात्र भी किसी भी प्राणी के अहित की भावना, दुर्भावना नहीं होती है। भावात्मक रूप विषयासक्ति या राग घटाने वाला होता है। यह बात दूसरी है कि वीतराग के अतिरिक्त अन्य प्राणियों के भाव में सदैव विषय-कषाय, राग-द्वेष, मोह रहता ही है, अतः इनका उदय अपना प्रभाव दिखाता है। परंतु दया, रक्षा, अनुकंपा आदि अहिंसा के भाव में मैत्री भाव, भ्रातृत्वभाव (बंधुत्व) मातृत्व भाव (वात्सल्य) रूप हितकारी भाव (प्रेम) उमड़ने से उसके अंतःकरण में विद्यमान उदयमान राग, द्वेष, मोह भाव (जड़ता) उसी प्रकार पिघलता है, द्रवित होता है, जैसे बर्फ पिघलकर जल व भाप बनती है। अतः दया, दान, आदि प्रवृत्तियाँ अहिंसक के लिए राग-द्वेष-मोह घटाने वाली होने से कल्याणकारी हैं।

आशय यह है कि दया, दान, आदि अहिंसात्मक सद्प्रवृत्तियाँ राग, द्वेष, मोह को घटाने वाली होने से आत्मा को विशुद्ध करने वाली, पवित्र करने वाली होती हैं। अतः त्याज्य नहीं हैं। त्याज्य हैं इनके साथ रहे हुये राग, द्वेष आदि भाव। जिनका त्यागना साधक के अपने पुरुषार्थ पर निर्भर है। ये राग, द्वेष आदि दोष अप्रमत्त संयत जैसे उत्कृष्ट साधक के संवर, संयम व तप में भी होते हैं। इसीलिये उसके भी पाप का न्यूनाधिक रूप में सदैव बंध होता रहता है, परंतु इससे संयम या तप त्याज्य नहीं हो जाते हैं। इसी प्रकार अहिंसा भी त्याज्य नहीं है चाहे वह सकारात्मक हो या निषेधात्मक। यह तथ्य धर्म के अहिंसा, संयम और तप इन तीनों रूपों पर समान रूप से लागू होता है। अतः जैसे संयम और तप के साथ राग, द्वेष आदि दोष रहते हुये भी संयम और तप को बुरा या त्याज्य नहीं माना जा

सकता उसी प्रकार दया, दान आदि सकारात्मक अहिंसा को बुरा नहीं माना जा सकता। इन्हें बुरा या त्याज्य समझना न न्याययुक्त है, न युक्तियुक्त है, न आगम सम्मत है, न व्यवहार संगत है, प्रत्युत भयंकर भूल है।

यह भूल सर्वस्व नाश करने वाली है। इस भूल के रहते हुए साधक एक कदम भी साधना पथ में आगे नहीं बढ़ सकता, कारण कि जहाँ मानवता ही नहीं है वहाँ धर्म या साधना कैसे संभव हो सकती है ? यह सदैव स्मरण रहना चाहिये कि जिस क्रिया से राग-द्वेष, मोह आदि दोष बढ़े वह संक्लेश है, मोह है, पाप है। उसका पुण्य व धर्म में कोई स्थान नहीं है। पुण्य व धर्म से राग, द्वेष-मोह आदि दोष घटते ही हैं। भावों में विशुद्धि आती ही है। परंतु राग-द्वेष-मोह का उदय रहते हुये जैसे संयम और तप त्याज्य या बुरे नहीं होते हैं, वैसे ही सद्प्रवृत्तियाँ भी त्याज्य नहीं है। कारण कि उससे विषयासक्ति घटती ही है, बढ़ती नहीं है।

दया, दान आदि सद्गुणों के भावात्मक रूप का संबंध आत्म-भाव से, आत्मा से है, स्व से है, अविनाशी तत्त्व से है। अतः उसका फल आंतरिक शांति, मुक्ति, प्रसन्नता, अमरत्व आदि भूतियों के रूप में मिलता है। परंतु इन सद्गुणों के क्रियात्मक रूप के लिए भौतिक (पौद्गलिक) पदार्थों का आश्रय लेना होता है। अतः इसका फल शरीर, मन, वाणी व अन्य भौतिक सामग्री की उपलब्धि के रूप में भी मिलता है। जिसके कारण-कार्य का मूल संबंध इस प्रकार है-सद्गुणों के भावात्मक रूप से आत्मा के राग-द्वेष आदि विकार घटते हैं, जिससे आत्मा की विशुद्धि या पवित्रता बढ़ती है। आत्मा की पवित्रता या विशुद्धि की वृद्धि से आत्मा का विकास होता है। आत्मा के विकास से ही आत्मा के ज्ञान-दर्शन गुणों का विकास होता है। दर्शन गुण के विकास से ज्ञान व चिन्मयता (स्व-संवेदन)

शक्ति का विकास होता है। फलतः कर्म-सिद्धांत या नैसर्गिक नियमानुसार तदनुरूप द्रव्येन्द्रियों का अर्थात् इन्द्रिय, मन, बुद्धि रूप ज्ञान-दर्शन की अभिव्यक्ति के साधनों का विकास होता है अर्थात् ये विकसित रूप में प्राप्त होते हैं तथा सद्प्रवृत्तियों से जिन प्राणियों व व्यक्तियों का हित हुआ है उनसे आदर-सत्कार, सम्मान व भौतिक सामग्री भेंट रूप में मिलती है। इस प्रकार क्रियात्मक रूप का संबंध भौतिक जगत् से होने से उसका फल भी भौतिक संपत्तियों या विभूतियों के रूप में मिलता है।

ये भौतिक विभूतियाँ या उपलब्धियाँ साधन-सामग्री हैं। यह साधन सामग्री न भली है और न बुरी है। इसीलिए कर्म-सिद्धांत में इनकी उपलब्धि को अघाती कर्म का फल कहा है। अघाती का अर्थ है चैतन्य गुण का किसी भी अंश में घात करने में कारणभूत नहीं होना है। इस साधन-सामग्री का सदुपयोग प्राणी के लिए कल्याणकारी एवं मंगलकारी होता है और दुरुपयोग पतनकारी व अमंगलकारी (दुःख रूप) होता है।

उपलब्ध भौतिक सामग्री का सदुपयोग है-सर्व हितकारी प्रवृत्ति करना। इससे राग या सुखासक्ति घटती है और आत्मा का कल्याण होता है, अहित लेशमात्र भी नहीं होता है। उपलब्ध भौतिक सामग्री का दुरुपयोग है उसके द्वारा विषय भोग भोगना, हिंसा, चोरी आदि पाप करना। विषय-भोग से आत्मा में जड़ता, पराधीनता, असमर्थता, आकुलता, व्याकुलता आदि दोषों व दुःखों की उत्पत्ति होती है, जो अनिष्ट रूप है और हिंसा, लूटपाट, संग्रह आदि पाप युद्ध, संघर्ष, कलह, अशांति, भय, अंगभंग, मृत्यु आदि दुःखों के हेतु होते हैं। इस प्रकार प्राप्त साधन-सामग्री का दुरुपयोग पतनकारी, अमंगलकारी व अकल्याणकारी होता है। अतः उपलब्ध भौतिक साधन-सामग्री प्राणी को अपने सुख-भोग के लिए नहीं, वरन् विश्व हित

के लिए मिली है। उससे सुख भोगना, विषय-कषाय का सेवन करना अपना और जगत् का अहित करना है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। उपलब्ध भौतिक सामग्री सम्पत्ति, देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का सदुपयोग ही दया, दान आदि का क्रियात्मक रूप है। यह आत्मा को पवित्र करने वाला होने से इसे पुण्य भी कहा जाता है। जिसका फल तन, मन, इन्द्रिय आदि भौतिक उपलब्धियों के रूप में मिलता है। इनका उपयोग साधक अपने भोगोपभोग के लिए नहीं करता है। साधक इनका उपयोग अपने सुख-भोग के लिए न कर अपनी सामर्थ्य अनुसार देह, परिवार, परिजन, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के हित के लिए अर्थात् पर-हित में सेवा रूप में करता है। साधक इनका उपयोग (सदुपयोग) करता है, उपभोग नहीं। अहितकर इनका दुरुपयोग है, भोग है, प्राप्त सामग्री नहीं, इसीलिए इन्हें अघाती कहा है।

प्राप्त सामग्री का सदुपयोग पुण्य है और दुरुपयोग पाप है। पुण्य से आत्मा का किसी भी प्रकार का अहित नहीं होता है। वीतराग अनन्त पुण्यात्मा व धर्मात्मा होते हैं, क्योंकि वे अनन्तदानी होते हैं। यदि 'दान' देना बुरा होता तो वीतराग होने पर अनंतदान की उपलब्धि कदापि नहीं होती और उसे क्षायिकलब्धि नहीं कहा जाता। अनन्त पुण्यात्मा वीतराग के लिए भौतिक सामग्री शरीर आदि का होना या न होना समान ही है। वह सदैव इससे असंग होता है, अतः पुण्य के फलस्वरूप मिली भौतिक सामग्री उसके लिए बंधन रूप नहीं है। वह भौतिक उपलब्धियों से निर्मित शरीर, परिस्थितियों व घटनाओं का ज्ञाता-द्रष्टा होता है, कर्त्ता-भोक्ता नहीं, अतः बंधन-मुक्त होता है। उसके लिए अघाती कर्म जली हुई रस्सी या भुने हुए चने के समान निःसत्त्व-निष्प्राण होते हैं, जो वीतराग का अहित करने में लेशमात्र भी समर्थ नहीं हैं। अतः पुण्य बुरा है, संसार में

रुलाता है, जीव को बाँधकर रखता है, अहितकर है, हेय है आदि धारणा निराधार व निर्मूल है। वस्तुत: पुण्य मुक्ति का सहयोगी है जो मुक्ति प्राप्ति पर स्वत: छूट जाता है। इसे त्यागने की जीवन में, साधना के क्षेत्र में आदि से अंत तक कहीं भी आवश्यकता नहीं पड़ती है। परंतु सद्गुणों का यह क्रियात्मक रूप 'पुण्य' साधन है साध्य नहीं, इसे सदैव ध्यान में रखना चाहिये। पुण्य प्रवृत्ति को साध्य मान लेना साधन को साध्य मान लेना है जो भूल है, इस भूल से बचने के प्रति साधक को सदैव सजग रहना चाहिए। प्रवृत्ति जीवन नहीं है। जीवन है-उसमें रहा हुआ त्याग रूप भाव। इसे कभी नहीं भूलना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि मानव मात्र में आंशिक रूप में आत्मा के अनुकंपा, क्षमा, सरलता आदि स्वाभाविक गुण विद्यमान हैं और इनमें इनका क्रियात्मक रूप दया, दान आदि न्यूनाधिक सद्प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं। इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा. ने उत्तराध्ययन सूत्र के 29वें अध्ययन 'सम्यक्त्व पराक्रम' के तीसरे बोल धर्म-श्रद्धा के विवेचन में फरमाया है कि-''कोई भी जीव ऐसा नहीं है जो धर्म रहित हो। जीवन में धर्म का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है, यहाँ तक कि धर्म के बिना जीवन व्यवहार भी नहीं चल सकता। जो लोग धर्म की आवश्यकता स्वीकार नहीं करते उन्हें भी जीवन में धर्म का आश्रय लेना पड़ता है, क्योंकि धर्म का आश्रय लिए बिना जीवन व्यवहार निभ ही नहीं सकता है। उदाहरणार्थ पाँच और पाँच दस होते हैं, यह सत्य है और सत्य धर्म है। इसे स्वीकार करना होगा।''

❑❑❑

(12)

पुण्य-पाप का परिणाम

कर्म के बंध व क्षय का आधार जीव के परिणाम हैं। कहा भी है- **परिणामादो बंधो मोक्खो।** -भावपाहुड 116, **बंधपमोक्खो अज्झऽत्थेव।** -अचारांग 195। परिणाम दो प्रकार के होते हैं-अशुभ और शुभ। अशुभ परिणामों को पाप और शुभ परिणामों को पुण्य कहा जाता है। जिस प्रकार एक घड़ा ओंधा रख देने पर उस पर जितने भी घड़े रखे जायेंगे वे सब ओंधे ही रखे जायेंगे। उसी प्रकार पाप रूप संक्लेश परिणाम से आस्रव, बंध, उदय, उत्कर्षण, संक्रमण आदि करण होते हैं। वे पापात्मक ही होते हैं और जिस प्रकार एक घड़ा (मटका) सीधा रख देने पर उसके ऊपर जितने भी घड़े रखे जायेंगे वे सब सीधे ही रखे जायेंगे उसी प्रकार पुण्य रूप विशुद्धि परिणाम में आस्रव, संवर, निर्जरा, मोक्ष तथा बंध, उदय, सत्ता, अपकर्षण, संक्रमण आदि करण पुण्यात्मक ही होते हैं।

विशुद्धिभाव से अर्थात् पुण्यात्मक परिणाम एवं प्रवृत्ति से नवीन पुण्य के आस्रव में वृद्धि तो होती ही है, साथ ही अनेक अन्य बातें भी होती हैं, यथा-1. पुण्य तथा पाप कर्म प्रकृतियों की स्थिति का अपवर्तन होता है। 2. पाप प्रकृतियों के अनुभाव का अपकर्षण होता है। 3. पुण्य प्रकृतियों के अनुभाव (अनुभाग) का उत्कर्षण होता है। 4. पूर्वबद्ध पाप प्रकृतियों

का पुण्य प्रकृतियों में संक्रमण होता है। 5. पाप के आस्रव में कमी होने रूप पापास्रव का निरोध अर्थात् संवर होता है। 6. कर्म प्रकृतियों की स्थिति का क्षय होने से कर्मों का क्षय अर्थात् निर्जरा होती है। 7. आत्म-विशुद्धि में स्वभाव की अभिव्यक्ति रूप मुक्ति होती है। इस प्रकार शुभ भाव रूप पुण्य तत्त्व कर्म-क्षय व मुक्ति का हेतु है। इसके विपरीत संक्लेश भाव से अर्थात् पापात्मक परिणाम व प्रवृत्ति से नवीन पाप कर्मों के आस्रव में वृद्धि होती है तथा अन्य बातें भी होती हैं। यथा-1. पुण्य-पाप प्रकृतियों की स्थिति का उद्वर्तन होता है। 2. पाप प्रकृतियों के अनुभाव का उत्कर्षण होता है। 3. पुण्य प्रकृतियों के अनुभाव का अपकर्षण होता है। 4. पूर्व बद्ध पुण्य प्रकृतियों का पाप प्रकृतियों में संक्रमण होता है। 5. पापास्रव में वृद्धि होती है। 6. कर्मों के स्थितिबंध में वृद्धि होने से संसार भ्रमण बढ़ता है। 7. कषाय या विभाव की वृद्धि होती है।

उपर्युक्त तथ्यों पर विचार करने पर पुण्य और पाप इन दोनों में सैद्धांतिक दृष्टि से आकाश-पाताल का अंतर है। 'पाप' कर्म बंध का कारण है और 'पुण्य' कर्म क्षय व मोक्ष का हेतु है। इसका प्रमुख कारण यह है कि संक्लेश भाव रूप पाप से पाप तथा पुण्य दोनों कर्मों की (तीन शुभ आयु कर्म की प्रकृतियों को छोड़कर) प्रकृतियों में स्थिति-बंध का उद्वर्तन अर्थात् वृद्धि होती है। जिससे संसार की वृद्धि होती है जबकि विशुद्धि भाव रूप पुण्य से पाप तथा पुण्य दोनों कर्मों के स्थिति-बंध का अपवर्तन (कमी-क्षय) होता है जिससे संसार भ्रमण में कमी होती है। यह कमी मिथ्यादृष्टि एवं सम्यग्दृष्टि दोनों के ही होती है, परंतु मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि के यह कमी असंख्य गुणी अधिक होती है।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने की है कि पुण्य के द्वारा पाप कर्मों

का स्थिति बंध तो क्षीण (क्षय) होता ही है, किंतु स्वयं पुण्य का स्थिति बंध भी क्षीण (क्षय-नाश) होता है जिससे संसार घटता है। यों कहें कि पुण्य के अनुभाग की वृद्धि अपने ही स्थिति बंध को क्षय करने वाली होती है, जबकि पाप सदा पुण्य और पाप दोनों के स्थिति बंध का उद्वर्तन (वृद्धि) करने में, पाप को परिपुष्ट करने में, संसार बढ़ाने में सहायक होता है। 'पुण्य' पाप कर्मों का अवरोध, निरोध व क्षय करने वाला एवं स्वयं अपना अनुभाग बढ़ाने वाला होता है।

पुण्य का फल द्विमुखी होता है-1. परिणामों की विशुद्धि और 2. स्थितिबंध का क्षय। इस प्रकार एक ओर तो कषाय में कमी होती जाती है, परिणामों में विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, राग-द्वेष क्षीण होते जाते हैं, समता बढ़ती जाती है, जिससे कर्म क्षय होते जाते हैं, वीतरागता तथा मुक्ति की ओर प्रगति होती जाती है तथा दूसरी ओर स्थिति बंध का क्षय होने से संसार वास में अधिकाधिक कमी होती जाती है तथा संसार का किनारा निकट आता जाता है। इस प्रकार पुण्य की वृद्धि को परंपरा से मोक्ष का हेतु कहा जाता है।

पाप प्रवृत्ति सदैव सकाम ही होती है। निष्काम नहीं होती है, क्योंकि पाप के साथ भोगों की कामना लगी रहती है, परंतु पुण्य प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है-सकाम और निष्काम। जिस शुभ प्रवृत्ति के साथ सांसारिक फल-प्राप्ति की कामना होती है वह सकाम पुण्य है। फल की कामना से स्थिति बंध होता है जो संसार बढ़ाने वाली होती है। कामना कषाय है, पाप है, अतः पुण्य के साथ रही हुई फल की कामना हेय, त्याज्य है, जैसे-गेहूँ के साथ रहे हुए कंकर त्याज्य हैं गेहूँ नहीं, नारियल के साथ लगी हुई जटा त्याज्य है गिरी नहीं, इसी प्रकार पुण्य के फल की कामना

त्याज्य है, पुण्य नहीं। यही कारण है कि पुण्य के साथ लगी हुई कामना में जितनी कमी आती जाती है अर्थात् जितनी निष्कामता बढ़ती जाती है उतना ही पुण्य का अनुभाग बढ़ता जाता है और पाप का अनुभाग व स्थिति घटते जाते हैं, पाप का संक्रमण पुण्य में होता जाता है। स्थिति बंध का व पाप का क्षय होना मुक्ति प्राप्ति का हेतु है। तात्पर्य यह है कि पुण्य का स्थिति बंध कामना से, कषाय से, सकामता से होता है और पुण्य के अनुभाग का सर्जन निष्कामता से होता है और पुण्य के अनुभाग का सर्जन निष्कामता से होता है। इसीलिए पुण्य-पाप का आधार इनके अनुभाव को माना गया है, स्थिति को नहीं। फल की ही प्रधानता होती है। अतः पुण्य-पाप का ग्रहण फल के आधार पर ही किया जाता है प्रदेश व स्थिति बंध के आधार पर नहीं।

पहले कह आए हैं कि कर्म का फल उनके अनुभाव से मिलता है और कर्म सिद्धांत में अनुभाव की न्यूनाधिकता का मापन उनके स्पर्धकों से होता है। स्पर्धकों की चार श्रेणियाँ होती हैं-एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक। ये श्रेणियाँ क्रमशः अधिक से अधिक अनुभाग की सूचक हैं। पाप कर्मों के अनुभाव की वृद्धि अशुभ भाव से तथा पुण्य के अनुभाव की वृद्धि शुभ भाव व शुद्धभाव से होती है। शुभ व शुद्ध भाव कर्म क्षय के हेतु होने से मोक्ष प्रदायक हैं।

स्पर्धक तीन प्रकार के होते हैं-1. सर्वघाती, 2. देशघाती, 3. अघाती। इनमें से सर्वघाती स्पर्धक आत्मा के गुण का पूर्ण घात करने वाले होते हैं, अतः इनके उदय से आत्म-गुण बिल्कुल प्रकट नहीं होता है। देशघाती स्पर्धक का उदय आत्मा के गुण को आंशिक घात करता है अर्थात् इनके उदय में आत्मा का गुण आंशिक रूप में प्रकट होता है। घाती कर्म

आत्मा के गुण का घात करने वाले होने से इनकी समस्त प्रकृतियाँ पाप रूप ही होती हैं, इनकी एक भी प्रकृति पुण्य रूप नहीं होती है तथा ये आत्मा के लिए अहितकर ही होते हैं। अघाती कर्मों की प्रकृतियाँ पुण्य और पाप दोनों प्रकार की होती हैं। परंतु इन दोनों प्रकार की प्रकृतियों के स्पर्धक न सर्वघाती होते हैं और न देशघाती होते हैं। अत: इनके उदय से जीव के कोई भी गुण प्रकट नहीं होता है। वीतराग केवलज्ञानी के उपघात-पराघात आदि पाप-पुण्य प्रकृतियों का उदय सदैव रहता है, परंतु इनके उदय से न तो उनके किसी गुण की हानि होती है और न इनके क्षय से किसी गुण की उपलब्धि ही होती है।

अघाती कर्मों के स्पर्धक घाती नहीं होने से इन स्पर्धकों के न्यूनाधिक उदय व क्षय होने से क्षायिक, औपशमिक एवं क्षायोपशमिक भाव नहीं होते हैं। ये तीनों भाव ही कर्म क्षय में हेतु होते हैं। ये तीनों भाव घाती कर्मों के क्षय, उपशम व क्षयोपशम से होते हैं यथा-घाती कर्मों के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय के अभाव रूप क्षय व इन्हीं स्पर्धकों के सत्ता में उपशम होने से क्षयोपशम भाव होते हैं। घाती कर्मों की प्रकृतियों के देशघाती एवं सर्वघाती स्पर्धकों के पूर्ण रूप से उपशम होने से औपशमिक भाव एवं सम्पूर्ण रूप से क्षय होने से क्षायिक भाव होते हैं। इन्हीं तीनों भावों से पापकर्मों के स्थिति व अनुभाग का घात होता है, जो मुक्ति में हेतु है। यह नियम है कि जब पाप के अनुभाव का घात व क्षय होता है तो पुण्य के अनुभाव में वृद्धि होती है।

❑❑❑

(13)

बंध का मुख्य कारण कषाय है, योग नहीं

जैन-दर्शन में योग और कषाय ये दो कर्म-बंध के कारण कहे गये हैं। योग से कर्मों का प्रकृति और प्रदेश बंध होता है तथा कषाय से स्थिति और अनुभाग बंध होता है, ऐसा कहा गया है, सो यथार्थ ही है। कारण कि योगों की प्रवृत्ति से कर्मों की रचना (सर्जन) और कषाय से कर्मों का बंध होता है।

कर्म सिद्धांत का यह नियम है कि प्रवृत्ति के बिना कर्मों या दलिकों का अर्जन नहीं हो सकता और कर्मों का अर्जन ही नहीं हो तो बंध किसका होगा। अत: योगों के अभाव में बंध का अभाव होगा। इस प्रकार कर्म-बंध की मौलिक सामग्री का निर्माण योगों से होता है परंतु कर्म दलिकों (प्रदेशों) का अर्जन होना और उसका बंध होना ये दोनों एक बात नहीं है। वीतराग केवली के योगों की प्रवृत्ति है, अत: कर्म-दलिकों का अर्जन तो होता ही रहता है, परंतु कर्म-बंध नहीं होता है।

विश्व में कर्म-वर्गणा सर्वत्र विद्यमान है और आत्माएँ भी सर्वत्र विद्यमान हैं अर्थात् जहाँ कर्म-वर्गणा विद्यमान है वहाँ आत्मा भी विद्यमान है, फिर भी उन कर्म-वर्गणाओं का आत्मा के साथ बंध नहीं होता है, क्योंकि उनका आत्मा के साथ संबंध स्थापित नहीं हुआ है। कर्मों का आत्मा

के साथ स्थापित या स्थित होना ही कर्म-बंध है और ये कर्म जितने काल तक स्थित रहेंगे वह ही स्थिति बंध का घनिष्ठ संबंध है और स्थिति बंध होता है कषाय से। इस दृष्टि से कर्म-बंध का प्रधान कारण कषाय है।

''गोयमा! चउहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्म पयडिओ बंधसु, बंधति, बंधिस्सति तंजहा-कोहेणं, माणेणं मायाए, लोभेणं। दं. 1-24 एवं नेरइया जाव वेमाणिया।'' -पन्नवणा पद 14, द्रव्यानुयोग पृष्ठ 1093

हे गौतम! जीवों ने चार कारणों से आठ कर्म प्रकृतियों का बंध किया है, करते हैं और करेंगे, यथा क्रोध से, मान से, माया से और लोभ से। इसी प्रकार नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक 24 दण्डकों में जानना चाहिये।

वस्तुत: कषाय ही बंध का कारण है, योग नहीं। योग से केवल कर्मों के दलिकों (प्रदेशों) का अर्जन होता है, बंध नहीं। क्योंकि जिन कर्मों का स्थिति बंध नहीं होता उनका न प्रकृति बंध होता है, न प्रदेश-बंध और न अनुभाग बंध। ये तीनों प्रकार के बंध स्थिति बंध होने पर ही संभव हैं।

यह नियम है कि कर्म जितने काल तक आत्मा में स्थित रहते हैं तब तक ही आत्मा कर्मों से बंधी रहती है या कर्म आत्मा से बँधे रहते हैं। कर्मों का आत्मा के साथ बँधे रहना ही स्थिति बंध है। कर्मों का आत्मा में स्थित न रहना, आत्मा से अलग हटना ही कर्म का मिटना है-कर्म का क्षय है। अत: कर्म का बंध व क्षय कर्म की स्थिति के बंध और क्षय पर निर्भर करता है। जैसा कि वीरसेनाचार्य ने जयधवला टीका में लिखा है-

पुव्वसंचियस्स कम्मस्स कुदो खओ? ट्ठिदिक्खयादो।।
ट्ठिदिक्खयो कुदो? कसायक्खयादो। उत्तं च-
कम्मं जो अणिमित्तं बज्झई कम्माट्ठिदी कसायवसा।
ताणमभावे बंधट्ठिदीणभावा सडइ संतं।।

-कसायापाहुड, प्रथम पुस्तक, पृष्ठ 57

शंका-पूर्वसंचित कर्म का क्षय किस कारण से होता है?

समाधान-कर्म की स्थिति का क्षय हो जाने से उस कर्म का क्षय होता है।

शंका-स्थिति का विच्छेद किस कारण से होता है?

समाधान-कषाय के क्षय होने से स्थिति का विच्छेद (घात) होता है अर्थात् नवीन कर्मों में स्थिति नहीं पड़ती है और कर्मों की पुरातन स्थिति का विच्छेद (घात) हो जाता है। कहा भी है-

योग के निमित्त से कर्मों का आस्रव (अर्जन) होता है और कषाय के निमित्त से कर्मों में स्थिति पड़ती है। इसलिए योग और कषाय का अभाव हो जाने पर बंध और स्थिति का अभाव हो जाता है और उससे सत्ता में विद्यमान कर्मों की निर्जरा होती है।

जैसा कि आचार्य श्री वीरसेन स्वामी ने कहा है-

जइ वि एवमुवदिसंति तित्थयरा तोवि ण तेसिं कम्मबंधो अत्थि। तत्थ मिच्छत्तासंजमकसायपच्चयाभावेण वेयणीयवज्जासेसकम्माणं बंधाभावदो। वेयणीयस्स वि ण ट्ठिदिअणुभागबंधा अत्थि, तत्थ कसायपच्चयाभावादो। जोगो अत्थि ति ण तत्थ पयडिपदेसबंधाणमत्थित्तं वोत्तुं सक्किज्जदे? ट्ठिदि-बंधेण विणा उदयसरूवेण आगच्छमाणाणं पदेसाणमुवयारेण बंधववएसुवदेसादो। ण च जिणेसु देस-सयलधम्मोवदेसेण अज्जियकम्मसंचिओवि अत्थि उदय-सरूवकम्मागमादोअसंखेज्जगुणाए सेढीए पुव्वसंचियकम्मणिज्जरं पडिसमयं करेंतेसु कम्म-संचयाणुववतीदो। -कसायपाहुड, प्रथम पुस्तक, पृ. 92-93

अर्थात् यद्यपि तीर्थङ्कर श्रावकों और मुनियों को उपदेश देते हैं तो भी उनके कर्मबंध नहीं होता है, क्योंकि जिनदेव के तेरहवें गुणस्थान में कर्म-बंध के कारणभूत मिथ्यात्व, असंयम और कषाय का अभाव हो जाने

से वेदनीय कर्म को छोड़कर शेष समस्त कर्मों का बंध नहीं होता है। वेदनीय कर्म का बंध होता हुआ भी उसमें स्थिति बंध और अनुभाग बंध नहीं होता है, क्योंकि वहाँ पर स्थिति बंध और अनुभाग बंध के कारणभूत कषाय का अभाव है। यद्यपि वहाँ पर 13वें गुणस्थान में योग है, फिर भी प्रकृति बंध तथा प्रदेशबंध के अस्तित्व का कथन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि स्थिति बंध के बिना उदय रूप से आने वाले निषेकों में उपचार से बंध के व्यवहार का कथन किया है। जिनदेव देशव्रती श्रावकों और सकलव्रती मुनियों को धर्म का उपदेश करते हैं, इसलिए उनके अर्जित कर्मों का संचय बना रहता है सो भी बात नहीं है, क्योंकि उनके जिन नवीन कर्मों का अर्जन होता है वे उदय रूप ही हैं उनसे भी असंख्यात गुणी श्रेणी रूप से वे प्रतिसमय पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा करते हैं। इसलिए उनके कर्मों का संचय नहीं बन सकता है।

वीरसेनाचार्य के उपर्युक्त कथन से यह परिणाम निकलता है कि कषाय के उदय, क्षय व क्षयोपशम से क्रमशः कर्म का बंध, क्षय व क्षयोपशम होता है। कर्मसिद्धांत में कषाय की कमी को विशुद्धि व कषाय की वृद्धि को संक्लेश कहा है। साथ ही विशुद्धि से कर्म की स्थिति का घात बताया है जो कर्म के अपवर्तन या निर्जरा का द्योतक है तथा संक्लेश से कर्म की स्थिति वृद्धि कही है जो कर्म-बंध के उद्वर्तन का द्योतक है, जैसाकि तत्त्वार्थसूत्र अध्ययन 10 की टीका में आचार्य अकलंक व पूज्यपाद ने कहा है कि विशुद्धि से प्रीति का उदय, उपेक्षाभाव की जागृति तथा अज्ञान का नाश होता है। ये तीनों ही मुक्ति में सहायक हैं अर्थात् विशुद्धि रूप शुभभाव मुक्ति-प्राप्ति में हेतु है।

कर्म-सिद्धांत का यह नियम है कि कषाय की वृद्धि से पूर्व संचित

समस्त पाप प्रकृतियों की स्थिति व अनुभाग में वृद्धि होती है तथा कषाय की कमी से स्थिति व अनुभाग में कमी होती है। निष्कर्ष यह है कि कर्मों का बंध, सत्ता, उद्वर्तन (वृद्धि), अपवर्तन (कमी), क्षय आदि कर्मों की समस्त स्थितियाँ कषाय पर ही निर्भर करती हैं। कहा भी है-**''कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव''** अर्थात् कषाय मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है।

पुण्य के स्थिति बंध का कारण : कषाय

अब यह प्रश्न उठता है कि पुण्य का स्थिति बंध अशुभ क्यों है?

समाधान-जो व्यक्ति यह चाहता है कि मेरा प्रभाव दूसरों पर पड़े, मेरे सच्चरित्र, कर्त्तव्यनिष्ठा से अन्य जन प्रभावित हों, दूसरों पर मेरे व्यक्तित्व की छाप पड़े, महत्त्व बढ़े और आगे भी बना रहे, मेरे गुणों से लोग प्रभावित हों, मुझे सज्जन, महापुरुष समझें, मेरी गिनती महापुरुषों में, सिद्ध पुरुषों में हो, मेरे मरने के पश्चात् भी लोग मुझे याद करें, मेरा सत्कार हो, सम्मान हो, लोग मुझे पूजें, सुख-सुविधा पहुँचायें आदि फल की आशा रखे तथा अपने सरलता, क्षमा, निर्लोभता, मृदुता आदि गुणों से अपने महत्त्व का अंकन करे तो उसका ऐसा चाहना या करना मान कषाय का सूचक है। इससे उसके पुण्य व पाप प्रकृतियों का स्थिति बंध बढ़ता है तथा पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग घटता है।

सद्प्रवृत्तियों के करने का राग, फल की आशा तथा गुणों का अभिमान भयंकर दोष है। इस दोष के रहते साधक आगे नहीं बढ़ सकता। जब साधक अपने में अपनी कोई विशेषता नहीं पाता, तब गुणों का अभिमान नहीं रहता है, गुण उसका सहज स्वभाव बन जाते हैं। फिर गुणों की उपलब्धियों के लिए श्रम या अनुष्ठान नहीं करना पड़ता। वह सहज रूप से आगे बढ़ता है। सभी जीवों को गुण स्वभावतः स्वतः प्राप्त हैं, अतः जब

तक साधक गुणों को अपनी देन मानता है तब तक उसमें मैं करता हूँ, मैंने गुणों को पैदा किया है, यह अहं भाव व कर्तृत्व भाव बना रहता है। जहाँ कर्तृत्व भाव है, अहंभाव है वहाँ बंध है। ऐसी साधना से दोष दबते हैं, दोषों का दमन होता है, परंतु दोष मिटते नहीं है। केवल दोषों का उपशम होता है, उदय व क्षय नहीं होता। वह उपशम श्रेणी करता है, जिसमें समस्त दोष सत्ता में ज्यों के त्यों विद्यमान रहते हैं। वे पुनः अति अल्पकाल में ही उदय में आकर उसका पतन कर देते हैं।

क्षपकश्रेणि वही कर सकता है जो कर्तृत्वभाव, कर्त्तव्य का अहंकार, श्रम युक्त साधना, अनुष्ठान या अन्य किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति नहीं करता है, किसी भी प्रकार का संकल्प-विकल्प नहीं करता है, जो कर्म उदय के रूप में प्रकट हो रहे हैं उनसे असंग हो तादात्म्य तोड़ता है, उनका द्रष्टा रहता है, उन उदीयमान कर्मों के प्रति कोई प्रतिक्रिया नहीं करता है, उन्हें अच्छा-बुरा नहीं समझता है, ये कर्म क्यों उदय हो रहे हैं, ऐसा भी नहीं विचारता है, वह निर्विकल्पता से मिलने वाली आंशिक शांति के रस में रमण नहीं करता है। अनाश्रय (पराश्रय के त्याग) से मिली आंशिक स्वाधीनता के रस को महत्त्व नहीं देता है। उससे संतुष्ट नहीं होता है। तब वह इन्द्रियातीत, देहातीत, लोकातीत, भवातीत, गुणातीत होकर अनंत माधुर्य रूप वीतरागता का अनुभव करता है। ऐसा रस-एक बार चखने पर उसमें फिर परिवर्तनशील, क्षणिक एवं आकुलता युक्त विषय-रस की कामना कभी नहीं जगती है। इन्द्रिय, देह, लोक (संसार), गुण आदि इनसे सुख न लेना, इनके सुख को पसंद न करना ही इनसे अतीत होना है। जब साधक की सरलता, विनम्रता, सहजता, स्वाभाविकता इतनी बढ़ जाती है कि वह जीवन का अंग बन जाती है तो साधक गुणों से अभिन्न हो जाता है। फिर गुण और गुणी का, साध्य और साधक का, साधन और सिद्धि का

भेद व भिन्नता मिट जाती है। क्योंकि चीज वही दिखाई देती है जो अपने से भिन्न हो। जो अपने से अभिन्न होती है वह दिखाई नहीं देती है। अतः जब तक साधक को अपने में गुण होने का भास होता है तब तक उसमें और गुणों में एकत्व व अभिन्नता नहीं हुई, ऐसा समझना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि पुण्य के साथ रहा हुआ कषायभाव स्थिति बंध का कारण है। पुण्य का भी स्थिति बंध, कषाय, पाप व विकार का सूचक है अतः अशुभ है, परंतु इससे पुण्य अशुभ नहीं हो जाता है। उदाहरणार्थ शरीर के साथ लगा हुआ रोग शरीर के स्वास्थ्य के लिए घातक है, परंतु रोग हो जाने से शरीर बुरा नहीं हो जाता है, हेय नहीं हो जाता है, बुरा या हेय रोग ही होता है। इसी प्रकार पुण्य के साथ स्थिति बंध लगा होने से पुण्य हेय नहीं हो जाता है केवल स्थिति बंध ही बुरा है, अनुभाग बुरा नहीं है।

❑❑❑

(14)

पुण्य की अभिवृद्धि से पाप का क्षय

प्राणी जितना-जितना पाप से, बुराई के दोष से बचता है, पाप का, दोष का, बुराई का त्याग करता जाता है उतनी-उतनी उसकी आत्मा विशुद्ध होती जाती है। जितनी-जितनी आत्मा की विशुद्धि बढ़ती जाती है उतना-उतना पाप का क्षय होता जाता है और पुण्य की अभिवृद्धि होती जाती है। अतः सबसे बड़ा पुण्य है बुराई से बचना अर्थात् अपने राग-द्वेष, विषय-कषाय आदि दोषों का, बुराईयों का त्याग करना तथा दूसरों का बुरा न चाहना, बुरा न कहना, बुराई न करना। यह नियम है कि जो कुछ भी बुरा नहीं करता है उससे जो कुछ भी होता है वह भला ही होता है। भलाई करना ही पुण्य है। भलाई वही कर सकता है जो बुराई नहीं करता है। बुराई नहीं करना तथा भलाई करना ये दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। इनमें अंतर यह है कि बुराई न करने में तो सब समर्थ एवं स्वाधीन हैं, क्योंकि उसके लिए किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति की अपेक्षा नहीं होती है, परंतु किसी का भला करने, हित करने के लिए वस्तु, शरीर आदि की आवश्यकता होती है। अतः क्रियात्मक भलाई व सेवा सीमित ही हो सकती है। कोई भी व्यक्ति कितना ही सम्पन्न हो, वस्तुएँ देकर सारे समाज की गरीबी नहीं मिटा सकता, चिकित्सालय खोलकर सब रोगियों की चिकित्सा नहीं करवा सकता। विद्यालय खोलकर सबको प्रवेश नहीं दे सकता। धर्मशालाएँ बनवाकर सबको स्थान नहीं दे सकता। किंतु भावात्मक भलाई सबके प्रति हो सकती है। सबका भला

हो, सबका कल्याण हो, सबका मंगल हो, यह भावना वह मन से कर सकता है। भावात्मक भलाई करने में सब समर्थ एवं स्वाधीन हैं। क्रियात्मक भलाई व पुण्य में भी महत्त्व भावना का ही है। भावना रहित क्रियात्मक सेवा का मूल्य नहीं होता। कारण कि कोई व्यक्ति वस्तु, सम्पत्ति आदि की सेवा में लगता है परंतु उसमें कर्तृत्व भाव रूप करने का राग व फल की आसक्ति है, फल की आशा है तो वह सेवा या पुण्य घटिया श्रेणी का है। इससे पुण्य के अनुभाग में कमी होगी और स्थिति बंध अधिक होगा, जो शुभ नहीं है।

सद्प्रवृत्ति से जो पुण्य का उपार्जन होता है वह भी पाप के क्षय व निवारण से होता है। कारण कि सद्प्रवृत्ति दुष्प्रवृत्ति का अवरोध कर देती है। दुष्प्रवृत्ति जितनी कम होती जाती है, मिटती जाती है उतना ही नवीन पाप का उपार्जन रुकता जाता है तथा सत्ता में स्थित पुराने बँधे पाप कर्मों की स्थिति व अनुभाग का अपवर्तन एवं पुण्य प्रकृतियों में संक्रमण होता जाता है। यह सब पाप के क्षय के ही रूप हैं। आशय यह है कि पुण्य का अभिवर्द्धन पाप के क्षय की अवस्था में होता है। अत: पुण्य का उपार्जन एवं वृद्धि पाप क्षय की सूचक है।

पूर्वोक्त अन्न, जल, वस्त्र आदि नव प्रकार के पुण्यों में से प्रथम पाँच वस्तुओं से संबंधित हैं जो प्राय: सभी गृहस्थों के यहाँ पाई जाती हैं, अत: इन्हें देकर पुण्योपार्जन किया जा सकता है। अगले चार पुण्य अन्य पर निर्भर न होकर स्वयं के तन, मन और वचन से संबंधित हैं। मन से सभी का भला चिंतन करना, नम्रता का व्यवहार करना, वचन से मधुर बोलना, शरीर से सेवा-शुश्रूषा करना आदि में सभी समर्थ व स्वाधीन हैं। अत: पुण्य करने में कोई पराधीन व असमर्थ हो, सो नहीं है।

यह नियम है कि पाप न करने से भी पुण्य का उपार्जन स्वत: होता है, पुण्य में वृद्धि होती है। जैसे किसी का बुरा न चाहने, बुरा न सोचने,

बुरा न करने, बुरा न मानने, बुराई न सुनने से पाप रुकता है-पाप का संवर होता है। फिर उससे जो भी प्रवृत्ति होती है वह भली ही होती है, भलाई की ही होती है। यह भी नियम है कि जितनी हिंसा, झूठ, राग-द्वेष आदि पाप क्रिया रुकी है, घटती है, उतनी ही आत्मा में विशुद्धि होती है और आत्मा की जितनी विशुद्धि होती है उतनी पुण्य के अनुभाग में वृद्धि होती है। अत: पाप का न करना भी पुण्य की वृद्धि का हेतु है। विवेकीजन प्रत्येक काम करते हुए भी किसी के प्रति राग-द्वेष व बुराई करने से बचते हैं, तटस्थ रहते हैं, इससे वे पाप से तो बचते ही हैं साथ ही उनके पुण्य की अभिवृद्धि भी होती है। सारांश यह है कि पाप का त्याग ही संवर है, संवर से आत्मा की विशुद्धि होती है, जिससे पाप का अपवर्तन रूप क्षय व पुण्य के अनुभाग की वृद्धि होती है।

शरीर के लिए सहायक व सुविधाजनक अन्न, जल, वस्त्र, पाट-पलंग आदि वस्तुएँ देने का जितना महत्त्व है उससे अधिक हृदय में अनुकम्पा भाव जगने का, हृदय की कठोरता पिघलने का, दूसरों का हित करने का भाव जाग्रत होने का महत्त्व है। मन में किसी के प्रति अहित का विचार त्यागने से पाप कर्मों का भारी क्षय होता है। हृदय में करुणाभाव नहीं है, धन देने की इच्छा नहीं है, परंतु किसी के दबाव से वस्तु, धन आदि दान देता है और मन में पछतावा है तो वह उत्तम प्रकार का पुण्य नहीं कहा गया है। इसी प्रकार कोई सम्मान, सत्कार, कीर्ति व आदर पाने के लिए दान देता है तो उसे उस कार्य का फल सम्मान, सत्कार रूप ही मिलता है जो उसके अहंकार को पुष्ट करने वाला होने से पाप का क्षय करने वाला नहीं है। अत: महत्त्व सद्प्रवृत्ति के साथ रही भावना का भी है। हृदय की भावना का क्रियात्मक रूप मन की प्रवृत्ति है। अत: महत्त्व मन के शुभ-अशुभ विचारों का है। मन के शुभ विचारों से पाप का क्षय एवं पुण्य की वृद्धि होती है और मन के अशुभ विचारों से पाप की वृद्धि एवं पुण्य में कमी होती है। मन से शुभ विचार प्रत्येक मानव, प्रत्येक क्षेत्र में, प्रत्येक

परिस्थिति में हर समय कर सकता है और अपने पाप का क्षय कर सकता है, पुण्य की वृद्धि कर सकता है। अत: किसी के पास खिलाने-पिलाने आदि दान देने योग्य वस्तुएँ नहीं हों तब भी वह हर समय मन से शुभ विचार करने में स्वाधीन है और मन से शुभ विचार करने का महत्त्व वस्तुओं के दान देने के समान ही है। अत: साधक को सदा शुभ विचार करने में एवं उन्हें यथासंभव क्रियात्मक रूप देने में सदा तत्पर रहना चाहिए। इससे पाप का क्षय एवं पुण्य का उपार्जन होता रहेगा।

पुण्य : कर्मक्षय का हेतु

बंध चार प्रकार का है। इनमें से प्रकृति बंध व प्रदेश बंध का कारण मन, वचन और काया की प्रवृत्ति रूप योग है और स्थिति बंध व अनुभाग बंध का कारण राग, द्वेष, कषाय (आसक्ति) है। परंतु इन चारों प्रकार के बंधनों में से प्रकृति बंध, अनुभाग बंध व प्रदेश बंध ये तीन प्रकार के बंधन स्थिति बंध पर ही निर्भर करते हैं, क्योंकि यदि स्थिति बंध न हो तो इन तीनों प्रकार के बंधनों का बंध ही न हो। अत: स्थिति बंध ही मुख्य बंध है। स्थिति बंध से ही कर्म सत्त्व या सत्ता को प्राप्त होते हैं। कर्मों की सत्ता स्थिति बंध पर ही निर्भर करती है।

स्थिति बंध कषाय से होता है। कारण कि आयु कर्म को छोड़कर शेष सात कर्म का निरंतर बंध हो रहा है, उन सातों कर्मों की समस्त प्रकृतियों की स्थिति में वृद्धि होती है। यहाँ तक कि तीर्थङ्कर नामकर्म, मनुष्य गति, देवगति जैसी पुण्य प्रकृतियों की स्थिति में वृद्धि भी कषाय की वृद्धि से ही होती है। अर्थात् इन समस्त प्रकृतियों की स्थिति की वृद्धि उत्कृष्ट होने के कारण तत्प्रायोग्य उत्कृष्ट संक्लेश भाव है और कषाय की कमी रूप विशुद्धि भाव से पाप-पुण्य रूप समस्त प्रकृतियों की स्थिति स्वत: घटती है। अत: कर्मों की स्थिति का बंध होना व बढ़ना अशुभ है। परंतु पुण्य के अनुभाग बंध पर उपर्युक्त कर्म-सिद्धांत का नियम लागू नहीं होता।

पाप प्रकृतियों का अनुभाव बंध व उसकी वृद्धि, कषाय व कषाय की वृद्धि से होती है। लेकिन पुण्य प्रकृतियों में इससे विपरीत होता है। अर्थात् जैसे-जैसे कषाय की वृद्धि होती है वैसे-वैसे पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग घटता जाता है और कषाय में कमी से पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग बढ़ता जाता है अतः पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग में वृद्धि का कारण कषाय नहीं है, प्रत्युत कषाय की कमी है। अतः पाप पुण्य का संबंध अनुभाग से है स्थिति से नहीं, कारण कि पुण्य व पाप की सभी प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थिति बंध उत्कृष्ट संक्लेश से होता है। इसीलिये तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय 6, सूत्र 3-4 की व्याख्या करते हुए राजवार्तिक टीका में कहा है-

सर्वोत्कृष्टस्थितीनाम् उत्कृष्टसंक्लेशहेतुकत्वात्.....अनुभागबंधं प्रत्येतदुक्तम्। अनुभागबंधो हि प्रधानभूतः तन्निमित्तत्त्वात् सुखदुःखविपाकस्य। तत्रोत्कृष्ट-विशुद्धपरिणामनिमित्तः सर्वशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबंधः। उत्कृष्टसंक्लेशपरिणामनिमित्तः सर्वाशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबंधः।

अर्थ-यह नियम है कि सभी प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थिति बंध उत्कृष्ट संक्लेश से होता है। अतः यहाँ अनुभाग बंध की अपेक्षा इस सूत्र को लगाना चाहिये। पुण्य-पाप में अनुभाग बंध प्रधान है, वही सुख-दुःख रूप फल का निमित्त होता है। समस्त शुभ पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामों से होता है और समस्त अशुभ (पाप) प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध उत्कृष्ट संक्लेश परिणामों से होता है।

❑❑❑

(15)

पुण्य-पाप की उत्पत्ति-वृद्धि-क्षय की प्रक्रिया

जीव में शुभ-अशुभ परिणाम (भाव) उत्पन्न होते हैं। इनमें शुभ भाव भावपुण्य या पुण्य तत्त्व और अशुभ भाव को भावपाप या पाप तत्त्व कहते हैं। इन शुभ और अशुभ भावों के अनुरूप मन-वचन-काय की शुभ-अशुभ प्रवृत्ति होती है, उसे योग कहते हैं। शुभ प्रवृत्ति शुभयोग और अशुभ प्रवृत्ति अशुभ योग कही जाती है। योगों के निमित्त से कार्मण पुद्गल वर्गणाएँ आकर्षित होकर आत्मा की ओर आती हैं और कर्म रूप ग्रहण करती हैं, इसे आस्रव कहते हैं। शुभयोग से शुभ आस्रव होता है, जिसे पुण्यास्रव कहते हैं और अशुभ योग से अशुभ आस्रव होता है, जिसे पापास्रव कहते हैं।

योग या प्रवृत्ति शुभ हो या अशुभ, इनसे आत्म-प्रदेशों में परिस्पंदन होता है, जिससे कार्मण-वर्गणाओं के पुद्गल आते हैं और आत्म-प्रदेशों से मिलते हैं। ये कार्मण वर्गणाओं के पुद्गल प्रदेश कहलाते हैं। आत्म-प्रदेशों में जितना परिस्पंदन अधिक होता है उतनी ही अधिक संख्या में प्रदेशों का सर्जन होता है। इस प्रकार पुण्य या पाप कर्मों की प्रकृति व प्रदेश का सर्जन व उपार्जन योगों से होता है।

कर्म-प्रदेशों का आत्मा से जुड़े रहने के काल को स्थिति बंध कहते हैं एवं कर्म के स्वभाव की तीव्रता-मंदता को अनुभाव (अनुभाग) कहते हैं।

अनुभाग और स्थितिबंध इन दोनों का निर्माण कषाय से होता है।

कषाय में जितनी हानि-वृद्धि होगी आयु कर्म की तीन शुभ प्रकृतियों को छोड़कर समस्त पुण्य-पाप की प्रकृतियों का स्थितिबंध कम या अधिक होगा। कषाय की हानि होने पर स्थितिबंध कम होगा। यही सिद्धांत पहले के बंधे हुए कर्मों की जो स्थिति है उस पर भी घटित होता है। कषाय की हानि से पूर्व बद्ध समस्त कर्म प्रकृतियों की स्थिति बंध का अपवर्तन (क्षय) होता है और कषाय की वृद्धि से पूर्वबद्ध समस्त कर्म प्रकृतियों के स्थितिबंध का उद्वर्तन (वृद्धि) होता है। इस प्रकार पूर्व में बँधा व वर्तमान में बँधने वाला सम्पूर्ण स्थितिबंध कषाय पर निर्भर करता है। कषाय के क्षय से स्थिति का क्षय होता है और कषाय की वृद्धि से स्थिति बढ़ती है। स्थिति बंध ही कर्मों को आत्मा के साथ बाँधे रखने वाला होता है।

कर्मबंध की विद्यमानता स्थितिबंध पर ही निर्भर करती है। स्थितिबंध की उत्पत्ति व वृद्धि होती है कषाय के उदय व वृद्धि से अर्थात् औदयिक भाव से। इसलिए जैनागम में व कर्म सिद्धांत में एक मात्र औदयिक भाव (कषाय) को ही कर्म बंध का कारण कहा गया है। स्थितिबंध का नियम तीन शुभ आयु को छोड़कर समस्त पुण्य-पाप प्रकृतियों पर समान रूप से लागू होता है। परंतु अनुभाग में ऐसा नहीं है। कारण कि अनुभाग स्वभाव का अनुसरण करता है। अतः शुभ स्वभाव वाली पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग कषाय की हानि से बढ़ता है और कषाय की वृद्धि से घटता है। सीधे शब्दों में कहें तो स्थिति बंध से ठीक विपरीत सिद्धांत अनुभाग पर लागू होता है अर्थात् पुण्य प्रकृतियों का स्वभाव व अनुभाव शुभ होता है और कषाय अशुभ होता है। ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। कषाय की क्षीणता से शुभ व शुद्ध भावों से पुण्य प्रकृतियों का स्वभाव उत्पन्न होता है व बढ़ता है। इसमें कषाय का उदय कारण न होकर कषाय का क्षय या ह्रास कारण होता है। इसके विपरीत पाप प्रकृतियों का स्वभाव व अनुभाव बढ़ता व घटता है। यही नियम पुण्य-पाप प्रकृतियों पर भी लागू होता है अर्थात् कषाय की वृद्धि से पूर्वबद्ध पुण्य-पाप प्रकृतियों के अनुभाव

का अपकर्षण (ह्रास) होता है और पाप प्रकृतियों के अनुभाव का उत्कर्षण (वृद्धि) होता है एवं कषाय के क्षय (ह्रास) से पूर्वबद्ध पुण्य प्रकृतियों के अनुभाव का उत्कर्षण (वृद्धि) होता है तथा पाप प्रकृतियों के अनुभाव का अपकर्षण होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कषाय की वृद्धि जितनी अधिक होती है उतना पुण्य-पाप कर्मों का बंध (स्थिति बंध) अधिक होता है और कषाय के क्षय (ह्रास) से पुण्य-पाप दोनों प्रकार के कर्मों का क्षय (स्थिति बंध का क्षय) होता है, परंतु कषाय की वृद्धि से पाप प्रकृतियों का अनुभाव बढ़ता है और पुण्य प्रकृतियों का अनुभाव घटता है। इससे यह भी फलित हुआ कि पुण्य प्रकृतियों का जितना आस्रव व अनुभाग बढ़ता है उतना ही पाप प्रकृतियों का ह्रास होता है।

इन सब तत्त्वों के द्रव्य व भाव रूप पर विचार करें। जीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष इन सबके भावात्मक रूप शुभ व अशुभ अध्यवसाय हैं। जीव के स्वभाव, पुण्य तत्त्व, पुण्यास्रव, पुण्य का अनुभाव, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सबका भावात्मक रूप एक ही है और यह शुभ अध्यवसाय है और इनका द्रव्यात्मक रूप शुभ योग और फल शुभ पुद्गल कर्मों का अर्जन व उनका फल देना है जो नाना प्रकार का है। इसी प्रकार जीव के विभाव, पाप, पापास्रव, पाप का अनुभाव है। इन सबका एक ही भावात्मक रूप है और वह अशुभ अध्यवसाय है तथा द्रव्यात्मक रूप अशुभयोग और फल अशुभ पुद्गल कर्मों का उपार्जन, बंध व उनका विपाक है जो नाना प्रकार का है।

जीव के परिणाम ही मुक्ति व बंध के मूल हेतु हैं। द्रव्य कर्म तो परिणामों के अनुरूप निसर्ग से स्वतः उत्पन्न होते हैं। जीव के शुभ परिणाम मुक्तिदाता हैं, क्योंकि ये कषाय के क्षय (ह्रास) से होते हैं तथा इनसे पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्मों का क्षय (स्थिति का क्षय) होता है। इसके

विपरीत जीव के अशुभ भाव कर्म बंध के हेतु होते हैं। क्योंकि ये कषाय की वृद्धि से होते हैं जिससे पुण्य और पाप इन दोनों प्रकार के कर्मों के स्थिति बंध में वृद्धि होती है।

जीव के कुल पाँच भाव हैं। इनमें से औदयिक भाव ही कर्मबंध के कारण हैं क्योंकि इन अशुभ अध्यवसायों से पापास्रव व पाप प्रकृतियों का प्रकृति, स्थिति, अनुभाव व प्रदेशबंध नियम से होता है। इनसे पुण्य प्रकृतियों का आस्रव, प्रकृति, प्रदेश व अनुभाव का सर्जन नहीं होता है प्रत्युत इन सबका ह्रास ही होता है। केवल पुण्य प्रकृतियों का स्थिति बंध होता है। परंतु पुण्य प्रकृतियों का अनुभाव शुभ होने से पुण्य कर्मों का फल शुभ ही मिलता है फिर वे भले ही कितने ही काल तक बँधे रहें। ये जीव के लिए कभी अशुभ होते ही नहीं हैं, इनसे जीव को किसी भी प्रकार की हानि नहीं होती है। शेष रहे तीन भाव-औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक, ये बंध के कारण नहीं हैं। औदयिक भाव ही, इनमें भी कषाय भाव ही कर्मबंध का कारण है। औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक, ये तीनों भाव शुभ अध्यवसाय, कषाय की मंदता व क्षय के सूचक हैं। ये तीनों भाव शुभ अध्यवसाय रूप होने से मोक्ष प्रदायक हैं। इन शुभ व शुद्ध भावों से पाप कर्म क्षय होते हैं, कर्म-बंध नहीं होता है।

तात्पर्य यह है कि नव ही तत्त्वों का एवं इनसे संबंधित पुण्य-पाप का भावात्मक रूप शुभ-अशुभ भाव है। अशुभ भाव पाप से संबंधित पाप तत्त्व, पाप प्रवृत्ति, पापास्रव, पाप कर्मों के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति व अनुभाव बंध का एवं पुण्य प्रकृतियों के स्थिति बंध का हेतु है। इस प्रकार अशुभ भाव-औदयिक भाव आत्मा के आंतरिक गुणों के घातक एवं बाह्य में शरीर इन्द्रिय-प्राण आदि के हानि के हेतु हैं। इसके विपरीत शुभ भाव आंतरिक गुणों के एवं बाह्य शरीर, इन्द्रिय, प्राण आदि शुभ प्रकृतियों के विकास के हेतु हैं। पुण्य तत्त्व पुण्यास्रव, पुण्य कर्म के प्रकृति, प्रदेश,

अनुभाव इनमें से किसी से भी जीव को हानि नहीं होती है। प्रत्युत जितनी इनकी वृद्धि होती है उतना ही पाप के सब रूपों का क्षय होता है। पाप ही जीव को संसार में रोके रखने का, रुलाने, भव भ्रमण कराने का हेतु है, पुण्य नहीं। संवर और निर्जरा तत्त्व के जितने भेद हैं उन सबसे पुण्य का उपार्जन एवं वृद्धि ही होती है। आशय यह है कि पुण्य का उपार्जन क्षायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, कषाय की मंदता, संवर, तप, संयम आदि जितने भी मोक्ष देने वाले तत्त्व हैं उन सबसे होता है। पुण्य तत्त्व आत्मा का सर्वांगीण, सर्वतोमुखी विकास करने वाला है। पुण्य आत्मा के लिए अहितकर नहीं है। आत्मा का अहित पाप से ही होता है।

कषाय में कमी होना शुभ भाव है। शुभ भाव को ही प्रकारान्तर से शुभयोग, विशुद्धि, शुद्धोपयोग व पुण्य कहते हैं। अतः पुण्य और पुण्य का फल सभी शुभ है, आत्मा के लिए हितकर है।

तात्पर्य यह है कि पुण्य की उत्पत्ति व वृद्धि क्षायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक रूप शुभ भावों से शुभ योग (सद्प्रवृत्ति) से होती है। शुभ योग से पुण्यास्रव, पुण्य कर्म के प्रकृति, प्रदेश व अनुभाव का सर्जन होता है। पुण्य के स्थिति-बंध का क्षय पाप के साथ स्वतः हो जाता है। इसके लिए अन्य किसी विशेष साधना की आवश्यकता नहीं होती है। इसके विपरीत पाप की उत्पत्ति व वृद्धि का कारण औदयिक भाव है। औदयिक भाव में भी कषाय का उदय ही मुख्य है। औदयिक भाव से अशुभ योग (दुष्प्रवृत्ति) होता है जिससे पापास्रव होता है तथा पाप के प्रकृति, स्थिति, अनुभाव व प्रदेश का अर्जन व बंध होता है। पाप के क्षय का उपाय है-कषाय का ह्रास अर्थात् जिन भावों से पुण्य का उपार्जन व वृद्धि होती है वे ही भाव पाप-क्षय के हेतु हैं।

❑❑❑

(16)

पुण्य-पाप की बंध-व्युच्छित्ति : एक चिंतन

कतिपय लोगों की ऐसी मान्यता है कि कर्म-सिद्धांत में पाप व पुण्य दोनों प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति कही है। इससे यह ज्ञात होता है कि जैसे पाप हेय है, उसी प्रकार पुण्य भी हेय है। इस जिज्ञासा के समाधान के लिए किसी कार्य की निवृत्ति किस प्रकार होती है, इस विषय पर विचार करना आवश्यक है।

किसी कार्य का अंत दो प्रकार से होता है-1. निवृत्ति से-क्षीण होकर, घटकर अर्थात् अभाव रूप में और 2. पूर्णता से अर्थात् बढ़कर उससे अतीत होकर, जैसे-

(अ) ऋण मुक्त होना दोनों अवस्थाओं में समान होता है-1. जिसने दिवालिया निकाल दिया और 2. जिसे देना था उसे दे दिया। बाह्य स्थिति एक होने पर भी ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं।

(आ) एम.ए. पढ़ने के कार्य का अभाव दो व्यक्तियों के होता है। 1. एम.ए. नहीं पढ़ने वाले के 2. एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने वाले के।

(इ) देह का अभाव व व्युच्छित्ति देहांत होने पर अथवा देहातीत होने

रूप दोनों अवस्थाओं में होती है। परंतु देहांत मृत्यु है और देहातीत होना सिद्ध अवस्था है, निर्वाण है।

(ई) तीर्थङ्कर नाम कर्म पुण्य प्रकृति का बंध प्रथम गुणस्थान में भी नहीं होता और 10वें गुणस्थान में भी नहीं होता। परंतु 10वें गुणस्थान में तो कषाय के क्षय से तीर्थङ्कर नाम का अनुभाग पूर्ण (उत्कृष्ट) हो जाने से बंध नहीं होता है और प्रथम गुणस्थान में अनन्तानुबंधी कषाय के उदय के कारण बंध नहीं होता है।

(उ) एकेन्द्रिय जीव के भी स्थिति बंध अत्यल्प एक सागर से भी कम होता है और यही स्थिति बंध वीतराग अवस्था वाले क्षपक श्रेणी के साधक के भी होता है। बाहर से एक-सी अवस्था प्रकट होने पर भी अंतर में परस्पर विरोधी है।

पाप प्रकृतियों की उत्पत्ति दोषों से और पुण्य प्रकृतियों की उत्पत्ति गुणों से होती है। दोषों के क्षय से पाप-प्रकृतियों की बंध-व्युच्छित्ति हो जाती है और गुणों की वृद्धि से पुण्य प्रकृतियों की पूर्णता हो जाने से पुण्य प्रकृतियों की बंध-व्युच्छित्ति हो जाती है। गुणों की वृद्धि और दोषों का क्षय ये दोनों कार्य युगपत् होते हैं अतः पुण्य और पाप प्रकृतियों की बंध-व्युच्छित्ति युगपत् होती है। इसी प्रकार क्षपक श्रेणी में पाप और पुण्य दोनों प्रकार की कर्म प्रकृतियों की व्युच्छित्ति होने में दो विरोधी कारण हैं। क्षपक श्रेणी में घाती कर्म की पाप प्रकृतियों का अनुभाग बंध व स्थिति बंध घटता जाता है और घटकर उसका क्षय व अंत हो जाता है। इसलिये बंध व्युच्छित्ति हो जाती है। इसके विपरीत पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग में वृद्धि हो जाती है और यह वृद्धि पूर्णता (उत्कृष्टता) को प्राप्त होकर रुक जाती है, कारण कि पूर्ण होने पर आगे बढ़ने की गुंजाइश ही नहीं रहती है। इसलिए पुण्य प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति होती है।

इस प्रकार पाप प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति उनके स्थिति व अनुभाग के घात से होती है और पुण्य प्रकृतियों की व्युच्छित्ति उनके अनुभाग में वृद्धि होकर पूर्ण होने से होती है। अतः पाप प्रकृतियों की बंध-व्युच्छित्ति पाप प्रकृतियों के क्षय से होती है तथा पुण्य प्रकृतियों की बंध-व्युच्छित्ति पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग की पूर्णता से होती है। ये दोनों कार्य एक ही हेतु से होते हैं। यह हेतु है कषाय में कमी होना, क्षीण होना, क्षय होना। जितना कषाय घटता जाता है, क्षीण व क्षय होता जाता है, उतना ही पाप के अनुभाग का क्षय व पुण्य के अनुभाग में वृद्धि होती जाती है। कषाय के क्षय होते ही ये दोनों कार्य पूर्ण हो जाते हैं।

कैसा विचित्र सिद्धांत है कि पुण्य-पाप कर्म दोनों परस्पर विरोधी हैं, फिर भी इन दोनों की कर्म प्रकृतियों की बंध-व्युच्छित्ति कषाय के क्षय से ही होती है। होता यह है कि क्षपक श्रेणी में कषाय के क्षय से ज्ञानावरणादि घाती-पाप कर्मों की स्थिति और अनुभाग घटकर शून्य हो जाता है जिससे ये पाप कर्म निर्मूल-क्षय-अस्तित्वहीन हो जाते हैं और क्षपक श्रेणी में कषाय के क्षय से पुण्य कर्म प्रकृतियों का अनुभाग बढ़कर पूर्ण उत्कृष्ट हो जाता है, जिससे बंध रुक जाता है। पाप कर्मों की उनके उन्मूलन के कारण से और पुण्य कर्मों की उनके अनुभाग के चरम सीमा पर पहुँचने के कारण बंध व्युच्छित्ति होती है।

❑❑❑

(17)

मुक्ति में पुण्य सहायक, पाप बाधक

जैन कर्म सिद्धांतानुसार पुण्य आत्म-विकास का द्योतक एवं मुक्ति का सहायक अंग है, मुक्ति का बाधक व घातक नहीं है। परंतु वर्तमान में कतिपय जैन सम्प्रदाय वालों का ऐसा मानना है कि-''जैसे मुक्ति के लिए पाप त्याज्य है वैसे ही पुण्य भी त्याज्य है, क्योंकि वह मुक्ति में बाधक है। पुण्य करते-करते अनन्त जन्म बीत गये, अनंत बार नव ग्रैवेयक तक जा आए, फिर भी मुक्ति नहीं मिली। इसका कारण है पाप को तो हेय समझकर, त्याग करके पंच महाव्रत धारण किये, परन्तु पुण्य को न हेय समझा और न त्यागा। यदि पाप की तरह पुण्य को हेय समझकर त्याग दिया जाय तो मुक्ति कभी की मिल जाती।''

उपर्युक्त यह मान्यता कि 'पुण्य मुक्ति में बाधक है' कर्म सिद्धांत व आगम के विरुद्ध है। क्योंकि त्याज्य वही होता है जो आत्म-गुणों का घात करता है, जो अशुभ व पाप रूप है। सभी पुण्य प्रकृतियाँ पूर्ण रूप से अघाती हैं इनसे आत्म-गुण का घात होता तो देशघाती कहलाती, परंतु ऐसा नहीं है। पुण्य प्रकृतियाँ पूर्ण रूप से अघाती होने से इनसे आत्मा का अहित नहीं होता है। अत: पुण्य मुक्ति में बाधक और त्याज्य नहीं है।

पुण्य मुक्ति में सहायक है, क्योंकि पुण्य का उपार्जन पाप की कमी से, पाप के त्याग से, शुभ योग से होता है। यह नियम है कि जितने-जितने अंश में कषाय में कमी आती जाती है, पाप घटता जाता है, उतना-उतना पुण्य का अनुभाग बढ़ता जाता है, कषाय के क्षय से पूर्ण शुद्धोपयोग होता है तो उत्कृष्ट पुण्य का अनुभाग होता है। पुण्य का उत्कृष्ट अनुभाग होने पर ही वीतरागता आती है, केवलज्ञान होता है, मुक्ति मिलती है। अतः मुक्ति न मिलने का कारण पुण्य का पूर्ण उपार्जन न होना है, पुण्योपार्जन में कमी रहना है। इसे उदाहरणों से समझें, यथा-

उदाहरण 1.-जैसे कोई व्यक्ति कुएँ से पानी पाने के लिए एक-दो फुट के अगनित गड्ढे खोदे तब भी पानी नहीं निकलता है, गड्ढा पूरा गहरा खोदने पर ही पानी निकलता है।

उदाहरण 2.-किसी घड़ी या यंत्र में उसके हजारों पुर्जे लगा दिये जायें, परंतु कुछ पुर्जे लगने से रह जाएँ तो वह घड़ी व यंत्र कार्यकारी नहीं हो सकते, सम्पूर्ण पूर्जे यथास्थान पर लगने से ही वह यंत्र कार्यकारी व सफल होता है।

उदाहरण 3.-जल का तापमान कुछ अंशों में लाखों करोड़ों बार घटता-बढ़ता रहे, परंतु वह बर्फ नहीं बन सकता। तापमान के शून्य होने पर ही वह जल बर्फ बनता है।

इसी प्रकार जीव के कषाय में आंशिक कमी-वृद्धि असंख्य अनंत बार होती रहती है, परंतु कषाय की आंशिक कमी से प्रकट हुए आत्मा के गुणों का विकास व पुण्य की आंशिक वृद्धि होने से किसी को मुक्ति नहीं मिलती है। मुक्ति मिलती है कषाय रूप पाप के पूर्ण क्षय से, पूर्ण निर्दोषता

से, पूर्ण शुद्धोपयोग से, पूर्ण पवित्रता से, उत्कृष्ट पुण्य से। उत्कृष्ट पुण्य होता है संयम, संवर, त्याग, तप रूप शुद्धोपयोग की पूर्णता से तथा पाप के क्षय से। पुण्य के अनुभाग की वृद्धि व पूर्णता पाप की कमी व क्षय की द्योतक है। पाप से आत्मा का पतन होता है, अतः पाप ही मुक्ति में बाधक है और पाप के क्षय से ही मुक्ति की उपलब्धि होती है। पुण्य भाव से आत्मा पवित्र होती है आत्मा का उत्थान होता है। आत्मा की पवित्रता मुक्ति में सहायक होती है, बाधक नहीं।

पुण्य कर्म की बयालीस प्रकृतियाँ हैं। इनमें से सातावेदनीय, उच्च गोत्र आदि बत्तीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग चारित्र की क्षपक श्रेणी की उत्कृष्ट साधना में हातेा है। इनका उत्कृष्ट अनुभाग होने के पश्चात् अंतर्मुहूर्त्त में ही केवलज्ञान हो जाता है। इन प्रकृतियों के अनुभाग के अनुत्कृष्ट रहते आज तक न किसी को केवलज्ञान हुआ है और न आगे ही होगा और केवलज्ञान के बिना किसी को मुक्ति नहीं हो सकती। इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि आज तक जिस किसी को मुक्ति नहीं मिली उसका कारण पुण्य की उत्कृष्टता में कमी रहना है, न कि पुण्य की उपलब्धि। दूसरे शब्दों में कहें तो पुण्य की उत्कृष्ट अवस्था में बाधक कारण पाप है। अतः पाप ही मुक्ति में बाधक है, पुण्य नहीं। केवलज्ञान और केवलदर्शन न होने का कारण कोई पुण्य प्रकृति नहीं, अपितु केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण आदि पाप प्रकृतियों का उदय है। इसी प्रकार क्षायिक चारित्र या क्षायिक सम्यक्त्व न होने का कारण भी मोह कर्म की पाप प्रकृतियाँ ही हैं, कोई भी पुण्य प्रकृति नहीं। अतः यह कहना कि पुण्य मुक्ति में बाधक है, जैनागम व कर्म सिद्धांत के विपरीत है।

कर्मसिद्धांत तथा आगमानुसार पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग का

उपार्जन न तो मन, वचन व काया के किसी योग से होता है और न किसी कषाय से होता है, प्रत्युत आत्म-विशुद्धि व शुद्धापेयोग से होता है, क्योंकि योग से तो कर्म की प्रकृति व प्रदेश का उपार्जन होता है, स्थिति व अनुभाग का नहीं। यदि पुण्य के अनुभाग का उपार्जन कषाय से होता है तो पुण्य का अनुभाग कषाय के बढ़ने से बढ़ता तथा कषाय के घटने से घटता, जैसा कि पाप प्रकृतियों में होता है परंतु ऐसा नहीं होता है। इसके विपरीत पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग कषाय बढ़ने से घटता है, कषाय घटने से बढ़ता है और जैसे-जैसे कषाय का क्षय होता जाता है, वैसे-वैसे बढ़ता जाता है। संयम, त्याग, तप रूप क्षपक श्रेणी की उत्कृष्ट साधना के समय कषाय के पूर्ण क्षय रूप पूर्ण शुद्धोपयोग होने पर साधक के पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग बढ़कर उत्कृष्ट हो जाता है। तत्पश्चात् ही केवलज्ञान व केवलदर्शन होते हैं।

सारांश यह है कि केवलज्ञान, केवलदर्शन व मुक्ति में बाधक पुण्य की उपलब्धि नहीं है, बल्कि पुण्य के अनुभाग में कमी रह जाना है तथा घाती कर्म की पाप प्रकृतियों का उदय है। अतः मुक्ति-प्राप्ति के लिए पाप के त्याग व क्षय की आवश्यकता है। साधना का लक्ष्य या कार्य मात्र पाप का क्षय करना है, पुण्य का नहीं। क्योंकि किसी भी साधना से पुण्य के अनुभाग का क्षय नहीं होता है। यहाँ तक कि केवली समुद्घात से भी पुण्य का अनुभाग क्षीण नहीं होता है और मुक्ति-प्राप्ति के अंतिम समय तक पुण्य का यह अनुभाग उत्कृष्ट ही रहता है। पुण्य के अनुभाग के क्षय का एकमात्र उपाय है संक्लेशभाव, जिसका वीतराग अवस्था में सर्वथा अभाव है। रहा पुण्य की स्थिति का क्षय, जो पाप प्रकृतियों की स्थिति के क्षय के साथ स्वतः ही हो जाता है, इसके लिए अलग से साधना की आवश्यकता नहीं होती।

पुण्य का उपार्जन संयम अर्थात् पाप के त्याग रूप निवृत्तिपरक साधना से तथा दया, दान, मैत्री, सेवा, वात्सल्य रूप प्रवृत्तिपरक साधना से होता है। अतः पुण्य साधना का फल होने से मुक्ति में सहायक होता है, बाधक नहीं। इस प्रकार पुण्य, कर्म बंध का कारण नहीं है, बल्कि पाप कर्मों के क्षय का हेतु है। इसी पर प्रकाश डाला जा रहा है-

कषाय की कमी रूप विशुद्धि से पुण्य के अनुभाग में वृद्धि होती है जिससे समस्त पाप व पुण्य प्रकृतियों के स्थिति बंध में कमी आती है और सत्ता में स्थित समस्त कर्मों की स्थिति घटती है (स्थिति का क्षय कर्मों का क्षय है) तथा नई पाप प्रकृतियों के अनुभाग बंध में कमी होती है और सत्ता में स्थित पाप प्रकृतियों के अनुभाग में भी कमी होती है। इस प्रकार पुण्य के अनुभाग में वृद्धि की अवस्था में पाप प्रकृतियों की स्थिति व अनुभाग में कमी आती है व इनकी स्थिति का घात होता है। तात्पर्य यह है कि पुण्य का उत्कर्ष पाप कर्म के क्षय का कारण है, कर्म बंध का कारण नहीं। पाप कर्म के क्षय में सहायक होने से पुण्य संसार में रोके रखने का एवं संसार वृद्धि या संसार-परिभ्रमण का कारण नहीं है। अतः पुण्य को संसार-भ्रमण का कारण मानना अनुचित है।

कर्म-बंध व संसार परिभ्रमण का कारण राग-द्वेष रूप कषाय है। कषाय पाप रूप ही होता है, पुण्य रूप नहीं। कषाय के अभाव में अकेले योग से कर्मबंध नहीं होता। कषाय की तीव्रता से ही मिथ्यात्व, असंयम, प्रमाद व अशुभ योग रूप दुष्प्रवृत्तियों की उत्पत्ति होती है। कषाय की कमी से मिथ्यात्व आदि के क्षय करने का सामर्थ्य आता है। इस सामर्थ्य के सदुपयोग से ज्ञानीजन पाप की दुष्प्रवृत्ति का त्याग कर संयममय जीवन अपनाकर अपना कल्याण कर लेते हैं।

जो जीव प्राप्त सामग्री व सामर्थ्य का उपयोग त्याग में न कर विषय भोग में करते हैं वे अपने सामर्थ्य को खो देते हैं। फिर समस्त दशाओं व दिशाओं में इधर-उधर भटकते रहते हैं। आशय यह है कि सद्प्रवृत्तियों से उद्भूत सामर्थ्य का उपयोग त्याग में कर राग-द्वेष से मुक्त होना है। ये सद्प्रवृत्तियाँ किसी भी प्रकार से अहित की कारण नहीं हैं, इसलिये हेय या त्याज्य नहीं हैं। इसके विपरीत पाप कर्म के क्षय की हेतु हैं। इसलिये उपादेय व ग्राह्य हैं, परंतु ये आत्मा से भिन्न होने से साधन रूप हैं। अतः इन्हें साध्य मान लेने में साध्य की ओर प्रगति होने में अवरोध होता है। जबकि इनके प्रति असंग भाव रखने से साध्य की ओर तीव्र गति से प्रगति होती है।

इस प्रकार साधक, साधन, साध्य इन सब अवस्थाओं में सद्प्रवृत्तियाँ अपनी उपादेयता बनाये रखती हैं। इनका निषेध कहीं नहीं कहा है। यह अवश्य है कि ये निरंतर नहीं चल सकती। प्रवृत्ति के अंत में निवृत्ति आती ही है। इस निवृत्ति का भी महत्त्व है। इस निवृत्ति से शक्ति का प्रादुर्भाव होता है जो सद्प्रवृत्ति करने में सहायक होता है। इस प्रकार सद्प्रवृत्ति (समिति) और निवृत्ति (गुप्ति) ये दोनों साधन रूप हैं या यों कहें कि साधना की प्रगति के लिए ये दाएँ-बाएँ पैर के समान हैं। साधना में दोनों का ही महत्त्व है। इनमें से कोई भी उपेक्षा करने योग्य नहीं है।

दया, दान, करुणा, वात्सल्य, अनुकम्पा, मैत्री, वैयावृत्त्य (सेवा), परोपकार आदि भाव गुण हैं, दोष नहीं। गुण स्वभाव रूप होते हैं। स्वभाव को ही धर्म कहते हैं। अतः ये धर्म हैं। यह नियम है कि स्वभाव या धर्म से कर्म का बंध नहीं होता है। कर्म का बंध तो अधर्म से होता है। अधर्म, दोष, पाप व विभाव पर्यायवाची हैं। गुण, स्वभाव या धर्म सदैव उपादेय होता है, कभी भी, कहीं भी त्याज्य या हेय नहीं होता है। अतः उपर्युक्त

गुण सदैव उपादेय हैं, इन्हें हेय या त्याज्य कहना या समझना भूल है। साधक का भला इस भूल को दूर करने में है। भूल बनाये रखने में नहीं।

यही प्रश्न उठता है कि फिर पुण्य कर्म क्या है? उत्तर में कहना होगा कि सद्प्रवृत्तियों तथा संयम से आत्मा का जितना-जितना मोह-कषाय घटता जाता है उतनी-उतनी आत्मा निर्मल (पवित्र) होती जाती है। उसका चैतन्य गुण प्रकट होता जाता है अर्थात् आत्मिक (आध्यात्मिक) विकास होता जाता है। यह पुण्य तत्त्व है। **'जहा अंतो तहा बाहि'** अर्थात् जैसा भीतर वैसा बाहर। आचारांग आगम के इस सिद्धांतानुसार आध्यात्मिक विशुद्धि के साथ भौतिक विकास होता जाता है, अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन आदि पौद्गलिक पदार्थों की प्राप्ति व शक्ति में वृद्धि होती जाती है। इसी को पुण्य कर्म कहा जाता है। पुण्य शुभ रूप ही होता है, अशुभ रूप नहीं। अर्थात् इससे जीव को किसी भी प्रकार की हानि या दुःख नहीं होता है। पुण्य की सभी प्रकृतियाँ अघाती होती हैं। अतः ये आत्मा के किसी भी गुण का लेशमात्र भी घात नहीं करती।

गुण के क्रियात्मक रूप सद्प्रवृत्ति से पुण्य कर्म के प्रकृति, प्रदेश और अनुभाग का सृजन होता है, स्थिति का नहीं। अतः गुण बंधन कारक होते ही नहीं हैं। गुण का क्रियात्मक रूप दया, दान आदि पुण्य है, अतः पुण्य भी गुण का फल ही है।

यह नियम है कि दोष पाप है और निर्दोषता गुण है। कर्मों का बंध दोष से होता है, निर्दोषता से नहीं। प्रत्युत निर्दोषता से कर्म टूटते ही हैं। अर्थात् जितना-जितना राग रूप दोष घटता जाता है-निर्दोषता प्रकट होती जाती है; उतने-उतने कर्म उसी क्षण क्षीण होते जाते हैं। राग के पूरा क्षय होते ही घाती कर्मों का पूर्ण क्षय हो जाता है और कैवल्य अवस्था प्रकट

होती जाती है। कैवल्य होने पर अनंत दान की उपलब्धि हो जाती है जो अनंत करुणा व दया की द्योतक है। वीतराग विश्व वत्सल होते हैं। दया, दान, करुणा, वात्सल्य आदि स्वाभाविक गुणों को दोष या विभाव मानना और इसके फलस्वरूप संसार परिभ्रमण मानना आगम विरुद्ध है। गुण या दोष, इन दोनों ही के दो-दो रूप होते हैं-1. भावात्मक और 2. क्रियात्मक। भावात्मक रूप का संबंध जीव के भाव के साथ होता है और क्रियात्मक रूप का संबंध बाह्य जगत् से होता है। इसलिये भावात्मक रूप का प्रभाव या फल सजीव के भाव या स्वभाव पर तत्काल व सीधा पड़ता है और क्रियात्मक रूप का फल बाह्य जगत् पर पड़ता है। दोष के भावात्मक रूप के फलस्वरूप घाती कर्मों का क्षय होता है। दोष या गुण के भावात्मक रूप का संबंध जीव के भावों के साथ होने से घाती कर्मों के बंध और क्षय में जीव सदैव समर्थ और स्वाधीन होता है। वह अपने राग, द्वेष, मोह आदि दोष रूप कषाय भाव का जिस क्षण चाहे उसी क्षण त्याग कर अपने घाती कर्मों को नष्ट कर सकता है और केवलज्ञान केवलदर्शन की उपलब्धि कर सकता है, कारण कि घाती कर्मों का संबंध जीव के विद्यमान दोषों से है। दोष के घटते, दूर होते ही घाती कर्म क्षीण या क्षय हो जाते हैं। अर्थात् दोष जितने-जितने अंश में घटते जाते हैं। घाती कर्म उतने ही उतने अंश में निर्जरित होते जाते हैं और गुण प्रकट होते जाते हैं।

पाप मुक्ति में बाधक है, पुण्य नहीं

मुक्ति-प्राप्ति का मार्ग बतलाते हुए आचार्य कहते हैं- **'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः'** -तत्त्वार्थ सूत्र 1.1 अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र से मुक्ति मिलती है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का बाधक कारण मिथ्यात्व मोहनीय है जो मोहनीय कर्म की

प्रकृति है और पाप प्रकृति है तथा सम्यक् चारित्र का बाधक कारण अनंतानुबंधी आदि कषाय है जो चारित्र मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ हैं एवं पाप प्रकृतियाँ हैं। इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति के हेतु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र इन तीनों के बाधक कारण पाप रूप दर्शन मोहनीय एवं चारित्र मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ हैं। मोहनीय कर्म के अतिरिक्त अन्य कोई कर्म या कारण इनका बाधक नहीं है। तात्पर्य यह है कि मुक्ति प्राप्त कराने वाली सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों साधनाओं का बाधक व घातक कारण मोहनीय कर्म है, जो पाप कर्म है।

मोह अर्थात् कषाय ही समस्त पाप कर्मों के स्थिति-बंध व अनुभाग-बंध का हेतु है। मोह क्षीण होने से समस्त पाप प्रकृतियों का बंध क्षीण होने लगता है। मोह के क्षय होते ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय ये तीनों घाती कर्म जो एकांत पाप कर्म हैं, क्षय हो जाते हैं। मोहनीय कर्म के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से केवल ज्ञान, दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से केवलदर्शन और अंतराय कर्म के क्षय से अनंत दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पाँच लब्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं और जब तक चारित्र मोह का अंश मात्र भी उदय रहता है तब तक घाती कर्मों का बंध होता रहता है। जैसा कि दसवें सूक्ष्म संपराय गुणस्थान में संज्वलन लोभ नामक अति सूक्ष्म कषाय का उदय रहता है। इस उदय से ज्ञानावरणीय आदि घाती कर्मों का बंध निरंतर होता रहता है। घाती कर्म ही जीव के गुणों का घात करते हैं जिससे केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि जीव के गुण प्रकट नहीं होते हैं। इन गुणों के प्रकट हुये बिना मुक्ति कदापि संभव नहीं है। अतः मुक्ति में, मुक्ति के मार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में बाधक कारण घातीकर्म ही है। जो एकांत पाप रूप हैं। अतः पाप कर्म ही मुक्ति के मार्ग में बाधक हैं, पुण्य कर्म नहीं।

पुण्य की समस्त प्रकृतियाँ अघाती कर्मों की हैं। अघाती कर्म उसे ही कहते हैं जो जीव के किसी भी गुण का अंश मात्र भी घात न करे, जिससे जीव को कुछ भी हानि न हो। यदि अघाती कर्म जीव को कुछ भी हानि पहुँचाने वाले होते, अंश मात्र भी किसी गुण का घात करने वाले होते तो जैनागम में इन्हें देशघाती कहा जाता। इन कर्मों के अघाती विशेषण इसलिए लगाया गया है कि घाती कर्मों के समान कोई इन्हें भी जीव के किसी गुण का अंश मात्र भी घात करने वाला न समझ लें अन्यथा इनके अघाती विशेषण लगाने की आवश्यकता ही नहीं थी। अभिप्राय यह है कि पुण्य से न तो किसी साधना में बाधा पड़ती है, न यह मुक्ति में बाधक है और न इससे जीव के किसी गुण का घात ही होता है। मुक्ति-प्राप्ति में, मुक्ति-प्राप्ति के मार्ग (साधना) में केवल घाती-पाप कर्म ही बाधक होते हैं। यही नहीं जब तक पुण्य कर्मों का अनुभाग द्विस्थानिक से बढ़कर चतुःस्थानिक नहीं हो जाता, तब तक सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नहीं होता है और यही अनुभाग बढ़कर उत्कृष्ट नहीं हो जाता है तब तक यथाख्यात चारित्र नहीं होता है।

❑❑❑

(18)

पुण्य के अनुभाग का क्षय किसी साधना से नहीं

कर्म-बंध पुण्य रूप हो या पाप रूप, घाती हो या अघाती या अन्य किसी प्रकार का हो वह उदय में आकर अपना फल देकर क्षय (निर्जरित) होता है। कर्मक्षय की यह प्रक्रिया प्राकृतिक है। साधक कर्म का क्षय संवर, निर्जरा आदि साधना के द्वारा भी करता है। यहाँ इसी दृष्टि से पुण्य के क्षय पर विचार किया जा रहा है। जो पुण्य को किसी भी दृष्टि से हेय मानते हैं उन्हें पुण्य का क्षय करना अभीष्ट होगा और पुण्य का क्षय दया, दान, सेवा, करुणा आदि सद्प्रवृत्तियों, संयम, त्याग, तप, क्षमा, मार्दव, आर्जव, ज्ञान-दर्शन-चारित्र पालन रूप किसी भी साधना से नहीं हो सकता, क्योंकि इन सबसे कषाय में कमी होती है और यह नियम है कि जितनी कषाय में कमी होती है उतनी ही परिणामों में विशुद्धि बढ़ती है और विशुद्धि की वृद्धि से पुण्य के अनुभाग में वृद्धि होती है। यह भी नियम है कि संयम-त्याग-तप और ज्ञान-दर्शन-चारित्र की साधना से कषाय में विशेष रूप से कमी होती है। जो विशेष विशुद्धि में कारण है। यह विशुद्धि सद्प्रवृत्तियों से होने वाली विशुद्धि से विशेष होती है। जिससे कर्म सिद्धांत के अनुसार पूर्व अर्जित सत्ता में स्थित पाप प्रकृतियों के अनुभाग व स्थिति में विशेष कमी होती है एवं पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग का उत्कर्षण होता

है। यह कहा जा सकता है कि पुण्य के अनुभाग का सद्प्रवृत्तियों में जितना उत्कर्ष (उत्कर्षण) होता है उससे भी संयम, त्याग, तप व ज्ञान, दर्शन, चारित्र की साधना से पुण्य-प्रकृतियों के अनुभाग में विशेष उत्कर्ष (उत्कर्षण) होता है, वृद्धि होती है। यही कारण है कि साधक ज्ञान, दर्शन, चारित्र की विशुद्धि पर जितना-जितना गुणस्थान पर आगे बढ़ता जाता है उतना ही अधिक पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग भी बढ़ता जाता है। कहा भी है-

तत्रोत्कृष्टविशुद्धपरिणामनिमित्तः सर्वशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धः।

-राजवार्त्तिक 6.3

अर्थात् उत्कृष्ट विशुद्ध परिणाम से समस्त शुभ (पुण्य) प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध होता है। इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि संयम, त्याग, तप व ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप साधना पुण्य के उपार्जन व उत्कर्ष में हेतु है, पुण्य के अनुभाव के क्षय में लेशमात्र भी नहीं। इस प्रकार संवर-निर्जरा रूप संयम-त्याग तप आदि किसी भी साधना से पुण्य का क्षय हो नहीं सकता। इनसे पुण्य के अनुभाग में वृद्धि ही होती है। यह सर्वविदित है कि पुण्य-पाप तत्त्व का संबंध उनके अनुभाग से ही है, स्थिति बंध से नहीं। दया, दान, परोपकार, वात्सल्य आदि सद्प्रवृत्तियों से पुण्य का उपार्जन ही होता है।

शुभाशुभौ मोक्षबंधमार्गौ अर्थात् शुभ योग (पुण्य) मोक्ष मार्ग है और अशुभ योग (पाप) बंध का मार्ग है। अनन्त सामर्थ्यवान् वीतराग प्रभु के भी चौदहवें गुणस्थान के पूर्व तक नियम से सदैव शुभ योग रहता ही है। अनन्तदानी होना वीतराग का स्वभाव ही है। आशय यह है कि साधना के अन्तिम क्षण तक, मुक्ति के पूर्व क्षण तक पुण्य का सद्भाव बना ही रहता है।

❑❑❑

(19)

पुण्य-पाप के अनुबंध की चौकड़ी

चउव्विहे कम्मे पण्णत्ते, तंजहा-सुभे णाममेगे सुभे विवागे, सुभे णाममेगे असुभविवागे, असुभे णाममेगे सुभविवागे, असुभे णाममेगे असुभ विवागे।। -स्थानांग 4, उद्देशक 4, सूत्र 603

कर्म चार प्रकार का है-

1. शुभ और शुभ विपाक-कोई कर्म शुभ होता है और उसका विपाक भी शुभ होता है।

2. शुभ और अशुभ विपाक-कोई कर्म शुभ होता है और उसका विपाक अशुभ होता है।

3. अशुभ और शुभ विपाक-कोई कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक शुभ होता है।

4. अशुभ और अशुभ विपाक-कोई कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक भी अशुभ होता है। इनमें से दूसरे एवं तीसरे भंग संक्रमण करण से संभव हैं।

पुण्य-पाप के अनुबंध के चार प्रकार हैं-**1. पापानुबंधी पाप**-पाप के उदय में पाप कर्म का बंध होना, **2. पुण्यानुबंधी पाप**-पाप के उदय में पुण्य का बंध होना। **3. पापानुबंधी पुण्य**-पुण्य के उदय में पाप का

बंध होना और **4. पुण्यानुबंधी पुण्य**-पुण्य के उदय में पुण्य का अनुबंध होना। इस चौकड़ी में पुण्य व पाप दो प्रकार से दिये गये हैं। एक प्रकार में बंध के रूप में पुण्य और पाप को लिया गया है जिसे पुण्यानुबंध व पापानुबंध कहा गया है। दूसरे प्रकार में उदय के रूप में पुण्य-पाप का ग्रहण किया है जिसे पुण्य का उदय व पाप का उदय कहा गया है।

प्रत्येक छद्मस्थ जीव के प्रतिपल पुण्य व पाप इन दोनों कर्मों का बंध व उदय होता रहता है। ऐसी स्थिति में पुण्य और पाप इन दोनों कर्मों के उदय में से पुण्य के उदय को लिया जाय या पाप के उदय को लिया जाय तथा इसी प्रकार के दोनों कर्मों के बंध में से पाप के बंध को लिया जाय या पुण्य के बंध को लिया जाय, यह प्रश्न उपस्थित होता है। उदाहरणार्थ कोई मनुष्य सातवीं नारकी की भयंकर पाप प्रकृति का बंध कर रहा है, उस समय वह अनंत पुण्य रूप पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, निर्माण, अगुरुलघु आदि अनेक पुण्य प्रकृतियों का बंध भी कर रहा है और इन पुण्य प्रकृतियों का उदय भी उसके है तथा ज्ञानावरणीय, मोहनीय आदि पाप कर्मों का उदय भी है अर्थात् उसके पुण्य व पाप दोनों कर्मों का उदय एवं दोनों का बंध हो रहा है। ऐसी स्थिति में उसके पाप का उदय माना जाय या पुण्य का उदय माना जाय, पाप का बंध माना जाय या पुण्य का बंध माना जाय और उपर्युक्त चौकड़ी का कौनसा प्रकार या भेद माना जाय इसका निर्णय कैसे किया जाय, यह प्रश्न व जिज्ञासा उठना स्वाभाविक ही है।

यहाँ प्रथम पापानुबंधी पाप किसे माना जाय इस पर विचार करते हैं। कर्म प्रकृतियों के बंध के आधार पर तो यह निर्णय हो नहीं सकता है, क्योंकि पुण्य और पाप कर्मों की प्रकृतियों का बंध दसवें गुणस्थान तक

निरंतर होता रहता है। इसका निर्णय संक्लेश व विशुद्धि के आधार पर ही किया जा सकता है। कारण कि संक्लेश भाव कषाय की वृद्धि से होता है जिससे वर्तमान में बँधने वाली तथा भूतकाल में बँधी हुई सत्ता में स्थित व उदयमान समस्त पाप प्रकृतियों की स्थिति व अनुभाग बंध में वृद्धि होती है। पुण्य-प्रकृतियों का अनुभाग क्षीण होता है तथा पूर्वबद्ध पुण्य-प्रकृतियों का पाप-प्रकृतियों में संक्रमण होता है। इस प्रकार संक्लेश भाव पुण्य का क्षय व पाप की वृद्धि करने वाला होने से पापानुबंधी होता है। इसी प्रकार विशुद्धि भाव कषाय में कमी होने व आत्मा के पवित्र होने का सूचक है। इससे वर्तमान में बँधने वाली तथा भूतकाल में बँधी हुई पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग में वृद्धि होती है, पाप प्रकृतियों का अनुभाग क्षीण होता है तथा पाप प्रकृतियों का पुण्य प्रकृतियों में संक्रमण होता है। इस प्रकार विशुद्धि भाव पाप का क्षय व पुण्य की अभिवृद्धि करने वाला होने से पुण्यानुबंधी कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि पापानुबंधी और पुण्यानुबंधी का निर्णय संक्लेश व विशुद्धि भाव के आधार पर ही किया जा सकता है।

इसी प्रकार उदय को लें। घाती कर्मों की कोई भी प्रकृति पुण्य रूप होती ही नहीं है तथा चारों ही घाती कर्मों का उदय 10वें गुणस्थान तक बंध 9वें गुणस्थान तक नियम से रहता है। यदि इनके उदय को पाप रूप में ग्रहण किया जाय तो केवली के अतिरिक्त शेष समस्त जीवों में सदैव पाप का ही उदय मानना होगा। जिससे पापानुबंधी पुण्य और पुण्यानुबंधी पुण्य इन दो प्रकारों के अभाव का प्रसंग उत्पन्न हो जायेगा। अतः यहाँ पर उदय में अघाती कर्म की अशुभ व शुभ प्रकृतियाँ ही अभीष्ट हैं और उनमें भी यदि तैजस-कार्मण शरीर, अगुरुलघु आदि पुण्य प्रकृतियों को ही उदय में ग्रहण किया जावे तो सभी जीवों के सदैव पुण्य का ही उदय मानना होगा। अतः पुण्य प्रकृतियों से धवला टीका में मुख्यतः साता वेदनीय के

उदय को पुण्य के उदय में एवं असातावेदनीय के उदय को पाप के उदय में ग्रहण किया गया है, जो उचित लगता है। अतः उपर्युक्त विवेचन के अनुसार पुण्य और पाप की चौकड़ी इस प्रकार है-

1. पापानुबंधी पाप-असातावेदनीय के उदय में संक्लेश भावों से होने वाला कर्मबंध पापानुबंधी पाप है।

2. पुण्यानुबंधी पाप-असातावेदनीय के उदय में विशुद्ध भावों से होने वाला कर्मबंध पुण्यानुबंधी पाप है।

3. पापानुबंधी पुण्य-सातावेदनीय के उदय में संक्लेश भावों से होने वाला कर्मबंध पापानुबंधी पुण्य है।

4. पुण्यानुबंधी पुण्य-सातावेदनीय के उदय में विशुद्ध भावों से होने वाला कर्मबंध पुण्यानुबंधी पुण्य है।

❑❑❑

(20)

पुण्य-पाप आस्रव का हेतु : शुद्ध-अशुद्ध उपयोग

पुण्णस्सासवभूदा अणुकंपा सुद्धओ उवजोओ।
विवरीओ पावस्स हु आसवहेउं वियाणाहि।।52।।

-जयधवला पुस्तक 1, पृष्ठ 96

अर्थात् अनुकम्पा और शुद्ध उपयोग, ये पुण्यास्रव स्वरूप हैं या पुण्यास्रव के कारण हैं तथा इनसे विपरीत अर्थात् अदया और अशुद्ध उपयोग, ये पापास्रव के कारण हैं। इस प्रकार आस्रव के हेतु समझना चाहिये।

उपर्युक्त गाथा में श्री वीरसेनाचार्य ने अनुकंपा और शुद्ध उपयोग इन दोनों को पुण्यास्रव का कारण बताया है। इससे प्रथम तथ्य तो यह फलित होता है कि शुद्ध उपयोग अर्थात् शुद्ध भाव से भी आस्रव होता है और द्वितीय तथ्य यह फलित होता है कि अनुकंपा और शुद्ध उपयोग (शुद्ध भाव) ये दोनों सहचर व सहयोगी हैं अर्थात् जो कार्य उपयोग या शुद्ध भाव से होता है वही कार्य अनुकंपा से भी होता है। तृतीय तथ्य सामने आता है कि पुण्यास्रव का हेतु अशुद्ध भाव या विभाव नहीं है प्रत्युत शुद्ध भाव ही है। अशुद्ध भाव या विभाव से तो पाप का ही आस्रव होता है, पुण्य का नहीं। उपर्युक्त तीनों तथ्य श्रमण संस्कृति व कर्मसिद्धांत के प्राण हैं।

श्री वीरसेनाचार्य ने जयधवला की इस प्रथम पुस्तक में पृष्ठ 4 पर

शुभ व शुद्धभाव को कर्म क्षय का कारण बताया है और इसी पुस्तक के पृष्ठ 96 पर दी गई उपर्युक्त गाथा में इन्हें पुण्यास्रव का कारण बताया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जो पुण्यास्रव के कारण हैं वे ही कर्मक्षय के भी कारण हैं अर्थात् पुण्यास्रव व कर्मक्षय के कारण एक ही हैं। इससे यह भी फलित होता है कि पुण्यास्रव की वृद्धि जितनी अधिक होगी उतना ही कर्मक्षय अधिक होगा। उपचार से कहें तो पुण्यास्रव कर्मक्षय में हेतु है और यह नियम है कि जो कर्मक्षय का हेतु है वह कर्मबंध का कारण नहीं हो सकता। अतः पुण्यास्रव कर्मबंध का कारण नहीं हो सकता।

वर्तमान में जैन समाज में सर्वसाधारण में यह धारणा प्रचलित है कि जहाँ आस्रव है, वहाँ कर्म का बंध है। परंतु उनकी यह धारणा पुण्य तत्त्व, आस्रव तत्त्व व बंध तत्त्व की दृष्टि से विचारणीय है, क्योंकि यदि आस्रव मात्र बंध का कारण होता तो आस्रव तत्त्व, बंध तत्त्व का ही एक रूप या भेद होता। ये दोनों तत्त्व अलग-अलग नहीं होते, परंतु कर्म बंध का कारण कषाय और योग इन दोनों को कहा है। योग में भी शुभ योग को कर्मबंध का कारण नहीं कहा है, प्रत्युत शुभयोग को कर्मक्षय का कारण कहा है। क्योंकि शुभयोग कषाय में कमी का द्योतक है, जिससे कर्मों की स्थिति के क्षय रूप कर्मबंध का क्षय नियम से होता है। यह नियम है कि जितना शुभ या शुद्धभाव बढ़ता जायेगा अर्थात् सद्प्रवृत्ति दया, अनुकंपा, त्याग, तप, संयम बढ़ता जायेगा उतना पुण्य का आस्रव बढ़ता जायेगा अर्थात् पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग बढ़ता जायेगा और इस पुण्य के अनुभाग के बढ़ने के साथ पाप-प्रकृतियों की स्थिति भी घटती जायेगी। यह स्मरण रहे कि मिथ्यात्व अवस्था में सद्प्रवृत्तियों से जितना पुण्य प्रकृतियों का आस्रव होता है अर्थात् पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग का उपार्जन होता है उससे असंख्य-अनंत गुणा पुण्य का अर्जन पुण्यास्रव संयम-त्याग-तप से

होता है परंतु पुण्य की स्थिति बंध का कारण शुभ या शुद्ध भाव नहीं है, पुण्यास्रव के समय उनके साथ रहा हुआ कषाय रूप अशुभ भाव बंध का कारण है। उस विद्यमान कषाय रूप पाप से पुण्य की स्थिति का बंध होता है। यह स्थिति बंध ही कर्मबंध है और जहाँ कषाय नहीं है वहाँ स्थिति बंध नहीं है। वहाँ कर्मबंध भी नहीं है। जैसा कि कहा है-

ण य हिंसामेत्तेण य सावज्जेणावि हिंसओ होइ।
सुद्धस्स य संपत्ती अलाउत्ता जिणवरेहिं।।

-जयधवला पुस्तक 1, पृष्ठ 45

अर्थ-जीव केवल हिंसा करने मात्र से हिंसक नहीं होता है। अतः राग-द्वेष (कषाय) से रहित शुद्ध परिणाम वाले जीव के जो कर्मों का आस्रव होता है वह फल रहित है, ऐसा जिनवर ने कहा है। यही बात ओघनिर्युक्ति टीका, गाथा 755 में कही है-

न च हिंसामात्रेण सावद्येनापि हिंसको भवति। कुतः शुद्धस्य पुरुषस्य कर्मसंप्राप्तिरफला भणिता जिनवरैरिति।

इसी तथ्य की पुष्टि जयधवला पुस्तक 1, पृष्ठ 94, गाथा 46-47 में भी होती है-

उच्चालिदम्मि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे।
आबाधेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तं जोगमासेज्ज।।46
ण हि तग्घादणिमित्तो बंधो सुहुम्मो वि देसिओ समए।
मुच्छा परिग्गहो त्ति य अज्झप्पपमाणदो भणिदो।।47

-तथा ओघनिर्युक्ति टीका, गाथा 748-749

अर्थात् ईर्या समिति युक्त साधु के अपने पैर के रखने पर कोई प्राणी उनके पैर से दब जाय और उसके निमित्त से मर जाय तो उस प्राणी के घात के निमित्त से थोड़ा भी बंध आगम में नहीं कहा है, क्योंकि जैसे अध्यात्म

दृष्टि से मूर्च्छा (ममत्व भाव) को परिग्रह कहा है, वैसे ही कषाय रूप रागादि परिणाम को हिंसा या बंध का कारण कहा है।

तीर्थङ्कर नामकर्म आदि पुण्य प्रकृतियों का आस्रव बंध

तात्पर्य यह है कि योगों के निमित्त से कार्मण वर्गणाओं के आने रूप कर्म दलिकों का जो आस्रव होता है, वह कर्म बंध रूप नहीं होता है। वह कर्मबंध रूप अवस्था को तभी प्राप्त होता है जब उस समय उदयमान कषाय के कारण उस कर्म की स्थिति बँधती है। स्थिति बंध से ही वह कर्म जीव के साथ बँधा रहता है। स्थिति बंध के अभाव में वे कर्मदलिक बंध अवस्था को प्राप्त नहीं होते हैं, जैसा कि कहा है-

'कसायाभावेण अणुभाग-बंधाभावादो'। -धवला पुस्तक 13, पृष्ठ 49

अर्थात् कषाय के अभाव में कर्म के प्रदेश-अनुभाग आदि बंध अवस्था को प्राप्त नहीं होते हैं। कारण कि कषाय से ही स्थिति बंध होता है। स्थिति बंध कर्म के प्रदेशों का होता है। प्रदेशों के साथ अनुभाग जुड़ा रहने से वह भी प्रदेशों के साथ बंध अवस्था को प्राप्त होता है। इस प्रकार कषाय अनुभाग बंध का अनंतर व साक्षात् कारण न होकर परंपर कारण है। अभिप्राय यह है कि पुण्यास्रव का संबंध पुण्य प्रकृतियों के प्रदेश रूप कर्मदलिकों के अर्जन से है, पुण्य की स्थिति कषाय रूप पाप से बँधती है। अत: अशुभ है। इसे समझने के लिए हम तीर्थङ्कर नामकर्म के उपार्जन रूप पुण्यास्रव को लें, साथ ही उसके उत्कृष्ट स्थिति बंध के स्वामित्व पर विचार करें तो यह रहस्य स्पष्ट हो जायेगा। पहले यहाँ तीर्थङ्कर नामकर्म के उपार्जन रूप पुण्यास्रव के हेतुओं पर विचार करते हैं-

तीर्थङ्कर नामकर्म का पुण्य प्रकृतियों में उच्चतम स्थान है। इस प्रकृति के उपार्जन के ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र के अध्ययन आठ में बीस कारण बताये हैं तथा धवला, पुस्तक 8, पृष्ठ 79 से 91 तक एवं तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय 6 सूत्र 23 में सोलह कारण कहे गये हैं। इनमें आवश्यक,

प्रतिक्रमण, निरतिचार व्रतपालन रूप शुद्ध संयम, वैयावृत्त्य रूप तप व त्याग भी है। इससे यह प्रमाणित होता है कि संयम, त्याग व तप रूप जिन साधनाओं से पाप कर्मों की स्थिति व अनुभाग का क्षय होता है, उन्हीं साधनाओं से पुण्य-प्रकृतियों व उनके प्रदेश व अनुभाग का उपार्जन रूप आस्रव भी होता है।

अब पुण्य प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग के संबंध में विचार करें तो कर्मग्रन्थ भाग 5 गाथा 67 तथा पंचसंग्रह भाग 5 के अनुसार तीर्थङ्कर नामकर्म, यशकीर्ति, उच्चगोत्र आदि 32 पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध क्षपक श्रेणी में अपनी बंधव्युच्छित्ति होने के समय होता है। जैसे यशकीर्ति व उच्चगोत्र की बंधव्युच्छित्ति 10वें गुणस्थान के चरम समय में होती है, उस समय ही इन पुण्य प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग होता है। अर्थात् तीर्थङ्कर नामकर्म, उच्चगोत्र आदि 32 पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग अन्तर्मुहूर्त्त पश्चात् वीतराग केवलज्ञानी होने वाले शुद्ध भाव के धारक क्षपक श्रेणी करने वाले शुद्ध उपयोग युक्त साधक के ही होता है, अन्य के नहीं और यह अनुभाग मुक्ति में जाने के पूर्व क्षण तक उत्कृष्ट ही रहता है।

तात्पर्य यह है कि तीर्थङ्कर नामकर्म, उच्चगोत्र आदि समस्त पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग का उपार्जन शुद्ध भावों से ही होता है अशुद्ध भावों से नहीं। अतः पुण्यास्रव का कारण अशुद्धभाव मानना जैन सिद्धांत के विपरीत है। पूर्वोक्त **'पुण्णस्सासवभूदा'** गाथा में स्पष्ट कहा है कि शुद्ध उपयोग से विपरीत अर्थात् अशुद्ध उपयोग में मात्र पाप का ही आस्रव होता है। यह नहीं कहा कि पाप और पुण्य इन दोनों का आस्रव होता है। अतः पुण्यास्रव के कारणों को अशुद्ध उपयोग मानना जैनागम के विरुद्ध है। पुण्यास्रव को कहीं भी दोष रूप नहीं माना है। जैसा कि भगवती सूत्र शतक 7 उद्देशक 6 में कहा है-

कहं णं भंते! जीवाणं सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति? गोयमा! पाणाणुकंपयाए, भूयाणुकंपयाए, जीवाणुकंपयाए, सत्ताणुकंपयाए; बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए, असोसणयाए, अजूरणयाए, अतिप्पणयाए, अणिट्ठणयाए, अपरियावणयाए; एवं खलु गोयमा! जीवाणं सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति।

अर्थ-श्री गौतमस्वामी पूछते हैं कि हे भगवन्! जीव सातावेदनीय कर्म का उपार्जन किस प्रकार करते हैं? उत्तर में भगवान फरमाते हैं कि हे गौतम! प्राण, भूत, जीव और सत्त्व पर अनुकंपा करने से, बहुत से प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को दु:ख न देने से, उन्हें शोक उत्पन्न न करने से, उन्हें खेदित व पीड़ित न करने से, उनको न पीटने से, उनको परिताप नहीं देने से जीव सातावेदनीय रूप पुण्य कर्म का उपार्जन करते हैं।

उपर्युक्त सूत्र से स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनुकंपा करने तथा प्राणातिपात न करने रूप शुद्धोपयोग से पुण्य का उपार्जन होता है। भगवती शतक 7 के इसी छठे उद्देशक में कहा है कि प्राणातिपात से मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह पाप के त्याग रूप शुद्धोपयोग से अकर्कश (सुखद) वेदनीय कर्म रूप पुण्य का उपार्जन होता है। इसी प्रकार भगवती सूत्र के शतक 8 उद्देशक 7 में कहा गया है-''**गोयमा! जाइअमएणं, कुलअमएणं.....उच्चगोयकम्मासरीरजाव पओगबंधे।**'' अर्थात् जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपमद, श्रुतमद, लाभमद एवं ऐश्वर्यमद, ये आठ मद न करने से उच्चगोत्र का प्रयोग बंध होता है। इसका अभिप्राय यह है कि मद या मान पाप के त्याग रूप शुद्धोपयोग से उच्चगोत्र रूप पुण्य का उपार्जन होता है। तात्पर्य यह है कि 'पुण्य का आस्रव (उपार्जन)' पाप के त्याग रूप शुद्धोपयोग से होता है, यह सिद्धांत आगम सम्मत है। इसका विशेष विवेचन ''कषाय क्षय से पुण्य का उपार्जन'' लेख में किया गया है। पुण्यास्रव में कोई दोष नहीं है, इस संबंध में कहा है-

पावागमदाराइं अणारूवट्ठियाइं जीवम्मि।
तत्थ सुहासवदारं उग्घादेते कउ सदोसो।।

-57, कसायपाहुड, जयधवला पुस्तक 1, पृष्ठ 96-97

अर्थात् जीव में पाप के आस्रव के द्वार अनादिकाल से स्थित हैं। उनके रहते हुए जो शुभ आस्रव के द्वार रूप पुण्यास्रव का उद्घाटन करता है वह सदोष कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। अर्थात् शुभास्रव-पुण्यास्रव दोष रहित है। कहा भी है-

सातावेदनीय·····एदासिं पसत्थ-पयडीणं विसोधीदो अनुभागस्स घादाभावा समयं पडिविसोही वड्ढिदो अणंतगुणकम्मण एदासिमणुभागबंधस्स वड्ढिदंसणादो च। -धवला पुस्तक 6, पृष्ठ 209

अर्थात् सातावेदनीय आदि समस्त प्रशस्त पुण्यरूप प्रकृतियों के अनुभाग का विशुद्धि से घात नहीं होता है, किन्तु प्रति समय विशुद्धि के बढ़ने से अनंतगुणित क्रम द्वारा इन उपर्युक्त पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग की वृद्धि देखी जाती है। अर्थात् विशुद्धि से पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग में अनंतगुणी वृद्धि होती ही है।

कर्मफल का संबंध अनुभाग से है, प्रदेश से नहीं। जैसाकि कहा है-

''अनुभागबंधो हि प्रधानभूतः तन्निमित्तत्वात् सुखदुःखविपाकस्य।''

-राजवार्तिक 6.3

अर्थात् अनुभाग बंध ही प्रधान है, वही सुख-दुःख रूप फल का निमित्त होता है। प्रकारांतर से कहें तो कर्म की फलदान शक्ति को ही अनुभाग कहा जाता है।

कर्मों के अनुभाग की न्यूनाधिकता कर्म के प्रदेश पर निर्भर नहीं है। कारण कि प्रदेशों के अधिक बढ़ने से 1. स्थिति व अनुभाग दोनों घट सकते हैं। 2. अनुभाग बढ़ सकता है, स्थिति घट सकती है। 3. स्थिति बढ़

सकती है, अनुभाग घट सकता है। जैसे कि 10वें गुणस्थान में ज्ञानावरणीय आदि पाप प्रकृतियों व उच्चगोत्र आदि पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध होता है व स्थिति बंध जघन्य होता है तथा इन्हीं पुण्य प्रकृतियों की मिथ्यात्व गुणस्थान में प्रदेश वृद्धि के साथ स्थिति बढ़ सकती है, अनुभाग घट सकता है, जैसा कि कहा है-

''जोगवड्ढिदो अनुभागवड्ढीए अभावादो।'' -धवला पुस्तक 12, पृष्ठ 115

अर्थात् योगवृद्धि से अनुभाग वृद्धि संभव नहीं तथा

''ट्ठिदीए इव पदेसगलणाए अणुभावघादो णत्थि त्ति''

-कसाय-पाहुड, पुस्तक, पृष्ठ 337

अर्थात् प्रदेशों के गलने से जैसे स्थितिघात होता है, वैसे अनुभाग घात नहीं होता है। आशय यह है कि प्रदेशों के न्यूनाधिक होने से अनुभाग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इसी प्रकार स्थिति घटने से वीतराग की पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग पर कोई प्रभाव नहीं होता है। अर्थात् पुण्य प्रकृतियों की फलदान शक्ति प्रदेश व स्थिति पर निर्भर नहीं करती है, इनसे प्रभावित नहीं होती है।

हम पहले कह आये हैं कि पुण्य तत्त्व, आस्रव तत्त्व व बंध तत्त्व ये तीनों तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं। यहाँ इन्हीं पर संक्षेप में विचार करते हैं।

पुण्यतत्त्व-पुण्यास्रव-पुण्यबंध में अंतर

पुण्यतत्त्व-पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति पुण्यम्। -सर्वार्थसिद्धि 6.3

'पुण' सुभे इति वचनात् पुणति शुभीकरोति पुनाति वा पवित्री-करोत्यात्मानमिति पुण्यम्। -अभिधानराजेन्द्र कोष भाग 5, पृष्ठ 981

अर्थात् जिससे आत्मा पवित्र हो उसे पुण्य कहा जाता है। इसके विपरीत जिससे आत्मा अपवित्र हो उसे पाप कहा जाता है। आत्मा अपवित्र होती है विकारी भाव से, विभाव से। अतः विकारों में कमी आना ही

आत्मा का पवित्र होना है। यही विकारों में कमी रूप विशुद्धि भाव पुण्य कहा जाता है। 'पुण्य' मंगल रूप ही होता है, जैसा कि कहा है-

मंगलस्यैकार्थ उच्यते मंगलं, पुण्यं, पूतं, पवित्रं, प्रशस्तं, शिवं, शुभं, कल्याणं, भद्रं सौख्यमित्येवमादीनि मंगलपर्यायवचनानि।

-धवला पुस्तक 1, पृष्ठ 3

अर्थात् मंगल के एकार्थक नाम हैं-मंगल, पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, शुभ, कल्याण, भद्र, सौख्य इत्यादि। इन पर्यायवाची शब्दों में पुण्य को प्रशस्त, शिव, शुभ, कल्याण अर्थात् मुक्ति रूप कहा है।

जो पुण्य शिव व कल्याण रूप है, उस पुण्य को त्याज्य व हेय कहना शिव व कल्याण को त्याज्य कहना है। मंगल शब्द पाप रूप मल को गालने के अर्थ का द्योतक है। विकारों में कमी होकर उनका क्षय होना कल्याणकारी है, मुक्ति देने वाला है। इसलिए पुण्य को कल्याण व शिवरूप कहा है। जिससे आत्मा पवित्र होती है, वह सब पुण्य रूप है, मंगल रूप है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र व अहिंसा-संयम-तप रूप धर्म को उत्कृष्ट मंगल रूप कहा है अर्थात् ये अहिंसादि धर्म पुण्य, शिव व कल्याण रूप हैं। धर्म की वृद्धि के साथ पुण्य के अनुभाग की वृद्धि नियम से होती है। अतः पुण्य और धर्म एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इनको अलग नहीं किया जा सकता। आत्मा का विकारी भावों में कमी आने रूप विशुद्धि या शुभ भाव ही पुण्य तत्त्व है। पुण्य तत्त्व का संबंध शुद्ध व शुभभाव से है। जिससे आत्मा पवित्र हो वही पुण्य है, वही धर्म है। अतः पुण्य व धर्म एक ही कोटि के हैं।

पुण्य का आस्रव-कषाय की मंदता, संयम, त्याग, तप रूप शुद्धभाव व अनुकंपा, वात्सल्य, करुणा, दया, दान रूप सद्प्रवृत्तियों से पुण्य कर्म प्रकृतियों का उपार्जन होता है। इनके अनुभाग का अर्जन होता है। यही पुण्य का आस्रव कहा गया है। यहाँ पुण्यास्रव में पुण्य प्रकृतियों की स्थिति को नहीं लिया गया है, क्योंकि यह नियम है कि जितना-जितना

पुण्य का आस्रव बढ़ता है उतना-उतना पाप कर्मों के बंधनों का क्षय होता है व पुण्य की स्थिति में कमी होती है। अतः पुण्य का आस्रव पाप कर्मों के क्षय का सूचक है और यह संयम, तप, शुद्धभाव व विशुद्धि का अभिव्यक्तक भी है। अतः पुण्य का आस्रव हेय व त्याज्य नहीं है।

जैसे रोग कम हो या अधिक, अस्वस्थता का ही द्योतक होता है। कम रोग कम अस्वस्थता का और अधिक रोग अधिक अस्वस्थता का द्योतक होता है। अतः रोग कम हो या अधिक, वह बुरा ही है जबकि रोग में कमी का होना स्वास्थ्य वृद्धि का द्योतक है। इसी प्रकार कषाय कम हो तो नवीन पाप कर्मों का बंध कम होता है और कषाय अधिक हो तो नवीन पाप कर्मों का बंध अधिक होता है अर्थात् कषाय कम या मंद हो अथवा अधिक या तीव्र, वह पाप कर्म-बंध का ही हेतु है। इसके विपरीत कषाय में कमी या मंदता होने से पूर्व में बँधे सब पाप-पुण्य कर्मों की स्थिति का एवं पाप कर्मों के अनुभाग का क्षय होता है। अतः कषाय की मंदता कर्मक्षय का हेतु है, कर्म बंध का नहीं। जबकि मंद कषाय कर्मबंध का हेतु है। मंद कषाय और कषाय की मंदता में उतना ही अंतर है जितना अस्वस्थता में और स्वस्थता में अंतर है अर्थात् ये दोनों विरोधी अवस्थाएँ हैं। क्योंकि कषाय की विद्यमानता दोष की, औदयिक भाव की द्योतक है और कषाय की मंदता दोष में कमी होने की या निर्दोषता की प्रतीक है।

आगमभाषयौपशमिक-क्षायोपशमिक-क्षायिकं भावत्रयं भण्यते। अध्यात्मभाषया पुनःशुद्धात्माभिमुखपरिणामशुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसंज्ञां लभते।

-समयसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा 320 एवं द्रव्य संग्रहटीका, 45

आगम भाषा में औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक ये तीनों भाव कहे गये हैं और अध्यात्म भाषा में शुद्धात्मा के अभिमुख परिणाम व शुद्धोपयोग इत्यादि पर्याय नाम को प्राप्त होते हैं।

औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक ये तीनों भाव घाती कर्मों के उपशम, क्षयोपशम व क्षय से होते हैं। अतः आत्मा की शुद्धि को बढ़ाने वाले हैं और ये मोक्ष के हेतु हैं। जिन भावों से आत्मा की शुद्धि होती हो, जो मोक्ष के हेतु हों उन क्षयोपशम आदि भावों को शुद्धोपयोग ही कहा जायेगा, उन्हें अशुद्धोपयोग नहीं कह सकते। अशुद्धोपयोग त्याज्य ही होता है तथा भगवती सूत्र के प्रारंभ में कहा है **''चलमाणे चले''** अर्थात् जिसने चलना प्रारंभ कर दिया हो, उसे 'चला' कहा जाता है। उसे चला न मानना निह्नवता है, आगम विरुद्ध है। अतः जिससे आत्मा की शुद्धि हो वह शुद्धोपयोग है, अशुद्धोपयोग नहीं।

शुद्धभाव से पुण्यास्रव एवं क्षय

शुद्धभाव निर्दोषता का सूचक है और अशुद्धभाव सदोषता का। कषाय दोष है। दोष त्याज्य है, चाहे वह कम हो या अधिक। दोष में कमी होना शुद्धता में या शुभता में वृद्धि की द्योतक है जो पाप का नाश करने वाली और पुण्य के उपार्जन में वृद्धि करने वाली है। ये दोनों कार्य युगपत् होते हैं जैसा कि आचार्य पूज्यपाद ने तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्ध टीका में कहा है-

यथाऽग्निरेकोऽपि विक्लेदनभस्माङ्गारादिप्रयोजन उपलभ्यते तथा तपोऽभ्युदयकर्मक्षयहेतुरित्यत्र को विरोधः।

अर्थात् अग्नि एक है तथापि उसके विक्लेदन से भस्म और अंगार आदि अनेक कार्य उपलब्ध होते हैं वैसे ही तपरूप साधना से अभ्युदय (पुण्य) और कर्मक्षय रूप मुक्ति ये दोनों कार्य प्राप्त है, ऐसा मानने में क्या विरोध है, अर्थात् कोई विरोध नहीं है।

जैन दर्शन में सर्वत्र पाप के क्षय व पुण्य के अनुभाग में वृद्धि इन दोनों को एक साथ माना गया है। नमस्कार मंत्र को ही लें। इसमें अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु इन पाँच पदों को नमस्कार करने का फल

'सव्वपावप्पणासणो' एवं **'पढमं हवइ मंगलं'** कहा है। अर्थात् नमस्कार सब पापों का नाश करने वाला एवं मंगलकारी है। यह सर्वविदित ही है कि साधक जैसे-जैसे संयम तप रूप साधना से आत्मविशुद्धि में वृद्धि करता जाता है, वैसे-वैसे गुणस्थान-आरोहण करता जाता है। जिससे पाप कर्मों का क्षय व पुण्योपार्जन अधिकाधिक होता जाता है। तात्पर्य यह है कि आगम व कर्म सिद्धांतानुसार 1. शुद्ध व शुभ भाव से कर्म क्षय तथा 2. पुण्यास्रव ये दोनों कार्य युगपत् होते हैं। इनमें विरोध नहीं है। जैसे सूर्योदय से अंधकार का क्षय और प्रकाश दोनों कार्य एक साथ होते हैं। अतः श्री वीरसेनाचार्य के ये दोनों कथन कि शुद्ध भाव से कर्मक्षय होते हैं और पुण्यास्रव होता है, समीचीन है। युक्तियुक्त व पूर्ण रूप से कर्मसिद्धांत सम्मत है। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं जिन्हें अलग नहीं किया जा सकता। ये दोनों कार्य जैसे शुद्ध भाव से होते हैं वैसे ही शुभभाव व शुभयोग से भी होते हैं कारण कि शुभयोग शुद्ध भाव का अनुसरण करता है तथा यह शुद्ध भाव का क्रियात्मक रूप है।

आगे इसी पर आगम के परिप्रेक्ष्य में विचार करते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन 29 के 10वें सूत्र में आया कि-

प्रश्न-**वंदणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?**

वंदना करने से जीव को क्या प्राप्त होता है?

उत्तर-**वंदणेणं नीयागोयं कम्मं खवेइ उच्चागोयं कम्मं निबंधइ।**

अर्थात् वंदना करने से जीव नीच गोत्र का क्षय करता है और उच्च गोत्र का निबंधन करता है अर्थात् वंदना से पाप कर्म का क्षय व पुण्यास्रव दोनों कार्य होते हैं। वंदना का ही दूसरा रूप नमस्कार है। नमस्कार को ठाणांग सूत्र के नवम ठाणे में पुण्य कहा है। अरिहंत, सिद्ध, आचार्य आदि पाँच पदों के नमस्कार रूप सर्वमान्य नवकार मंत्र के माहात्म्य में उसे सब

पापों का क्षय करने वाला व उत्कृष्ट मंगल कहा है अर्थात् नमस्कार मंगल, पुण्यास्रव व कर्मक्षय इन सबका कारण है।

उपर्युक्त गाथा से वर्तमान में प्रचलित यह धारणा कि जिससे पुण्य का अर्जन या वृद्धि हो वह अशुद्ध भाव है, भ्रांत सिद्ध होती है। पहले यह कह आये हैं कि साधक जैसे-जैसे गुणस्थान आरोहण करता है अर्थात् संयम, त्याग, तप चारित्र में आगे बढ़ता है, कषाय का क्षय करता है वैसे-वैसे पुण्य में वृद्धि होती जाती है। यदि पुण्यास्रव के कारण को अशुद्धभाव माना जाय तो संयम, त्याग को अशुद्ध भाव मानना पड़ेगा, जो सिद्धांत विरुद्ध है तथा ऐसी दशा में साधक अवस्था में शुद्ध भाव संभव ही नहीं होगा और समस्त साधना का क्षेत्र अशुद्ध भाव के अंतर्गत आ जायेगा। फिर अशुद्ध भाव को ही कर्मक्षय का कारण मानना होगा, जो उचित नहीं हो सकता। कारण कि दसवें गुणस्थान तक पाप व पुण्य का बंध होता है। अतः दसवें गुणस्थान तक अशुद्ध भाव ही कहा जायेगा और वीतराग केवली को कर्मक्षय करना ही नहीं है, ऐसी स्थिति में शुद्ध भाव से कर्मक्षय होते हैं, यह सूत्र ही व्यर्थ हो जायेगा। अतः पुण्यास्रव के कारणभूत शुभ भाव को अशुद्ध भाव मानना युक्ति विरुद्ध है।

जहाँ भी संयम व तप रूप साधना से कर्म क्षय होना कहा गया है वहाँ कर्म क्षय से अभिप्राय पाप कर्मों के क्षय से ही है, पुण्य के अनुभाग के क्षय से नहीं। यदि पुण्य कर्म के अनुभाग का क्षय भी इष्ट माना जाय तो पाप कर्म भी साधना के क्षेत्र में आ जायेंगे। क्योंकि पुण्य प्रकृतियों व उनके अनुभाग का क्षय संक्लेश भाव रूप पाप प्रवृत्तियों के अतिरिक्त अन्य किसी से होता ही नहीं है। अतः कर्मों के क्षय से अभिप्राय पाप प्रकृतियों के क्षय से है। पुण्य-प्रकृतियों के स्थिति-क्षय के लिए कोई भी प्रयत्न व साधना नहीं करनी पड़ती। पाप प्रकृतियों की स्थिति के क्षय के साथ पुण्य प्रकृतियों की स्थिति स्वतः क्षीण हो जाती है, क्योंकि पाप और पुण्य इन

दोनों की प्रकृतियों के स्थिति बंध व स्थिति क्षय का कारण एक ही है अर्थात् स्थिति बंध का कारण कषाय का उदय है और स्थिति क्षय का कारण कषाय का क्षय व कमी है। अत: जैसे-जैसे पाप प्रकृतियों की स्थिति घटती जाती है वैसे-वैसे पुण्य प्रकृतियों की स्थिति भी अपने आप घटती जाती है। तात्पर्य यह है कि पुण्य प्रकृतियों की स्थिति के क्षय के लिए किसी अन्य साधना की आवश्यकता नहीं है।

साधना का कार्य पाप प्रकृतियों का क्षय करना ही है, पुण्य प्रकृतियों का नहीं। पुण्य प्रकृतियाँ तो उदय में आकर यथासमय स्वत: नष्ट हो जाती हैं, इन्हें क्षय करने के लिए किसी साधना व प्रयत्न की आवश्यकता व अपेक्षा नहीं होती।

यह सर्वविदित है कि पुण्य कहा ही उसे जाता है जो आत्मा को पवित्र व निर्मल करता है और उसका उपार्जन कषाय की मंदता रूप विशुद्धि व शुद्ध भाव से होता है। इस प्रकार पुण्य का हेतु व बीज संयम, तप, त्याग एवं विशुद्धि भाव रूप संवर-निर्जरा है। पुण्य संवर-निर्जरा की ही अभिव्यक्ति का रूप है, क्योंकि जैसा बीज होता है वैसा ही फल लगता है। अतएव पुण्य को हेय व त्याज्य मानना संवर-संयम-तप को हेय व त्याज्य मानना है। पुण्य का विरोध करना संवर, तप, निर्जरा, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र व शुद्ध भाव रूप स्वभाव का ही विरोध करना है। कारण कि जहाँ शुद्ध भाव होता है वहाँ योग रहते पुण्यास्रव नियम से होता है। पुण्यास्रव के त्याग का अर्थ है-सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, संयम, तप रूप साधना व शुद्ध भाव का त्याग। मुक्ति के मार्ग के त्याग का अर्थ है मुक्ति का त्याग। इस प्रकार पुण्यास्रव के त्याग के फलस्वरूप मोक्ष व मोक्ष-मार्ग का ही निषेध-विच्छेद हो जायेगा, जो किसी को भी इष्ट नहीं हो सकता।

❑❑❑

(21)

शुभ योग (सद्प्रवृत्ति) से कर्म क्षय होते हैं

जैनागमों में विषय, कषाय, हिंसा, झूठ आदि असद्-प्रवृत्तियों को सावद्य योग, अशुभ योग व पाप कहा गया है तथा दया, दान, करुणा, वात्सल्य, वैयावृत्त्य आदि सद्प्रवृत्तियों को शुभ योग व पुण्य कहा गया है। साथ ही शुभ योग को संवर भी कहा है। शुभयोग को पुण्य कहने का आशय है कि शुभयोग से आत्मा पवित्र होती है एवं पुण्य कर्म का उपार्जन होता है। शुभ योग को संवर कहने का अर्थ यह है कि शुभ योग से कर्म बंध नहीं होता है तथा यह भी कहा गया है कि शुभ योग संवर और निर्जरा रूप है अर्थात् दया, दान, अनुकम्पा, करुणा, वात्सल्य, सेवा, परोपकार, मैत्री आदि सद्प्रवृत्तियों से कर्म बंध नहीं होता है, प्रत्युत कर्मों का क्षय होता है।

'शुभ योग से कर्म बंध नहीं होता है वरन् कर्म क्षय होता है।' यह मान्यता जैन धर्म की मौलिक मान्यता है और प्राचीनकाल से परंपरा के रूप में अविच्छिन्न धारा से चली आ रही है। 'शुभ योग संवर है' यह मान्यता श्वेताम्बर सम्प्रदाय में तो आज भी ज्यों की त्यों विद्यमान है, किंतु दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी इसे मानें अथवा न मानें, परंतु प्राचीन काल में दिगम्बर सम्प्रदाय में यह मान्यता सर्वमान्य ही रही है। इसके अनेक प्रमाण ख्याति प्राप्त दिगम्बर आचार्य श्री वीरसेनस्वामी रचित प्रसिद्ध धवलाटीका

एवं जयधवलाटीका में देखे जा सकते हैं। उन्हीं में से कसायपाहुड की जयधवलाटीका से एक प्रमाण यहाँ उद्धृत किया जा रहा है-

सुह-सुद्ध परिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।
ओदइया बंधयरा उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा।।
भावो दु पारिणामिओ करणोभयवज्जिओ होइ।।

-जयधवला, पुस्तक 1, पृष्ठ 5

अर्थात् शुभ और शुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता। कहा भी है-

औदयिक भावों से कर्म-बंध होता है। औपशमिक, क्षायिक और मिश्र (क्षायोपशमिक) भावों से मोक्ष होता है तथा पारिणामिक भाव बंध और मोक्ष इन दोनों के कारण नहीं हैं।

उपर्युक्त उद्धरण में टीकाकार श्री वीरसेनाचार्य ने जोर देकर स्पष्ट शब्दों में कहा है कि क्षायोपशमिक भाव (शुभ भाव) मोक्ष का हेतु है, इससे कर्म क्षय होते हैं, कर्म-बंध नहीं होते हैं। कर्म-बंध का कारण तो एकमात्र उदयभाव ही है।

श्री वीरसेनाचार्य ने उपर्युक्त प्रसंग में सीधे शब्दों में विधिपरक अर्थ में यह नहीं कहा कि शुद्ध व शुभ भाव से कर्म क्षय होते हैं प्रत्युत निषेधात्मक अर्थ पर जोर देकर यह कहा है कि यदि शुद्ध व शुभ भाव से कर्म क्षय न हो तो कर्म क्षय हो ही नहीं सकते। श्री वीरसेनाचार्य के इस प्रकार के निषेधात्मक अर्थपरक उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस समय जैन धर्मानुयायियों में किसी सम्प्रदाय या आचार्य की यह मान्यता रही है कि शुभभाव से कर्म क्षय नहीं होते हैं। इसी मान्यता का निषेध करने के लिए आचार्य ने उपर्युक्त रूप से कथन किया है। यदि इस

प्रकार की मान्यता उस समय प्रचलित नहीं होती तो उसका निषेध करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। श्री वीरसेनाचार्य ने शुभ भाव से कर्म क्षय नहीं होते हैं अर्थात् कर्म बंध होते हैं इस मान्यता का खण्डन करने के लिए ही उपर्युक्त रूप में जोरदार शब्दों का प्रयोग किया है। परंतु उपर्युक्त मान्यता पर जयधवला पुस्तक 1 पृष्ठ 5 पर मान्यवर सम्पादक महोदय ने 'विशेषार्थ' के रूप में अपनी टिप्पणी देते हुए लिखा है कि शुभ परिणाम कषाय आदि के उदय से ही होते हैं क्षयोपशम आदि से नहीं। इसलिए जबकि औदयिक भाव कर्मबंध के कारण हैं, तो शुभ परिणामें से कर्मबंध ही होना चाहिये, क्षय नहीं।

'शुभ भाव' कषाय के उदय से होते हैं। यह मान्यता जयधवल के संपादक महोदय की ही नहीं है, अपितु यह मान्यता कुछ शताब्दियों से जैन धर्मानुयायियों के अनेक सम्प्रदायों में घर कर गई है। कारण कि शुभ भावों की उत्पत्ति का कारण यदि कषाय के उदय को न माना जाए तो शुभ भाव से कर्म-बंध होता है यह नहीं माना जा सकता, जो इनको इष्ट नहीं है।

उपर्युक्त मान्यता का विश्लेषण करने के लिए सर्वप्रथम यह विचार करना है कि शुभ भाव की उत्पत्ति का कारण कषाय का उदय है या नहीं। इस संबंध में निम्नांकित तथ्य चिंतनीय हैं-

कषाय अशुभ भाव है। अशुभ भावों के उदय से शुभ परिणामों की उत्पत्ति मानना मूलतः ही भूल है। यह भूल ऐसी ही है जैसे कोई कटु नीम का बीज (निम्बोली) बोये और उसके फल के रूप में मधुर आमों की उपलब्धि होना माने। परंतु नियम यह है कि जैसा बीज होता है वैसा ही फल प्राप्त होता है, अतः कषाय रूप अशुभ परिणाम के फलस्वरूप शुभ परिणामों की उत्पत्ति मानना भूल है।

'शुभ भाव' कषाय के उदय से नहीं कषाय की कमी या मंदता से होते हैं, कारण कि कषाय का उदय, बंध, सत्ता सब अशुभ हैं, पाप हैं। कषाय के उदय रूप अशुभ भाव को शुभभाव मानना पाप को पुण्य मानना है। पाप को पुण्य समझना तात्त्विक भ्रान्ति है।

शुभ भाव कषाय में कमी होने से होते हैं। कषाय की कमी कर्म-बंध का कारण नहीं है, प्रत्युत कर्म-क्षय का कारण है। वास्तविकता तो यह है कि शुभ भावों की विद्यमानता में जो कर्मबंध होते हैं वे शुभ भावों के साथ रहे हुए कषाय के उदय रूप अशुभ भावों के कारण से बँधते हैं, न कि शुभ भावों से। कषाय से ही सब कर्मों का स्थिति बंध होता है। स्थिति बंध होने पर ही कर्म 'बंध' अवस्था को प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि कर्मों के स्थिति बंध का कारण कषाय रूप औदयिक भाव है न कि शुभ भाव। अतः विशुद्धि या शुभ भाव या क्षायोपशमिक भाव को कर्म-बंध का कारण मानना युक्ति-युक्त नहीं है।

आगम व कर्म-सिद्धांत में घाती कर्मों की किसी भी प्रकृति को शुभ नहीं कहा है। समस्त प्रकृतियों को अशुभ कहा है। अतः कषाय भाव का उदय कभी कहीं पर भी शुभ माना ही नहीं गया है। इसके विपरीत कषाय में कमी होने को शुभ भाव माना गया है और इसी को क्षयोपशम भाव भी कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि शुभ भाव या क्षायोपशमिक भाव कषायों के, पाप प्रकृतियों के क्षयोपशम (कमी) से होते हैं, उदय से नहीं। यदि शुभ भाव कषायोदय से होते तो इन्हें औदयिक भाव कहा जाता, क्षायोपशमिक भाव नहीं कहा जाता। शुभ भावों के लिए प्रयुक्त 'क्षायोपशमिक' शब्द ही इसका स्पष्ट प्रमाण है कि 'शुभ भाव' कषाय व अशुभ कर्मों के उदय से न होकर उनके क्षयोपशम से होते हैं। अतः शुभ

भाव की उत्पत्ति कषाय के उदय से या किसी भी अशुभ कर्मोदय से मानना आगम-विरुद्ध है।

शुभ भाव या क्षायोपशमिक भाव कर्म क्षय के कारण हैं, अतः धर्म रूप हैं। शुभ भाव किसी भी अंश में किसी भी आत्मिक गुण का लेशमात्र भी घात नहीं करते हैं। अतः आत्मा के लिए किंचित् भी घातक नहीं हैं और न किसी भी रूप में हेय ही हैं। तात्पर्य यह है कि 'शुभ भाव' कषाय के उदय से नहीं, प्रत्युत कषाय की कमी व क्षय से होते हैं।

कुछ लोगों की मान्यता है कि शुभ भाव में प्रशस्त राग होता है, जो बंध का कारण है। परंतु उनकी यह मान्यता आगमानुकूल नहीं है, कारण कि राग का उदय मोहनीय से होता है और मोहनीय कर्म व इसकी किसी भी प्रकृति को कर्म-ग्रन्थ व आगम में कहीं पर भी शुभ नहीं कहा है। अतः 'राग' शुभ या प्रशस्त भी होता है, यह मान्यता कर्म-सिद्धांत व जैनागम से मेल नहीं खाती है। वीतराग, देव, गुरु, धर्म व गुणीजनों के प्रति जो प्रमोद भाव होता है वह राग नहीं, अनुराग है, प्रेम है। गुरु व गुणीजनों के स्मरण व सान्निध्य से जो प्रसन्नता होती है वह भोग नहीं, सहज स्वभाव है। राग व भोग विकार हैं और प्रेम, प्रमोद व प्रसन्नता का भाव, स्वभाव है। प्रेम, प्रमोद भाव, प्रसन्नता व अनुराग को राग मानना भूल है। राग त्याज्य होता है, अनुराग नहीं। राग में आकर्षण और भोग होता है। अनुराग में प्रमोद व प्रसन्नता होती है, भोग नहीं।

मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ (तटस्थता) ये चारों ही भाव 'शुद्ध' व 'शुभ भाव' हैं, अतः स्वभाव हैं, विभाव या दोष नहीं। स्वभाव गुण होता है, दोष नहीं। अतः मैत्री, प्रमोद, करुणा आदि भाव गुण हैं, दोष नहीं। दोष नहीं होने से ये विकार या विभाव रूप नहीं है। विकार या दोष

कभी शुभ नहीं होता। इसी प्रकार गुण कभी दोष रूप नहीं हो सकता। दोष से ही कर्मबंध होते हैं, गुण से नहीं। अतः शुभभाव रूप मैत्री, प्रमोद, करुणा, अनुकम्पा, वात्सल्य आदि भावों को कर्म-बंध व संसार भ्रमण का कारण मानना भूल है। इस भूल के रहते मानवता का जागरण ही संभव नहीं है।

जहाँ मानवता का ही अभाव है वहाँ संयम, तप, संवर, निर्जरा रूप धर्म व मोक्ष कदापि संभव नहीं है। वहाँ तो पशुता व दानवता है, जिसका मानव जीवन में कोई स्थान नहीं है। अतः जो मैत्री, प्रमोद, करुणा, वात्सल्य, सेवा आदि शुभ भावों व सद्गुणों को कर्मबंध व संसार-भ्रमण का कारण मानते हैं वे गुण को दोष, स्वभाव को विभाव, निर्जरा या मोक्ष के मार्ग को संसार का मार्ग मानते हैं।

विचार यह करना है कि 'शुभ भाव' से कर्म-क्षय होने की प्रक्रिया क्या है? इसके लिए हमें प्राचीन कर्मग्रन्थों व उनकी टीकाओं पर ध्यान देना होगा। प्राचीन कर्मग्रन्थों व उनकी टीकाओं में शुभ भाव व शुभयोग के स्थान पर 'विशुद्धि' शब्द का प्रयोग हुआ है। जिससे आत्मा विशुद्ध हो वही 'विशुद्धि' है। आत्मा की शुद्धि होती है कषायों में कमी होने से। अर्थात् वर्तमान में जितने अंशों में कषाय का उदय है उन कषायांशों में कमी होना विशुद्धि है। यही आत्मा का पवित्र होना भी है। इसे ही शुद्धोपयोग व क्षयोपशम भाव, धर्म व पुण्य भी कहा है। इसके विपरीत वर्तमान में जितने कषायांश हैं उनमें वृद्धि होने को संक्लेश कहा गया है। संक्लेश से आत्मा का अधःपतन होता है।

कषाययुक्त प्रवृत्ति ही मोह है। अतः कषाय की कमी या वृद्धि होना मोह (मोहनीय कर्म) की कमी या वृद्धि होना है। कषाय या मोह

की कमी होना शुद्धोपयोग है और इसी का क्रियात्मक रूप शुभ प्रवृत्ति, शुभ योग या शुभभाव है। यह शुभप्रवृत्ति या शुभयोग आत्मशुद्धि का प्रतीक होने से धर्मरूप है और आत्म-पवित्रता का द्योतक होने से पुण्य रूप है। इस रूप में शुभ भाव, शुभ योग, धर्म एवं पुण्य समानार्थक हैं, समानान्तर या विरोधी नहीं हैं।

दया, दान, करुणा, वात्सल्य और मैत्री रूप भावों की विशुद्धि के प्रभाव से कर्मक्षय कैसे होते हैं, यहाँ इसी पर विचार किया जा रहा है-

कर्मसिद्धांत का यह नियम है कि कषाय में कमी होने से शुभ भाव होते हैं, जिनसे आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की सत्ता में स्थित समस्त कर्म प्रकृतियों के स्थितिबंध का नियम से अपवर्तन होता है अर्थात् उनके पूर्वबद्ध स्थिति बंध में अवश्य ही कमी होती है। साथ ही सात कर्मों की समस्त पाप प्रकृतियों के अनुभाग बंध का भी नियम से अपकर्षण होता है अर्थात् पूर्वबद्ध पाप कर्मों के अनुभाग में कमी होती है। इस प्रकार शुभभाव से पूर्व में बँधे हुए पाप कर्मों की स्थिति और अनुभाग में न्यूनता आने रूप कर्मों का क्षय होता है, जो जीवन के लिए कल्याणकारी व उपादेय है। आगे शुभभाव के प्रभाव से प्रत्येक कर्म का क्षय कैसे होता है, इस पर विचार किया जा रहा है।

कषाय में कमी या विशुद्धि रूप शुभ भावों से मोह में, मोहनीय कर्म में कमी आती है, जिससे आचरण में निर्मलता आती है अर्थात् चारित्र गुण की वृद्धि होती है एवं विकल्पों में कमी आती है, निर्विकल्पता में वृद्धि होती है और समता पुष्ट होती है। निर्विकल्पता की वृद्धि व समता की पुष्टि से दर्शन गुण की वृद्धि व विकास होता है जिससे दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है।

दर्शन गुण के विकास से तत्त्व का साक्षात्कार व विवेक का उदय होता है जिससे ज्ञान गुण का विकास होता है अर्थात् ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है तथा दर्शन गुण के विकास से स्व-संवेदन शक्ति का विकास होता है। संवेदनशक्ति के विकास से जड़ता मिटती है। जिससे वेदना के अनुभव की स्पष्टता बढ़ती जाती है। शुभ भाव के द्वारा समता पुष्ट होने से असातावेदनीय का प्रभाव घटता है तथा सातावेदनीय का अनुभव पुष्ट होता है।

दर्शनगुण से स्व-संवेदन का विकास होता है अर्थात् संवेदन शक्ति तीव्र होती है जिससे क्रमशः स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय का निर्माण होता है व शरीर की क्रियाओं की संरचना होती है अर्थात् नाम कर्म की शुभ प्रकृतियों का अर्जन व निर्माण होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो भौतिक विकास होता है।

शुद्ध व शुभ भावों से 'पर' का महत्त्व व मूल्य घटता है और स्व (आत्मा या चैतन्य) का महत्त्व व मूल्य बढ़ता है उससे उच्च गोत्र का अनुभव होता है। कारण कि 'पर' के आधार पर अपना मूल्यांकन करने से मूल्य 'पर' का ही रहता है अपना मूल्य घट जाता है या नहीं रहता है जिससे हीनभावना उत्पन्न होती है। हीनता का अनुभव ही नीच गोत्र है। भावों की विशुद्धि से 'पर' का मूल्य घटता है और अपना (आत्मा का) मूल्य बढ़ता है, जो उच्च गोत्र का द्योतक है।

यह सर्वविदित है कि भावों की विशुद्धि से शुभ आयु के अनुभाग का उत्कर्ष होता है एवं दर्शन गुणरूप संवेदनशीलता की वृद्धि से क्रूरता मिटकर करुणाभाव की जागृति होती है। करुणा का क्रियात्मक रूप सेवा या उदारता है। उदारता 'दान' की द्योतक है। अतः शुभभाव से औदार्य या

दान गुण का विकास होता है जो दानान्तराय कर्म की कमी (क्षयोपशम) का द्योतक है।

शुद्ध व शुभ भाव से आई कषाय की कमी से कामना, ममता, अहंता, कर्तृत्वभाव व भोक्तृत्वभाव में कमी आती है। कामना की कमी से अभाव के अनुभव में कमी होती है जो लाभांतराय के क्षयोपशम की द्योतक है। ममता की कमी से 'परभाव' में कमी आती है, 'स्वभाव' की अभिव्यक्ति होती है, जिससे निज रस की अभिवृद्धि होती है और भोगेच्छा में कमी होती है। फलतः भोग के अभाव के अनुभव में कमी होती है, जो भोगान्तराय के क्षयोपशम की द्योतक है। अहंत्व में कमी आने से 'पर' के प्रति राग घटता है और तादात्म्य टूटता है जिससे प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। राग का रस क्षणिक या विनश्वर है, तत्क्षण नष्ट हो जाता है, परंतु प्रेम का रस नित नूतन रहता है, उसका बार-बार भोग किया जा सकता है, जो उपभोगान्तराय के क्षयोपशम का द्योतक है। भोक्तृत्व भाव की कमी से कर्तृत्व भाव में कमी आती है तथा त्याग का सामर्थ्य आता है जो वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम का द्योतक है।

इस प्रकार शुद्ध व शुभ भाव से मोहनीय, दर्शनावरणीय, ज्ञानावरणीय, वेदनीय, नाम, गोत्र व अंतराय कर्म की पाप प्रकृतियों का क्षयोपशम व क्षय होता है साथ ही अघाती कर्म की शुभ (पुण्य) प्रकृतियों के अनुभाग का उत्कर्ष भी होता है। बंध किसी भी प्रकार का नहीं होता है क्योंकि कर्म-बंध का कारण राग और द्वेष ही हैं जो अशुभ ही हैं। उनका शुभ भाव में कोई स्थान नहीं है।

यही नहीं, शुभ भाव से अशुभ (पाप) प्रकृतियों का संक्रमण (रूपान्तरण) शुभ (पुण्य) प्रकृतियों में होता है अर्थात् पाप प्रवृत्तियों-

दुष्प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण होकर वे शुभ प्रवृत्तियों में परिणत होती हैं तथा अशुभ प्रकृतियों की स्थिति व अनुभाग का अपकर्षण और शुभ प्रकृतियों के अनुभाग का उत्कर्षण होता है, जो आत्मा के उत्कर्ष का ही द्योतक है।

शुभ भाव से सर्वहितकारी प्रवृत्ति होती है, जिससे सबके हृदय में शुभभाव वाले के प्रति प्रमोदभाव होता है व प्रसन्नता देने की भावना रहती है। इस प्रकार परस्पर में अनुराग, प्रमोद व प्रेम का आदान-प्रदान होता रहता है जो राग गलाने में, कर्म क्षय करने में सहायक है। शुभ भावों से जाने-अनजाने जिन व्यक्तियों का हित होता है उनके हृदय में हित करने वाले व्यक्ति के प्रति प्रेम उमड़ता है तथा वे उसकी सेवा व सहायता करने में प्रसन्नता का अनुभव करते हैं, उसके संकल्प व कार्यों को सम्पन्न करने में अपना अहोभाग्य मानते हैं। उसके सहयोग व सेवा के लिए सदा उद्यत रहते हैं। यह उसके शुभ भाव का अवान्तर व आनुषंगिक फल है। यह उत्कृष्ट भौतिक विकास का द्योतक है। यद्यपि शुभ भाव वाले व्यक्ति को उनकी सेवा की अपेक्षा नहीं होती है। उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति प्रकृति से स्वतः होती रहती है। यह अभाव से रहित सदा ही वैभव सम्पन्न होता है।

तात्पर्य यह है कि कषाय की कमी रूप क्षायोपशमिक भाव से घाती कर्मों का क्षयोपशम रूप क्षय होता है और अघाती कर्मों की शुभ प्रकृतियों के अनुभाग का उत्कर्षण होता है। इस प्रकार कषाय के क्षय रूप शुभ भाव से चारों घाती कर्मों का क्षय हो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग, अनन्त वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व व चारित्र की उपलब्धि होती है। अर्थात् प्राणी का आध्यात्मिक

व भौतिक रूप से सर्वांगीण विकास होता है, फिर उसे कुछ पाना, जानना व करना शेष नहीं रहता है। वह कृतकृत्य हो जाता है।

श्री वीरसेनाचार्य ने **'उवसम-खय-मिस्सया व मोक्खयरा'** के द्वारा स्पष्ट कहा है कि क्षायोपशमिक भाव (शुभ, शुद्ध) से कर्म क्षय होते हैं, कर्म-बंध नहीं होते हैं। कर्म बंध का कारण एक मात्र उदय भाव ही है। इसे समझने के लिए हमें कर्म-बंध के कारणों का विचार करना होगा।

कर्म बंध चार प्रकार का है-1. प्रकृति बंध, 2. स्थिति बंध, 3. अनुभाग बंध और 4. प्रदेश बंध। इनमें मुख्य है स्थिति बंध। कारण कि अनुभाग बंध निर्भर करता है प्रदेश बंध पर, जैसा कि कहा है-

'पदेसेहि विणा अनुभागाणुववत्तीदो।'

अर्थात् प्रदेश-बंध के बिना अनुभाग-बंध नहीं हो सकता तथा प्रकृति और प्रदेश-बंध स्थितिबंध के अभाव में बंध संज्ञा को प्राप्त नहीं होता है, जैसा कि कहा है-

जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति।
अपरिणदुच्छिण्णेसु य बंधट्ठिदि कारणं णत्थि।।

-गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा 257 और धवला पुस्तक 12, पृष्ठ 289

अर्थात् प्रकृति और प्रदेश ये दोनों ही बंध योगों के निमित्त से होते हैं और स्थिति व अनुभाग बंध कषाय के निमित्त से होते हैं। कषाय रहित अवस्था स्थिति बंध का कारण नहीं है, अतः वह कर्म बंध का कारण भी नहीं है।

इस सिद्धांत को स्पष्ट करते हुए श्री वीरसेनाचार्य ने कहा है- **"सादावेदणीयस्स बंधो अत्थि त्ति चेद। ण तस्स ट्ठिदि-अणुभागबंधाभावेण सुक्ककुड्ड-पक्खित्तवालुवमुट्ठिव्व जीवसंबंधे विदिए समए चेव णिवंदतस्स बंधववएसविरोहादो।"**

-धवला पुस्तक 13, पृष्ठ 54

अर्थात् स्थिति बंध और अनुभाग बंध के अभाव में शुष्क भींत पर फेंकी गई मुट्ठी भर बालुका के समान, जीव से संबंध होने के दूसरे समय में ही पतित हुए सातावेदनीय कर्म को 'बंध' संज्ञा देने में विरोध आता है।

तात्पर्य यह है कि स्थिति बंध के अभाव में कर्म ठहरता ही नहीं है, अत: उसे कर्म-बंध मानने में विरोध आता है। धवलाकार ने इसे आगे स्पष्ट रूप से समझाया भी है तथा जयधवला पुस्तक 1 पृष्ठ 62-63 पर भी इसका विशेष स्पष्टीकरण किया है। आशय यह है कि स्थिति बंध होने पर ही प्रकृति, प्रदेश व अनुभाग 'बंध' अवस्था को प्राप्त होते हैं। स्थिति बंध होता है कषाय से। कषाय औदयिक भाव है। अत: औदयिक भाव ही बंध का कारण है। औदयिक भावों में भी गति, जाति आदि सब औदयिक भाव बंध के कारण नहीं हैं, केवल कषाय रूप औदयिक भाव ही बंध के कारण हैं।

दया, दान, अनुकम्पा, वैयावृत्त्य (सेवा), मैत्री, प्रमोद, करुणा, माध्यस्थता, सरलता, मृदुता आदि समस्त सद्प्रवृत्तियाँ या सद्गुण किसी कर्म के उदय से नहीं होते हैं, ये औदयिक भाव नहीं हैं। अत: इन्हें कर्म-बंध का कारण मानना सिद्धांत के विरुद्ध है तथा समस्त सद्गुण जीव के स्वभाव रूप होते हैं, विभाव रूप नहीं। विभाव दोष रूप ही होता है गुण रूप नहीं। स्वभाव से कर्म क्षय होते हैं, कर्मबंध नहीं। दया, दान, सेवा, परोपकार, अनुग्रह, कृपा आदि समस्त सद्प्रवृत्तियाँ गुण रूप होने से शुभ रूप ही होती हैं, क्षय में ही हेतु हैं, बंध में नहीं। दोष कभी शुभ नहीं होता, अशुभ ही होता है। अत: दोष से, पाप से, कर्म बँधते हैं गुण से नहीं। ऊपर कह आए हैं कि स्थिति बंध से ही कर्म 'बंधरूप' को प्राप्त होते हैं। स्थिति बंध होता है कषाय से। अत: कषाय के उदय रूप अशुभ भाव पर ही कर्म बंध निर्भर करता है। स्थिति के क्षय से कर्म का क्षय होता है जैसा कि कहा है-

पुव्वा संचियस्स कम्मस्स कुदो खाओ? ट्ठिदिक्खयादो।
ट्ठिदिखओ कुतो? कसायक्खयादो।।

-जयधवला पुस्तक 1, पृष्ठ 57

अर्थात् पूर्व संचित कर्म का क्षय किस कारण से होता है? **उत्तर-** स्थिति के क्षय से। स्थिति का क्षय किससे होता है? कषाय के क्षय से। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि स्थिति के बंध से ही कर्म का बंध होता है व स्थिति के क्षय से ही कर्म का क्षय होता है।

कर्म-सिद्धांत के अनुसार स्थिति बंध ही बंध और स्थिति का क्षय ही कर्म क्षय है। यह सिद्धांत पुण्य-पाप प्रकृतियों पर समान रूप से लागू होता है तथा स्थिति बंध कषाय से होता है, अत: स्थिति बंध पाप का हो या पुण्य का, अशुभ ही है, जैसा कि कहा है-**''सव्वाण वि जिट्ठ ठिई, असुभा जं साइसंकिलेसेणं''** (कर्मग्रन्थ भाग 5, गाथा 52, गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा 134, तत्त्वार्थराजवार्त्तिक अध्ययन 6, सूत्र 2)

अर्थात् समस्त कर्म प्रकृतियों (तीन शुभ आयु को छोड़कर) का उत्कृष्ट स्थिति बंध उत्कृष्ट संक्लेश (कषाय) से बँधता है, अत: स्थिति बंध अशुभ ही है, पाप का द्योतक है। यहाँ तक कि तीर्थङ्कर नामकर्म जैसी प्रकृष्ट पुण्य प्रकृति का उत्कृष्ट स्थिति बंध भी उत्कृष्ट संक्लेश से होता है। इसके विपरीत जैसे-जैसे कषाय में कमी आने रूप विशुद्धि बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे पुण्य का स्थिति बंध घटता जाता है। यही कारण है कि जीव जब अपने भावों में विशेष विशुद्धि होने से सम्यग्दर्शन के सम्मुख होता है उस समय पाप प्रकृतियों के साथ पुण्य प्रकृतियों का पहले बँधा हुआ दस कोटाकोटि सागरोपम का स्थिति बंध भी घटकर अंत:कोटाकोटि सागर का रह जाता है अर्थात् पाप प्रकृतियों के समान पुण्य प्रकृतियों में भी कषाय की कमी से स्थिति बंध में कमी और कषाय की वृद्धि से स्थिति बंध में वृद्धि

होती है। अत: पाप प्रकृतियों के समान पुण्य प्रकृतियों का स्थिति बंध भी अशुभ होता है। ठीक इसके विपरीत सिद्धांत अनुभाग पर लागू होता है अर्थात् विशुद्धि रूप कषाय की कमी से पाप प्रकृतियों का अनुभाग घटता है और पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग बढ़ता है। यही कारण है कि जब जीव सम्यग्दर्शन के सम्मुख होता है तब समस्त पाप प्रकृतियों का अनुभाग चतु:स्थानिक से घटकर द्विस्थानिक हो जाता है तथा समस्त पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग द्विस्थानिक से बढ़कर चतु:स्थानिक हो जाता है जो आगे समस्त गुणस्थानकों में चतु:स्थानिक ही रहता है तथा पाप प्रकृतियों का अनुभाग द्विस्थानिक से बढ़ता ही नहीं। (राजवार्त्तिक, 6.3-4) अत: पुण्य का संबंध अनुभाग बंध से है स्थिति बंध से नहीं। यह नियम है कि शुभ (पुण्य) प्रकृतियों का अनुभाग विशुद्धि से और अशुभ (पाप) प्रकृतियों का अनुभाग संक्लेश से होता है। जैसा कि कहा है-**''सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसेण।''** (गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा 163) यहाँ 'विशुद्धि' शब्द उदयमान कषाय में कमी होने के अर्थ में आया है। इसका अभिप्राय यह है कि कषाय में जितनी-जितनी कमी होती जाती है उतना-उतना पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग बढ़ता जाता है व पुण्य प्रकृतियों की स्थिति घटती जाती है। (साथ ही साथ पाप प्रकृतियों की स्थिति और अनुभाग दोनों भी घटते हैं।) फलत: जब पुण्य प्रकृति का अनुभाग उत्कृष्ट अवस्था में पहुँचता है तो उसका स्थिति बंध घटते-घटते जघन्य अवस्था को प्राप्त होता है और फिर आगे स्थिति बँधना बंद हो जाता है और अनुभाग उत्कृष्ट का उत्कृष्ट ही रहता है। तप-संयम, संवर-निर्जरा रूप किसी साधना से पुण्य के उत्कृष्ट अनुभाग में अंश मात्र भी कमी नहीं होती है। यही कारण है कि जब जीव मुक्ति में जाता है तो उस समय पुण्य का उत्कृष्ट अनुभाग ही होता है। यहाँ तक कि वीतराग अवस्था में केवली समुद्घात व योगनिरोध से भी पुण्य के उत्कृष्ट अनुभाग में किंचित् भी कमी नहीं होती है, जैसा कि कहा है-

सुहाणं पयडीणं विसोहिदो केवलिसमुग्घादेण जोगणिरोहेण वा अनुभाग-घादो णत्थि त्ति जाणवेदि। खीणकसायसजोगीसु ट्ठिदिअणुभागघादेसु संतेसु वि सुहाणं पयडीणं अणुभागघादो णत्थि त्ति अत्थावत्तिसिद्धं।

-धवला पुस्तक 12, पृष्ठ 18

अर्थ-शुभ प्रकृतियों के अनुभाग का घात विशुद्धि, केवली समुद्घात व योग निरोध से नहीं होता। क्षीण कषाय व सयोगी गुणस्थानों में स्थिति घात व अनुभाग घात होने पर भी शुभ प्रकृतियों के अनुभाग का घात नहीं होता है। अत: अयोगी गुणस्थान में शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग होता है।

अभिप्राय यह है कि वीतराग केवली के सब पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग होता है और मुक्ति-प्राप्ति के समय तक वह उत्कृष्ट ही रहता है। इसमें लेशमात्र भी कमी नहीं होती है। सभी कर्मों की स्थिति के क्षय हो जाने के कारण देह छूट जाने के साथ सर्व पुण्य और उनके फल भी छूट जाते हैं। पुण्य का क्षय किसी भी साधना से कदापि संभव नहीं है। जैसा कि कहा है-**सम्मत्तेण सुदणाणेण य, विरदीए कसायणिग्गहगुणेहिं जो परिणदो सो पुण्णो।** (मूलाचार, गाथा 234) अर्थात् जो सम्यक्त्व, श्रुतज्ञान, विरति (महाव्रत-संयम), कषाय-निग्रह रूप गुणों में परिणत होता है, वह पुण्य है। तात्पर्य यह है कि संयम व चारित्र से भावों की विशुद्धि में वृद्धि होती है जिससे पुण्य के अनुभाग में वृद्धि होती है। यह विशुद्धि साधना के उत्कृष्ट रूप क्षपक श्रेणी में विशेष होती है, अत: चारित्र की क्षपक श्रेणी के समय उत्कृष्ट साधना से पुण्य के उत्कृष्ट अनुभाग का सर्जन होता है। वीतराग अवस्था में जब चारित्र यथाख्यात रूप से पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। तब पुण्य भी अपनी पूर्णता को, उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हो जाता है। उत्कृष्ट हो जाने से फिर आगे बढ़ने की गुंजाइश नहीं रहती। अत:

वीतराग अवस्था में सदा पुण्य का अनुभाग उत्कृष्ट ही रहता है। जैसा कि कहा है-**''सम्मदिट्ठी ण हणइ सुभाणुभागं''** (पंचसंग्रह, भाग 7, गाथा 90) अर्थात् सम्यग्दृष्टि शुभ प्रकृतियों के अनुभाग का हनन (रूप क्षय) नहीं करता है। यह अटल नियम है कि पुण्य का अनुभाग संयम, तप, चारित्र आदि समस्त साधनाओं की वृद्धि से बढ़ता ही है, अतः पुण्य का अनुभाग किसी भी साधना से क्षय नहीं हो सकता। फिर भी यदि किसी को पुण्य के अनुभाग का क्षय इष्ट ही हो तो उसका एकमात्र उपाय है-संक्लेश भाव। पाप की वृद्धि ही एकमात्र पुण्य के अनुभाग के क्षय का उपाय है, अन्य कोई उपाय मेरी जानकारी में नहीं है। यह नियम है कि शुभ परिणामों की वृद्धि से पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग में वृद्धि होती है जिससे पाप प्रकृतियों के स्थितिबंध तथा अनुभाग बंध व पुण्य प्रकृतियों के स्थिति बंध का क्षय होता है। अतः 'शुभ भाव कर्मक्षय के ही कारण हैं, कर्म-बंध के नहीं।' यह मान्यता या सिद्धांत अकेले श्री वीरसेनाचार्य का ही हो सो नहीं है, प्रत्युत श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदाय के समस्त कर्म-सिद्धांत विषयक वाङ्मय-यथा, भगवतीसूत्र, पन्नवणा, छह कर्मग्रंथ, कम्मपयडि, पंचसंग्रह, षट्खण्डागम, कसायपाहुड, गोम्मटसार, कर्मकाण्ड आदि मूल ग्रन्थों व इनकी टीकाओं में भी उपर्युक्त सिद्धांत पूर्ण रूप से मान्य है। इसमें किसी का भी विचारभेद या मतभेद नहीं है। विस्तार के भय से यहाँ इन सब ग्रन्थों के प्रमाणों को प्रस्तुत नहीं किया गया है।

❑❑❑

(22)

अनुकम्पा से पुण्यास्रव व कर्म-क्षय दोनों होते हैं

श्री वीरसेनाचार्य ने कसायपाहुड की जयधवला टीका की पुस्तक 1 के पृष्ठ 52 पर **'पुण्णास्सवभूदा'** गाथा में पुण्यास्रव का कारण अनुकम्पा व शुद्धोपयोग को बताया है। इससे यह तथ्य प्रकट होता है कि जो कार्य शुद्ध भाव से होते हैं, वे ही कार्य अनुकम्पा से भी होते हैं। क्योंकि शुभ भाव शुद्ध का ही क्रियात्मक रूप है। वास्तविकता तो यह है कि शुद्ध भाव से आत्मा निर्मल, पवित्र होती है जिससे आत्मा के दर्शन गुण का लक्षण 'संवेदनशीलता' बढ़ता है। यह संवेदनशीलता अनुकम्पा, वात्सल्य, दया, करुणा भाव के रूप में प्रकट होती है। ये सब दर्शन (स्व-संवेदन) गुण की ही अभिव्यक्तियाँ हैं, अतः स्वभाव हैं। उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन 28 गाथा 30 में सम्यग्दर्शन के आठ आचार कहे हैं, उनमें एक वात्सल्य भी है। वसुनन्दी श्रावकाचार में गाथा 49 में सम्यग्दर्शन के आठ गुण कहे गए हैं, उनमें वात्सल्य और अनुकम्पा भी हैं। सम्यग्दर्शन के पाँच लक्षण कहे हैं, उनमें अनुकम्पा भी है।

आशय यह है कि अनुकम्पा व वात्सल्य सम्यग्दर्शन के अभिन्न अंग हैं। सम्यग्दर्शन स्वभाव है। स्वभाव होने से धर्म है। इसलिये सम्यग्दर्शन के

अभिन्न अंग होने से अनुकम्पा, वात्सल्य भी स्वभाव ही हैं। स्वभाव होने से ये धर्म भी हैं तथा शुद्ध भाव भी हैं। इन्हें शुद्ध भाव से अलग नहीं किया जा सकता। इसलिये जो कार्य शुद्ध भाव से होता है, वही कार्य अनुकम्पा एवं वात्सल्य से भी होता है। करुणा भी अनुकम्पा का ही रूप है, इसलिये करुणा भी जीव का स्वभाव है। धवला की 13वीं पुस्तक पृष्ठ 361-362 पर श्री वीरसेनाचार्य ने **'करुणा जीवसहावो'** कहा है। यदि अनुकम्पा, वात्सल्य को विभाव माना जाये तो सम्यग्दर्शन को भी विभाव मानने का प्रसंग उपस्थित होगा, जो किसी को इष्ट नहीं है।

अनुकम्पा, वात्सल्य, करुणा रूप स्वभाव या शुद्ध भाव का क्रियात्मक रूप दयालुता, सेवा, परोपकार, सदाचार है। अतः इनसे भी वही कार्य होता है जो संयम, तप, त्याग, ध्यान, चारित्र, स्वाध्याय आदि साधनाओं व शुद्ध भावों से होता है।

यह नियम है कि दुष्प्रवृत्तियों या पाप कर्तृत्व भाव के बिना नहीं होते। उनके साथ करने के राग रूप कर्तृत्व एवं फल की आशा रूप भोक्तृत्व भाव लगा ही रहता है, परंतु सद्प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक व सहज होती हैं। उनमें करने का भाव अपेक्षित नहीं है। कारण कि करने का भाव भोक्तृत्व भाव से उत्पन्न होता है अर्थात् किसी क्रिया के फल से सुख भोगने की आशा से कर्तृत्व भाव पैदा होता है। विषय-कषाय के सुख भोग का प्रभाव चैतन्य पर अंकित होना, स्थित होना ही कर्मबंध या स्थिति बंध है। अपने भोग के सुख के राग को गालने के लिए ही साधक सद्प्रवृत्ति रूप परोपकार करता है। उस प्रवृत्ति से जितना-जितना भोग का राग गलता जाता है वह प्रवृत्ति उतनी ही पवित्र होती जाती है। उसका अनुभाव, अनुभाग उतना

ही बढ़ता जाता है साथ ही स्थिति घटती जाती है। तात्पर्य यह है कि बंध का कारण प्रवृत्ति के साथ रहा हुआ करने का राग व फलासक्ति रूप कर्तृत्व-भोक्तृत्व है। कर्तृत्व-भोक्तृत्वभाव रहित सहज स्वभाव व गुण का व्यक्त रूप होने से बंध का कारण नहीं है। स्वभाव कभी भी बंध रूप नहीं होता है। बंध विभाव या दोष से ही होता है। अतः कर्म सिद्धांत में पुण्य प्रकृतियों का जो बंध कहा है, वह उस प्रवृत्ति में रहे हुये करने के राग व फलासक्ति रूप कर्तृत्व और भोक्तृत्व भाव रूप पाप (कषाय) के कारण से है, पुण्य के कारण से नहीं।

❑❑❑

(23)

आत्म विकास, सम्पन्नता और पुण्य-पाप

पूर्व लेखों में यह कह आए हैं कि अघाती कर्मों की पुण्य प्रकृतियाँ वीतरागता व साधना में बाधक नहीं हैं। इससे यह जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि क्या अघाती कर्मों की पाप प्रकृतियाँ वीतरागता में बाधक हैं? यदि बाधक हैं तो इन्हें अघाती कैसे कहा गया?

जिससे आत्मा पवित्र हो, शुद्ध हो ऐसा विशुद्यमान चढ़ता परिणाम पुण्य तत्त्व है। आत्मा का पवित्र होना आत्मा का विकास होना है। आत्मा की पूर्ण विकसित अवस्था ही मोक्ष है। पुण्य की यह परिभाषा पुण्य तत्त्व की दृष्टि से है, पुण्य कर्म की दृष्टि से नहीं है। पुण्य तत्त्व का संबंध आत्मा की पवित्रता से, आत्म गुणों के प्रकट होने से है और पुण्य कर्मों का संबंध पुण्य तत्त्व के फल के रूप में मिलने वाले शरीर, इन्द्रिय, मन, मस्तिष्क आदि सामग्री व सामर्थ्य की उपलब्धि से है। संसारी अवस्था में पुण्य तत्त्व आत्म-विकास का और पुण्य कर्म भौतिक विकास का सूचक है। इन दोनों विकासों में परस्पर घनिष्ठ संबंध है। यह नियम है कि प्राणी का जितना आध्यात्मिक विकास होता जाता है उतना ही भौतिक विकास भी स्वतः होता जाता है।

पुण्य तत्त्व से विपरीत पाप तत्त्व है। जिससे आत्मा का पतन हो,

आत्म गुणों का ह्रास हो, हनन हो, आत्मा की अशुद्धि बढ़े, ऐसे संक्लिश्यमान, गिरते परिणामों को पाप तत्त्व कहा गया है। पाप तत्त्व से दो कार्य होते हैं-1. आत्मा के ज्ञान, दर्शन, ऋजुता, मृदुता आदि गुणों का घात अर्थात् ह्रास होता है अर्थात् इन्द्रिय, प्राण आदि की उपलब्धि में, इनके अनुभाग में कमी आती है। इन्हें ही कर्म सिद्धांत में अघाती कर्मों की पाप प्रकृतियाँ कहा गया है।

आध्यात्मिक विकास-ह्रास का संबंध घाती कर्मों के क्षय, उपशम व क्षयोपशम से है। समस्त घाती कर्म प्रकृतियों का बंध, सत्ता व उदय पाप रूप ही है। इन घाती कर्मों की कोई भी प्रकृति पुण्य रूप नहीं है। घाती कर्मों के उदय से आत्म-गुणों का घात-ह्रास होता है। इसके विपरीत कषाय आदि दोषों में कमी होने से, आत्मा की पवित्रता से, पुण्य से, घाती कर्मों का क्षयोपशम, क्षय व उपशम होता है जिससे आत्म-गुण प्रकट होते हैं, अर्थात् आत्म-विकास होता है।

भौतिक विकास-ह्रास का संबंध अघाती कर्मों से हैं। अघाती कर्म की पुण्य प्रकृतियाँ भौतिक विकास व सामर्थ्य की एवं पाप प्रकृतियाँ भौतिक ह्रास की द्योतक हैं। अघाती कर्मों की पुण्य व पाप प्रकृतियों में जातीय एकता है। ये सभी शरीर, इन्द्रिय आदि भौतिक उपलब्धियों के रूप में उदय होती है। इनमें भिन्नता तरतमता की ही है। उच्च स्तर की भौतिक उपलब्धियों को पाप प्रकृतियाँ कहा गया है। जैसे इन्द्रियों की उपलब्धि को ही लें। जो जीव एकेन्द्रिय हैं उन्हें भी एक स्पर्श इन्द्रिय की भौतिक उपलब्धि है। यही जीव एकेन्द्रिय से विकास कर द्वीन्द्रिय हो गया तब इसे स्पर्शन और रसना इन दो इन्द्रियों की उपलब्धि हुई। उसका यह द्वीन्द्रिय होना आत्म-विकास का एवं अनंत पुण्य वृद्धि का सूचक है। इसी प्रकार उसका त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय होना क्रमशः विशुद्धिभाव की व आत्म-विकास

की वृद्धि एवं उत्तरोत्तर अनंत-अनंत गुणी पुण्य की वृद्धि का सूचक है। कारण कि स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँचों इन्द्रियों की उपलब्धि स्पर्शनेन्द्रिय-मतिज्ञानावरण आदि पाँचों मतिज्ञानावरण कर्मों के भेदों के क्षयोपशम से होती है। अत: इनमें से किसी भी इन्द्रिय का मिलना पुण्य का फल है। परंतु पंचेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, एकेन्द्रिय होना क्रमश: संक्लेशभाव का, आत्म-ह्रास का एवं उत्तरोत्तर अनंत-अनंत गुणी पाप की वृद्धि का सूचक है। इस प्रकार एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय की उपलब्धि होने से विशुद्धिभाव और इससे विपरीत क्रम में संक्लेश हेतु हैं। इसी प्रकार यही तथ्य संहनन, संस्थान आदि अन्य पुण्य-पाप की प्रकृतियों पर भी चरितार्थ होता है। अघाती कर्मों की पाप प्रकृतियाँ भौतिक उपलब्धियों में सामर्थ्य की कमी एवं आध्यात्मिक विकास में कमी की सूचक हैं।

तात्पर्य यह है कि अघाती कर्मों की प्रकृतियों का उदय भौतिक सामग्री की उपलब्धियों का हेतु है। इन प्रकृतियों की सत्ता व उदय जीव के लिए किंचित् भी अहितकर व घातक नहीं है। अघाती कर्मों की 101 प्रकृतियों में से 85 प्रकृतियों की सत्ता चौदहवें अयोगीकेवली गुणस्थान में द्विचरम समय तक रहती है जिनमें असातावेदनीय, नीच गोत्र, अनादेय, अयशकीर्ति में बाधक नहीं हैं। इसी प्रकार अघाती कर्मों के उदय से प्राप्त शरीर-इन्द्रिय आदि भौतिक सामग्री व सामर्थ्य भी स्वयं किसी जीव के लिए हितकर-अहितकर नहीं है। हितकर-अहितकर है इनका सदुपयोग-दुरुपयोग। अघाती कर्मों से प्राप्त सामग्री व सामर्थ्य का उपयोग विषय-कषाय में, भोग-वासना की पूर्ति में करना इनका दुरुपयोग है जो अहितकर है तथा इनका उपयोग दोषों के त्याग एवं सद्प्रवृत्तियों में करना सदुपयोग है, जो हितकर व कल्याणकारी है।

अघाती कर्मों की पाप प्रकृतियों के उदय से प्रतिकूल एवं दुःखद परिस्थिति का निर्माण होता है जो आध्यात्मिक विकास की कमी का अर्थात् विषय-कषाय के विकारों के उदय का सूचक है। अतः दुःखद परिस्थिति से छुटकारा तभी संभव है जब इन दोषों का त्याग किया जाय यथा-प्रतिकूल परिस्थिति में अशांति व तनाव का दुःख कामना से, हीनभाव व दीनभाव का दुःख मद-मान से, वैरभाव का दुःख माया व द्वेष से, दरिद्रता का दुःख लोभ से, पराधीनता का दुःख ममता से, अस्वस्थता का दुःख असंयम से, भय, चिंता, शोक आदि का दुःख भोगों के सुखों के प्रलोभन से उत्पन्न होता है। अतः कामना, मान, माया, लोभ, ममता, असंयम, स्वार्थपरता एवं विषय सुखों के प्रलोभन के त्याग से इन दुःखों से मुक्ति मिल जाती है और शांति, ऐश्वर्य, मृदुता माधुर्य, प्रीति, स्वाधीनता, स्वस्थता, उदारता, निश्चिंतता, प्रसन्नता आदि आध्यात्मिक सुखों का अनुभव होता है तथा प्राण, बल, बुद्धि, मन, मस्तिष्क आदि की शक्ति में वृद्धि होती है। अतः प्रतिकूल परिस्थिति व दुःखों से मुक्ति पाने का उपाय दोषों का त्याग करना है। प्रतिकूल परिस्थिति में दुःखी होकर आर्त्तध्यान करना, इन दुःखों से मुक्ति पाने के लिए इन दुःखों के कारणभूत कामना, ममता, अहंता आदि दोषों को न मिटाकर, बाह्य सामग्री से मिटाने का प्रयास करना परिस्थिति का दुरुपयोग है जो दुःख की परंपरा को बढ़ाने वाला है। इसी प्रकार अघाती कर्मों की पुण्य प्रकृतियों से प्राप्त अनुकूल परिस्थिति का अर्थात् शरीर, इन्द्रिय आदि सामग्री व सामर्थ्य का उपयोग दया, दान, सेवा आदि सर्वहितकारी सद्प्रवृत्तियों में करना इनका सदुपयोग है। इससे उदयमान राग व कषाय गलता है, विषय सुखों की दासता से छुटकारा मिलता है और उत्कृष्ट भोगों की उपलब्धि होती है अर्थात् उसे किसी भी वस्तु की आवश्यकता व अभाव का अनुभव नहीं होता है। वह सदैव प्रसन्न

एवं ऐश्वर्य सम्पन्न रहता है। वह संसार के पीछे नहीं दौड़ता है, संसार उसके पीछे दौड़ता है। आशय यह है कि अघाती कर्मों की पाप प्रकृतियों के उदय का सदुपयोग दोषों के त्याग में है और पुण्य प्रकृतियों से प्राप्त सामग्री व सामर्थ्य का सदुपयोग सर्वहितकारी प्रवृत्ति करने में है। इनके सदुपयोग से निर्दोषता व वीतरागता की उपलब्धि होती है। इनका उपयोग कषाय-विषय के सेवन में करना इनका दुरुपयोग है जो समस्त दुःखों व संसार परिभ्रमण का कारण है। अतः अघाती कर्मों का सदुपयोग-दुरुपयोग उपयोग-कर्त्ता के भावों पर निर्भर करता है, इन कर्मों के उदय पर नहीं।

आशय यह है कि अघाती कर्मों की पुण्य-पाप प्रकृतियाँ क्रमशः आत्म-विकास व ह्रास की द्योतक हैं। ये स्वयं आत्म-विकास व ह्रास नहीं करती हैं, अपितु कार्य-सिद्धि में क्रिया व करण का काम करती हैं। क्रिया व करण गुण-दोष रहित होते हैं। इनमें जो गुण-दोष प्रतीत होते हैं, वे कर्त्ता के शुभाशुभ भावों व भावों के द्वारा की गयी शुभाशुभ क्रियाओं के सूचक होते हैं। कार्यसिद्धि में कर्त्ता के भावों को क्रियात्मक रूप देने के लिए क्रिया आवश्यक है व क्रिया के लिए साधन-सामग्री का सहयोग भी अपेक्षित होता है। अतः मुक्ति-प्राप्ति में औदारिक शरीर, पंचेन्द्रिय जाति, मनुष्य गति, उच्च गोत्र, सुभग, आदेय आदि पुण्य प्रकृतियों का उदय आवश्यक है। पुण्य प्रकृतियों के उदय का अभाव आत्म-विकास में कमी का सूचक है। यह नियम है कि जितना-जितना आत्म-विकास होता जाता है, उतना-उतना पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग का उदय बढ़ता जाता है। दोषों का, पापों का आंशिक त्यागकर देशव्रती श्रावक होने पर स्वतः दुर्भग, अनादेय, अयशकीर्ति आदि पाप प्रकृतियों का उदय रुककर सुभग, आदेय, यशकीर्ति आदि पुण्य प्रकृतियों का उदय होने लगता है। जब आत्मा क्षपक श्रेणी की साधना से अपना पूर्ण आत्म-विकास कर वीतराग हो जाती है,

तब समस्त पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग स्वत: उत्कृष्ट हो जाता है। सातावेदनीय, उच्च गोत्र, आदेय आदि पुण्य प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट अनुभाग आत्म-विकास की अपूर्णता का, पाप प्रवृत्तियों की विद्यमानता का सूचक है। आत्मा का उत्कृष्ट पूर्ण विकास शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि प्राप्त सामग्री व सामर्थ्य के सदुपयोग से ही संभव है।

कोई भी परिस्थिति ऐसी नहीं है जिसका सदुपयोग करने पर वह साधना में सहायक न हो। परिस्थिति का सदुपयोग स्वाध्याय, तत्त्वचर्चा, सत्चिंतन, सेवा आदि सद्प्रवृत्तियों में करना गुण है। परंतु किसी भी गुण के बदले में कुछ चाहना भोग है। उस गुण का गर्व करना, उसमें अपनी गरिमा मानना व सम्मान चाहना अभिमान है। गुण का अभिमान और भोग दोष है। दोष कोई भी हो वह गुण का नाशक आत्म-विकास में बाधक एवं पुण्य के अनुभाग का घातक होता है। अत: वीतराग व मुक्ति पथ के साधक के लिए अभिमान आदि दोषों से रहित गुण ही उपादेय है। वीतराग के अतिरिक्त सभी जीवों में आंशिक गुण-दोष विद्यमान हैं अर्थात् राग-द्वेष, विषय-कषाय आदि दोषयुक्त गुण सभी प्राणियों में हैं। दोष गुण का घातक है। अत: जितने अंशों में दोष है, उतने अंशों में ही गुणों में कमी है। दोषों के त्याग में गुण की उपलब्धि है। राग-द्वेष युक्त सद्प्रवृत्ति तथा संयम में राग-द्वेष आदि दोष या पाप ही त्याज्य है; संयम, सद्प्रवृत्ति, शुभ योग त्याज्य नहीं है। शुभ योग के अभाव में अशुभ योग नियम से होता है। अत: शुभ योग या पुण्य त्याज्य नहीं है।

संक्षेप में कहें तो अघाती कर्मों से निर्मित सुखद परिस्थिति का सदुपयोग सेवा में है और दु:खद परिस्थिति का सदुपयोग त्याग में है। दु:खियों को देखकर करुणित होना और सज्जनों-गुणियों को देखकर प्रमुदित

होना श्रेष्ठ सेवा है। शरीर आदि प्राप्त वस्तुओं की ममता, अप्राप्त वस्तुओं की कामना एवं अभिमान रहित होना ही वास्तविक त्याग है। सद्प्रवृत्ति रूप सेवा करने और दुष्प्रवृत्ति का त्याग करने में ही प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग है। परिस्थितियों के सदुपयोग से पाप का निरोध (संवर) और निर्जरा एवं पुण्य का आस्रव व अनुबंध होता है। पाप के निरोध व निर्जरा से आत्मा शुद्ध होती है जिससे सभी परिस्थितियों से अतीत निज स्वरूप का अनुभव होता है। परन्तु किसी भी परिस्थिति से सुख का भोग करना परिस्थितियों की पराधीनता, दासता में आबद्ध होना है, जो समस्त दुःखों का हेतु है। दुःख स्वभाव से ही किसी को भी इष्ट नहीं है। अतः प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग आत्म-विकास की साधना में करना है। इसका उपयोग सुखभोग में करना घोर असाधन व दुःख का हेतु है, जो सभी के लिए त्याज्य है।

वर्तमान युग में भौतिक विकास विषय-भोगों का वर्धन करने वाली वस्तुओं की उपलब्धि व संग्रह से माना जाता है। जिस व्यक्ति समाज-देश के पास भोग्य वस्तुओं की जितनी प्रचुरता है वह उतना ही अधिक भौतिक दृष्टि से सम्पन्न माना जाता है, परंतु यह धारणा सही नहीं है, कारण कि विकास उसे कहा जाता है जिससे प्राणी का हित हो। प्राणी का हित प्राप्त परिस्थितियों के सदुयोग में है अथवा जीवन की नैसर्गिक आवश्यकताओं यथा भोजन, वस्त्र, पात्र, मकान, शिक्षा व चिकित्सा की पूर्ति करने में है, भोग भोगने में नहीं है। कारण कि भोग का सुख शक्तिहीनता, पराधीनता, जड़ता व अभाव में आबद्ध करने वाला है तथा स्वार्थपरता, हृदय हीनता, निर्दयता, अभाव, चिंता, द्वन्द्व, संघर्ष आदि समस्त दुःखों व दोषों को पैदा करने वाला है। विश्व में कोई दुःख व बुराई ऐसी नहीं है जिसका कारण विषय-वासना जन्य सुख न हो। भोग की सुख-लोलुपता में आबद्ध होने से

भौतिक अवनति ही होती है। यह नियम है कि जो मानव अपने व्यक्तिगत सुख को महत्त्व देता है वह परिवार के लिए अनुपयोगी होता है, जो अपने परिवार के सुख में संतुष्ट होता है वह समाज के लिए अनुपयोगी होता है। इसी प्रकार जो अपने वर्ग, देश, समाज, सम्प्रदाय जाति की उन्नति को ही उन्नति मानता है वह दूसरे वर्ग, प्रदेश, समाज आदि के लिए अहितकर होता है, यह भौतिक अवनति है। यह नियम है कि जो दूसरों के लिए अहितकर होता है उससे उसका भी अहित ही होता है। इसी प्रकार जो सभी के हित में रत रहता है उसका हित अवश्य होता है। यह भौतिक उन्नति है। सर्व हितकारी दृष्टि से नैसर्गिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना भौतिक उन्नति है और अपने व्यक्तिगत, सुख के लिए वस्तुओं का संग्रह करना भौतिक अवनति है। तात्पर्य यह है कि भौतिक विकास भोग-सामग्री के उपार्जन व वृद्धि में नहीं है अपितु सर्व हितकारी प्रवृत्ति में है, कर्त्तव्यपरायणता में है। निर्दोषता आध्यात्मिक विकास है और कर्त्तव्य परायणता व सद्प्रवृत्ति भौतिक विकास है।

किसी नगर में अधिक चिकित्सालय, न्यायालय, पागलखाने, अनाथालय होना भौतिक विकास नहीं है, अपितु जिस नगर में चिकित्सालय, न्यायालय, पागलखाने, अनाथालय आदि भले ही हों, परंतु वहाँ नागरिकों को उनकी आवश्यकता ही नहीं हो अथवा कम से कम हो, यह भौतिक विकास है। यह तभी संभव है जब उस नगर के नागरिक रुग्ण न हों, अपराधी न हों, विक्षिप्त मस्तिष्क न हों, भिखारी न हों। ऐसा तभी हो सकता है जब वहाँ के नागरिक संयमी हों, नैतिक हों, विज्ञ हों, सम्पन्न हों। सम्पन्न वही है जो अभावग्रस्त नहीं है। अभावग्रस्त होना दरिद्रता का सूचक है। अभावग्रस्त वही है जिसकी इच्छाओं की पूर्ति न हो। विज्ञान प्रदत्त भोग्य वस्तुएँ एवं इनके विज्ञापन इच्छाओं के उत्प्रेरक होते हैं। जिससे

अनेक इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं और उन सबकी पूर्ति न होने से व्यक्ति अभाव की अग्नि में जलता रहता है। आज सामान्य व्यक्ति के पास भी खाने, पीने, देखने, सुनने के साधन प्राचीन काल के सम्राटों एवं चक्रवर्तियों से भी सैकड़ों गुना अधिक हैं जैसे टेलीफोन, रेड़ियो, टेलीविजन, फ्रीज, बल्ब, पंखे, वाशिंग मशीन आदि तथा सैकड़ों प्रकार की मिठाई, खटाई, नमकीन आदि। फिर भी आज का मानव अपने आपको भयंकर अभाव ग्रस्त पाता है। अभाव स्वभाव से ही किसी को भी इष्ट नहीं है। वास्तविक भौतिक विकास वह है जिसमें अभाव का अभाव हो जाय। अभाव का अभाव होना सच्ची समृद्धि है। अभाव का अभाव उसी को होता है, जिसे अपने लिये कुछ भी नहीं चाहिये और जो कुछ भी अपने पास है उसे सर्वहितकारी प्रवृत्ति में लगाने में प्रसन्नता का अनुभव करता है। भौतिक उन्नति उसी की होती है जो सर्वहितकारी दृष्टि से प्रवृत्ति करता है और अपने विषय-भोगों का त्याग करता है। श्रेष्ठ-सेठ वही है जो किसी से कुछ माँगता नहीं है, अपेक्षा नहीं रखता है, प्रत्युत अपने पास जो है उसे सहर्ष संसार को भेंट करता है। संक्षेप में कहें तो उदारता एवं मानवता से ही मानव का आत्मिक एवं भौतिक विकास होता है। भोग भोगना पशु का लक्षण है। कारण कि भोग में आसक्त प्राणी पराधीनता में आबद्ध होता है, वह स्वाधीनता के सच्चे सुख का आस्वादन नहीं कर सकता। सरलता, विनम्रता, दयालुता, वत्सलता, सज्जनता, आत्मीयता, सहृदयता, उदारता आदि सर्व दिव्य गुण मानवता के ही रूप हैं। इन गुणों का होना ही सच्ची समृद्धि है। ऐसी समृद्धि के स्वामी में आनंद का सागर हिलोरें लेने लगता है। इसके विपरीत जो इन्द्रियों के क्षणिक सुखों का दास है वह सदैव अभाव, चिंता, पराधीनता, खिन्नता, हीनता आदि अगणित दुःखों से, विषादों से घिरा रहता है। उसके पास बाहर में कितनी ही भोग्य वस्तुएँ हों, धन सम्पत्ति हो, पूजा प्रतिष्ठा

हो, अंतर में वह रिक्त होता है, उसे आंतरिक नीरसता सदैव घेरे रहती है। वह उसे भुलाने के लिए अपने को नशे में, एक के बाद दूसरे भोग के रस में लगाता रहता है। वह आंतरिक दृष्टि से घोर दरिद्र होता है।

सद्गुणों का क्रियात्मक रूप सद्प्रवृत्ति की सच्ची समृद्धि है, भौतिक विकास है और दुर्गुण-दुष्प्रवृत्ति समस्त दुःखों व दरिद्रता की जड़ है, भौतिक अवनति है। जिसके पास सद्गुणों की पूँजी है वही समृद्ध है, पुण्यवान है। जो वासनाओं का दास है वही दरिद्र है, पुण्यहीन है। सद्प्रवृत्तियों का बाह्य फल भौतिक विकास है और आन्तरिक फल आध्यात्मिक विकास है।

❑❑❑

(24)

सम्पन्नता पुण्य का और विपन्नता पाप का परिणाम

जैनागम और कर्म सिद्धान्तानुसार सम्पन्नता सद्प्रवृत्ति का और विपन्नता (दरिद्रता) दुष्प्रवृत्ति का फल है। सम्पन्न व्यक्ति वह है जो औदार्य, ऐश्वर्य, सौन्दर्य, माधुर्य एवं प्रीति के सुख से सम्पन्न हो और विपन्न (दरिद्र) वह है जो अभावग्रस्त, दीन, दास व दुःखी हो। अतः संपन्नता और दरिद्रता का अथवा सुख एवं दुःख का कारण वस्तुओं की न्यूनता-अधिकता, बाह्य-सामग्री व घटनाएँ नहीं हैं, अपितु जीव के सद्गुण व दुर्गुण हैं, जैसा कि कहा है-

विवत्ती अविणीअस्स, संपत्ती विणीअस्स य।
जस्सेअं दुहओ णायं, सिक्खं से अभिगच्छइ।।22।।
जे अ चंडे मिए थद्धे, दुव्वाई निअडी सढे।
वुज्झई से अविणीअप्पा, कट्ठं सोअगयं जहा।।3।।
तहेव अविणीअप्पा, लोगंसि नर-नारिओ।
दीसंति दुहमेहंता, छाया ते विगलिंदिया।।7।।
तहेव सुविणीअप्पा, लोगंसि नर-नारिओ।
दीसंति सुहमेहंता, इड्ढिं पत्ता महाजसा।।9।।
एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मुक्खो।
जेण किर्त्तिं सुअं सिग्घं, णिस्सेसं चाभिगच्छइ।।2।।

-दशवैकालिक अध्य.9, उद्देशक 2

अर्थ-अविनीत के विपत्ति और विनीत के संपत्ति होती है अर्थात् अविनय से विपन्नता (दीनता-दु:ख) की और विनय से संपन्नता की प्राप्ति होती है। जिसे ये बातें ज्ञात हैं, वही शिक्षा को प्राप्त होता है।।22।।

जो क्रोधी, पशुवत् भोगी, अभिमानी, दुर्वादी, कपटी, असंयमी, धूर्त है वह अविनीत आत्मा संसार में वैसे ही प्रवाहित होता है जैसे काष्ठ सरिता में प्रवाहित होता है।।3।।

यहाँ यह कहा गया है कि अविनीत वह है जो क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय का और असंयम आदि विषयों का भोगी है, दुर्गुणी है। अत: जो कषाय और विषय से रहित है, क्षमा, विनम्रता, मृदुता, सरलता, त्याग, संयम आदि गुणों का धारक है वह विनीत है।

संसार में अविनीत स्वभाव वाले नर-नारी हैं, वे निर्बल इन्द्रियों से विकल या व्याकुल होकर दु:ख भोगते देखे जाते हैं तथा सुविनीत स्वभाव वाले नर-नारी ऋद्धिवन्त, ऐश्वर्य सम्पन्न, महायश-धारी व सुखी देखे जाते हैं।।7, 9।।

विनय धर्म-वृक्ष का मूल है, इसका फल मोक्ष (बंधन और दु:खों से मुक्ति) है। ऐसे विनय से व्यक्ति को यश-कीर्ति, श्रुत आदि समस्त संपदाओं की प्राप्ति होती है तथा वह नि:शेष को प्राप्त होता है, उसे कुछ भी पाना, करना, जानना शेष नहीं रहता है।।2।।

आशय यह है कि सद्गुण ही संपदा हैं, इनसे ही समस्त सुखों की प्राप्ति होती है और दुर्गुण ही विपदा हैं, इनसे ही समस्त दु:खों की उत्पत्ति होती है। जैसा कि कहा है-

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय-सुप्पट्ठिओ।।37।।

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं।।36।।
ण तं अरी कंठछेत्ता करेइ, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।
से नाहइ मच्चुमुहं तु पत्ते, पच्छाणुतावेण दयाविहूणो।।48।।

-उत्तराध्ययन, अध्ययन 20

आत्मा स्वयं अपने दुःखों एवं सुखों का कर्त्ता तथा अकर्त्ता है। सद्प्रवृत्ति में रत आत्मा ही अपना मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में रत आत्मा ही अपना शत्रु है। इस प्रकार दुष्प्रवृत्ति में रत आत्मा वैतरणी नदी और कूटशाल्मलि वृक्ष के समान दुःखदायी है तथा सद्प्रवृत्ति में रत आत्मा कामधेनु और नंदनवन के समान सुखदायी है। दुराचार में प्रवृत्त आत्मा अपना जितना अनर्थ करता है उतना अनर्थ कंठ को छेदन करने वाला शत्रु भी नहीं करता है। दया, अनुकंपा, करुणा आदि सद्प्रवृत्तियों से रहित यह आत्मा मृत्यु के मुख में पहुँचने पर पश्चात्ताप करता हुआ इस तथ्य को जानेगा।

इन गाथाओं में सुख-दुःख का, संपन्नता-विपन्नता का कारण बाह्य-वस्तुओं की प्राप्ति-अप्राप्ति, परिस्थितियों की अनुकूलता-प्रतिकूलता एवं घटनाओं को नहीं बताया है, अपितु आत्मा की सद्प्रवृत्तियों एवं सद्गुणों, विशुद्ध भावों को सुख-संपन्नता का कारण बताया है और दुष्प्रवृत्तियों, दुर्गुणों, संक्लेश भावों को अर्थात् पापाचरण को दुःख, दीनता, दरिद्रता का कारण बताया है। प्राणातिपात, मृषावाद, मिथ्यादर्शन शल्य आदि अठारह पाप हैं। इनका आचरण पापाचरण है। इन पापों में मुख्य पाप क्रोध-मान-माया और लोभ कषाय हैं। पापाचारण से घाती कर्मों, पाप-प्रकृतियों का सर्जन व बंध होता है, जिससे क्षमा, अनुकम्पा, सरलता, मृदुता, अकिंचनता, दान, लाभ, भोग, उपभोग आदि

गुणों का घात व तिरोभाव होता है और घाती कर्मों के क्षयोपशम से आत्मा के क्षमा, दया, करुणा, अनुकंपा, सरलता, मृदुता, आकिंचन्य आदि सद्गुण प्रकट होते हैं। इनसे अंतराय का क्षयोपशम होता है जिससे दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य गुणों का प्रादुर्भाव होता है। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य इन आत्मिक गुणों का घात, अपहरण, तिरोहण होना दरिद्रता है और इन गुणों का आविर्भाव होना ही सम्पन्नता है। अतः अंतराय कर्म का उदय दरिद्रता का और क्षयोपशम व क्षय सम्पन्नता का हेतु है। यहाँ पर इसी विषय पर विचार किया जा रहा है।

अंतराय कर्म और दरिद्रता-सम्पन्नता

अंतराय कर्म

तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 6 सूत्र 26 के अनुसार-''**विघ्नकरणमन्तरायस्य**'' अर्थात् विघ्न करना अंतराय कर्म है।

धवला पुस्तक 13 पृष्ठ 389-''**अंतरमेति गच्छतीत्यन्तरायः**'' अर्थात् जो अंतर आता है वह अंतराय है अर्थात् अंतराल ही अंतराय है।

''यदुदयाद्दातुकामोऽपि न प्रयच्छति,
लब्धुकामोऽपि न लभते, भोक्तुमिच्छन्नपि न भुङ्क्ते,
उपभोक्तुमभिवांछन्नपि नोपभुङ्क्ते, उत्सहितुकामोऽपि नोत्सहते।।''

सर्वार्थसिद्धि टीका

जिसके उदय से देने की इच्छा करता हुआ भी नहीं देता है, प्राप्त करने की कामना करते हुए भी प्राप्त नहीं करता है, भोग-उपभोग की वाञ्छा करता हुआ भी भोग-उपभोग कर नहीं पाता है और उत्साहित होने की कामना रखता हुआ भी उत्साहित नहीं होता है, वह अंतराय है। अर्थात् मोहनीय कर्म के उदय से किसी कामना का उत्पन्न होना और उस कामना की पूर्ति न होना ही अंतराय है।

अंतराय कर्म के पाँच भेद हैं-दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय व वीर्यान्तराय।

1. दानांतराय-वात्सल्य, करुणा, दया, सेवा, अनुकंपा से प्रेरित विश्व-हित में रत होना दान है। दान देने की भावना न जगना अपितु विषय सुखों के लिए दूसरों से दान पाने की कामना उत्पन्न होना दानांतराय है। (संयम पालनार्थ दाता की प्रसन्नता हेतु भिक्षा लेना दानांतराय नहीं है।) उदारता की उदात्त भावना दानांतराय का क्षयोपशम है। उदारता का परिपूर्ण हो जाना अर्थात् शरीर, बुद्धि, ज्ञान, बल, योग्यता आदि सब शक्तियों को जगत् हितार्थ समर्पित कर देना, अपने सुखभोग के लिए कुछ भी बचाकर न रखना अनन्त दान है, दानान्तराय कर्म का क्षय है।

2. लाभान्तराय-भोग्य वस्तुओं की कामना उत्पन्न होना लाभान्तराय है। वस्तुओं की कामनाएँ अर्थात् तृष्णा प्राणी को पराधीनता में आबद्ध करती है, अपनी स्वाभाविक स्वाधीनता का अपहरण करती है, शांति को भंग करती है, प्राणी को चैन से नहीं रहने देती है, अभाव का अनुभव कराती है। अभाव का अनुभव होना ही दरिद्रता है, लाभान्तराय है।

3-4. भोगान्तराय व उपभोगान्तराय-इन्द्रियों के विषय में सुख का आस्वादन करना भोग है। एक ही प्रकार के भोग को व उसकी जाति के भोगों को बार-बार भोगना उपभोग है। भोग की कामना की पूर्ति न होना भोगान्तराय है और उपभोग की कामना की पूर्ति न होना उपभोगान्तराय है। भोग व उपभोग की कामनाओं की उत्पत्ति का कारण भोग्य पदार्थों का सुंदर, स्थायी व सुखद प्रतीत होना है। इससे भोग्य पदार्थों के प्रति राग उत्पन्न होता है। राग व कामना का उत्पन्न होना, बहिर्मुखी होना है, आत्मा के स्वभाव से च्युत होना, अपने स्वाभाविक सुख से वंचित

होना है। यही भोगान्तराय-उपभोगान्तराय है। भोग-उपभोग की कामना के त्याग से स्वानुभूति होती है जिससे परमानंद होता है। यही भोगान्तराय-उपभोगान्तराय का क्षय है, अनंत भोग-उपभोग है।

5. वीर्यान्तराय-यह सर्वमान्य तथ्य है कि विषय-भोगों की कामना का उत्पन्न होना और उसकी पूर्ति करना अर्थात् विषय-भोग भोगना विकार है, पाप है, आत्म-पतन का एवं कर्मबंध का हेतु है, आत्मा के लिए अहितकर तथा दु:खदायी है। विषय-भोगों की आपूर्ति भी दु:खदायी है। इस प्रकार विषय भोगों की पूर्ति और अपूर्ति दोनों ही अहितकारी तथा दु:खदायी है। वह आत्म-स्वरूप के सच्चे सुख के भोग-उपभोग से विमुख एवं दूर करने वाली है, बाधक है, विघ्नकारी है, घातक है, अर्थात् अंतराय उत्पन्न करने वाली है। अत: विषय-भोगों के त्याग में ही प्राणी का हित है एवं तभी आत्म स्वरूप (स्वभाव) के अक्षय, अव्याबाध (अखंड), अनंत सच्चे सुख रूप भोग-उपभोग की उपलब्धि संभव है। इन्द्रिय व मन से विषय-भोग के लिए किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति व प्रयत्न करना पाप है, प्रमाद है। अपने कल्याण के लिए राग-द्वेष आदि दोषों को दूर करने के लिए पुरुषार्थ न करना प्रमाद है, वीर्यान्तराय है विषय-भोगों व कषाय का त्याग ही सच्चा पुरुषार्थ है, सामर्थ्य है, वीर्य है। प्रमादग्रस्त अर्थात् विषय-कषाय के सुख की दासता व प्रलोभन में आबद्ध प्राणी भोगों के त्याग का पुरुषार्थ नहीं करता है, उसकी यह पुरुषार्थहीनता, दोषों के त्याग करने की असमर्थता वीर्यान्तराय है। विषय-कषाय आदि दोषों-पापों के त्याग के लिए पुरुषार्थ व पराक्रम करना वीर्यान्तराय का क्षयोपशम है और विषय-कषाय आदि दुष्प्रवृत्तियों का सर्वथा एवं पूर्ण त्याग कर निर्दोष हो जाना वीर्यान्तराय का क्षय है, अनंतवीर्य की उपलब्धि करना है।

अभिप्राय यह है कि जहाँ कामना है, वहाँ अंतराय कर्म का उदय है। अत: जिसकी जितनी अधिक कामनाएँ हैं, उसके उतना ही अधिक अंतराय कर्म का उदय है और जितनी कामनाएँ कम होती है अंतराय कर्म का उदय भी उतना ही कम हो जाता है। कामना का अभाव होना तत्संबंधी अंतराय कर्म के उदय का अभाव होना है। अंतराय कर्म का उदय न रहने से तत्संबंधी अंतराय कर्म के उदय का अभाव होना है। अंतराय कर्म का उदय न रहने से तत्संबंधी कामना-आपूर्ति का दु:ख मिट जाता है, जिससे शांति व सुख का अनुभव होता है। यह सुखानुभूति कामना का अभाव होने से होती है। परंतु प्राणी इसे कामना पूर्ति के होने से मानता है। यही मूल में भूल है। आशय यह है कि सुख कामना पूर्ति में नहीं है, कामना के अभाव में है, क्योंकि कामना पूर्ति के समय पुन: वही स्थिति हो जाती है जो कामना उत्पत्ति से पूर्व थी अर्थात् कामना का अभाव था। अत: सुख कामना के अभाव में है। जो इस तथ्य को स्वीकार कर लेता है उसके नवीन कमानाओं की उत्पत्ति नहीं होती है। परंतु जो यह मानता है कि सुख कामना पूर्ति से मिलता है, उसके मन में उस कामना पूर्ति के सुख की जाति के अगणित सुखों को पाने के लिए अनेक कामनाओं का जन्म होता है। जैसे जो बीज भूमि में गिरता है वह उगकर अपनी जाति के अगणित फल देता है, नये बीजों को पैदा करता है तथा जैसे किसी बीज के गल व जल जाने पर वह निर्जीव हो जाता है फिर वह उगता नहीं है, इसी प्रकार जो अपने सुख का कारण कामना पूर्ति को न मानकर, कामना के अभाव को सुख मानता है, उसकी कामना निर्जीव, निर्मूल हो जाती है, वह नवीन कामनाओं को जन्म नहीं देती है। परंतु जो कामना-पूर्ति में सुख मानता है उसकी कामना पूर्ति अनेक नवीन कामनाओं की उत्पत्ति के लिए बीज-वपन का कार्य करती है। अत: कामना-पूर्ति हो जाने से उसके अंतराय कर्म का क्षय नहीं होता है, अपितु उस जाति की नवीन कामनाओं

की उत्पत्ति का कारण बनता है, अर्थात् नवीन अंतराय कर्म के बंध व उदय का कारण बनता है, जो दुःख एवं दरिद्रता का हेतु ही होता है।

कामना उत्पत्ति का कारण विषय-भोगों के सुखों का चिंतन करना है, जैसा कि गीता में कहा है-

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।

-गीता, 2.62

विषयों का चिंतन करने वाले पुरुष का उन विषयों से संग (संबंध) हो जाता है। संग (संबंध-राग) से उन विषयों की प्राप्ति की कामना उत्पन्न होती है। कामना द्वारा इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति न होने से क्रोध-क्षोभ उत्पन्न होता है अर्थात् कामना के उत्पन्न होते ही चित्त कुपित, अस्थिर, अशांत, क्षुभित हो जाता है, चित्त की शांति व स्थिरता भंग हो जाती है। पुरुष अपने निज स्वभाव से च्युत हो जाता है एवं यह स्थिति तब तक बनी रहती है जब तक कामना का प्रवाह चलता रहता है। कामना का अभाव होने पर ही पुनः शांति, सुख व सम्पन्नता का अनुभव होता है। शांति आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव में अंतराल आना ही अंतराय है।

साधु व वीतराग के भूमि, भवन, वाहन, रेड़ियो, टी.वी. आदि का न होना दुःख का कारण व अंतराय कर्म का उदय नहीं है, क्योंकि साधु के इनकी कामना नहीं है। अतः साधु इनके न होने से अभाव का अनुभव नहीं करता है, जबकि इन्हीं वस्तुओं के भोग की कामना रखने वाले व्यक्ति के लिए इनका न मिलना, न होना दुःख का हेतु व अंतराय कर्म का उदय है। तात्पर्य यह है कि कामना की उत्पत्ति अंतराय कर्म के उदय की सूचक है और कामना का अभाव होना, निष्काम होना, सुख का हेतु व अंतराय कर्म के क्षयोपशम का सूचक है।

यह नियम है कि कामना की आपूर्ति में अशांति, पराधीनता, चिंता, खिन्नता, दीनता, भय, दुःख रहता ही है, यही दरिद्रता की निशानी है, पहचान है और कामना के अभाव में शांति, अभाव का अभाव, स्वाधीनता व प्रसन्नता रहती है, यही सच्ची सम्पन्नता है। जैसा कि आगम में कहा है-

कहं न कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए।
पए-पए विसीयंतो, संकप्पस्स वसं गओ।।

-दशवैकालिक सूत्र, 2.1

अर्थात् संकल्प (कामना) के वशीभूत व्यक्ति पग-पग पर विषाद से, खेद-खिन्नता के दुःख से दुःखी होता है। अतः जो कामनाओं का त्याग नहीं करता है, वह श्रमण धर्म का पालन कैसे कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता है।

आयावयाहि चय सोगमल्लं, कामे कमाहि कमियं खु दुक्खं।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए।।

-दशवैकालिक सूत्र 2.5

तात्पर्य यह है कि शोक-खेद-खिन्नता का त्याग कर आतापना लेने से, दुःखों को सहन करने से, कामनाओं में कमी करने से दुःख में कमी होती है। द्वेष का छेदन करने से, राग को दूर करने से शीघ्र संसार में तत्काल सुखी हुआ जा सकता है। उत्तराध्ययन सूत्र के 9वें अध्ययन में कहा है-

सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।।48।।
पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह।
पडिपुण्णं नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे।।49।।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 9, गाथा 48-49

अर्थ-सोने और चाँदी के कैलाश पर्वत के समान असंख्य पर्वत हों फिर भी विषय सुखों में लुब्ध मनुष्यों की कुछ भी तृप्ति नहीं होती है, क्योंकि इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं।।48।।

समग्र भूमि, समग्र चावल, जौ और अन्य अन्न, समस्त पशु, समस्त स्वर्ण व अन्य धन, एक व्यक्ति की इच्छा परिपूर्ण करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। यह जानकर तपश्चरण करे।।49।।

अत: इच्छा पूर्ति से सुख चाहने वाला व्यक्ति इच्छा की अपूर्ति व अतृप्ति के दु:ख की आग में निरंतर जलता रहता है अर्थात् इच्छा पूर्ति के सुख के भोगी को दु:ख से मुक्ति मिलना कदापि संभव नहीं है। जैसे कि कहा है-

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे य पत्थेमाणा, अकामा जंति दोग्गइं।।
अहे वयंति कोहेणं, माणेणं अहमा गई।
मायागई पडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं।।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 9, गाथा 53-54

अर्थ-काम-भोग शल्य हैं, शूल के समान प्रतिक्षण चुभने का दु:ख देते रहते हैं। काम-भोग विष व आशीविष के समान हैं। विषय-भोगों की तरंगें आशी-विष के समान तत्काल मूर्च्छित करने वाली-अपना भान भुलाने वाली हैं। काम-भोग का इच्छुक व्यक्ति कामना अपूर्ति के दु:ख से भयंकर दुर्गति को प्राप्त होता है।।53।।

काम-भोगों से कषायों की उत्पत्ति होती है। कषाय से प्रगति अवरुद्ध होती है क्रोध से अधोगति होती है। मान से अधम गति होती है, माया से सुगति की ओर प्रगति में प्रतिघात होता है और लोभ से दोनों प्रकार का भय होता है अर्थात् प्राप्त सुख व सामग्री के जाने का भय और अनचाहे दु:ख आने का भय सदा बना रहता है।।54।।

कसिणं वि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से ण संतुस्से, इह दुप्पूरए इमे आया।।
जहा लाहो, तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ।
दो मास कयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं।।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 8, गाथा 16-17

अर्थ-यदि किसी व्यक्ति को धन-धान्यादि से परिपूर्ण यह सम्पूर्ण लोक (विश्व) भी दे दिया जाये तब भी उससे वह संतुष्ट नहीं होता। लोभासक्त आत्मा की कामनाओं की पूर्ति होना संभव नहीं हैं। क्योंकि जैसे-जैसे लाभ होता जाता है वैसे-वैसे ही लोभ बढ़ता जाता है। लाभ से लोभ बढ़ता है (घटता नहीं है)। (कपिल मुनि का) जो कार्य दो माशा सोने से ही हो सकता था, वह करोड़ों स्वर्ण मुद्राओं से भी पूरा नहीं हो सका अर्थात् कामनाओं की जितनी पूर्ति होती है उतनी ही अधिक नवीन कामनाओं की उत्पत्ति होती जाती है जिनकी पूर्ति होना संभव नहीं है। सभी कामनाएँ किसी की भी कभी भी पूरी नहीं होती हैं। कामना आपूर्ति ही दुःख है। इस प्रकार कामना पूर्ति के सुख के प्रलोभन के वशीभूत प्राणी भयंकर दुःख पाता है। जैसा कि कहा है-

खणमित्तसुक्खा, बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा-अणिगामसुक्खा।
संसार मोक्खस्स-विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण उ कामभोगा।।
परिव्वयंते अणियत्तकामे, अहो य राओ परितप्पमाणे।
अण्णप्पमत्तेधणमेसमाणे, पप्पोत्ति मच्चुं पुरिसे जरं च।।
इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि, इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं।
तं एवमेवं लालप्पमाणं, हरा हरंति त्ति कहं पमाए।।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 14, गाथा 13-15

भावार्थ-भोगों की कामनाओं की पूर्ति से मिला हुआ सुख क्षणमात्र के लिए प्रतीत होता है और बहुत काल तक दुःख देने वाला होता है। कामना की वृद्धि में दुःख और निष्काम (कामना रहित) होने में सुख है।

इस प्रकार काम-भोग संसार के बंधनों से मुक्त होने में विपक्षभूत (बाधक-सूत्र) है और सर्व अनर्थों (बुराईयों-दु:खों) की खान हैं। अत: जो कामनाओं से निवृत्त नहीं है वह पुरुष रात-दिन निरंतर कामना आपूर्ति के दु:ख से संतप्त होता हुआ कामना-पूर्ति हेतु इधर-उधर भटकता रहता है। वह अपने से भिन्न अन्य (पर) में आसक्त होकर उनकी प्राप्ति के लिए धन, सम्पत्ति की खोज में जीर्णता-जरा अवस्था (वृद्धावस्था) को तथा मृत्यु को प्राप्त होता है। वह जीवन पर्यन्त दीनता, हीनता व दरिद्रता का अनुभव करता है।

विषय-भोगों के सुखों में लुब्ध व्यक्ति, यह मेरा है, यह मेरा नहीं है, मुझे यह करना है और यह नहीं करना है, इसी में रत रहता है। इस प्रकार काम-भोग रूपी चोर उसका सर्वस्व हरण कर लेते हैं।

सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडंबियं।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा।।
बालाभिरामेसु दुहावहेसु, न तं सुहं काम गुणेसु रायं।
विरत्तकामाण तवोधणाणं, जं भिक्खुणं सीलगुणे रयाणं।।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 13, गाथा 16-17

भावार्थ-ज्ञानियों की दृष्टि में सब गीत विलाप रूप हैं। सब नृत्य-नाटक विडम्बना रूप हैं। समस्त आभूषण भार रूप हैं। सभी काम-भोग दु:खदायक हैं।

हे राजन्! अज्ञानियों को सुंदर दिखने वाले दु:खप्रद काम-भोगों (कामनापूर्ति) में वह सुख नहीं है जो सुख कामनाओं से विरक्त तप रूपी धन के स्वामी, शील गुणों (सद्गुणों) में रत भिक्षुओं को होता है अर्थात् समस्त काम-भोग की कामनाएँ दु:ख देने वाली हैं और सद्गुण सुख देने वाले हैं। सुख सद्गुणों में ही हैं और यही सच्ची धन-सम्पत्ति है।

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमंमि लोए अदुवा परत्था।
दीवप्पणट्ठेव अणंतमोहे, नेआउयं दट्ठुमदट्ठुमेव।।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 4, गाथा 5

भावार्थ-प्रमादी मनुष्य इस लोक में अथवा परलोक में धन से त्राण (संरक्षण) नहीं पाता है। जिस प्रकार दीपक बुझने पर देखा हुआ मार्ग भी दिखाई नहीं देता है उसी प्रकार अनंत मोह से ग्रस्त (लोभांध) व्यक्ति अपने ज्ञान से जाने हुए न्याय (सत्य) मार्ग को देखते हुए भी नहीं देखता है। मोहांध, लोभांध व्यक्ति सत्य मार्ग को देखता, जानता हुआ भी अनदेखा कर देता है, उस पर नहीं चलता है।

वियाणिया दुक्खविवद्धणं धणं, ममत्त बंधं च महाभयावहं।
सुहावहं धम्मधुरं अणुत्तरं, धारेज्ज निव्वाणगुणावहं महं।।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 19, गाथा 99

भावार्थ-धन को दु:खवर्द्धक और ममता के बंधन को महाभयंकर जानकर निर्वाण (मोक्ष) के गुणों को प्राप्त कराने वाली एवं अनंत सुख प्रदायक अनुत्तर धर्म की महाधुरा को धारण करे। इस गाथा में भगवान ने स्पष्ट शब्दों में धन को दु:ख वृद्धि का कारण कहा है, सुख-प्राप्ति व पुण्योदय का फल नहीं बताया है और धर्म को अर्थात् परिग्रहादि पापों के त्याग से उत्पन्न होने वाले गुणों को सुख का कारण कहा है।

न कम्मुणा कम्मं खवेंति बाला, अकम्मुणा कम्मं खवेंति धीरा।
मेहाविणो लोभमयावतीता, संतोसिणो नो पकरेंति पावं।।

-सूत्रकृतांग श्रुतस्कंध अध्ययन 12, गाथा 15

भावार्थ-बाल जीव कर्म से कर्म का क्षय करना चाहते हैं, परंतु कर्म से कर्म का क्षय नहीं होता, अत: कर्म करने से कर्म क्षय नहीं होते हैं। धीर पुरुष कर्म (कर्तृत्वभाव) रहित होकर कर्म का क्षय करते हैं। लोभ और

गर्व से (सुख के प्रलोभन व दुःख के भय से) रहित संतोषी बुद्धिमान पुरुष पाप का उपार्जन नहीं करते हैं अर्थात् पाप कर्म और उनके फल दुःख दारिद्र्य से मुक्त होने का उपाय संतोष (सुख का प्रलोभन व कषाय का त्याग) है।

संक्षेप में कहें तो संतोष व सद्गुण ही सम्पन्नता है और तृष्णा, कामना व दुर्गुण विपन्नता-दरिद्रता है।

काम भोग प्राणी के लिए भयंकर दुःखदायी हैं, जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र के 32वें अध्ययन में कहा है-

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं, तंसिक्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू, न किंचि भावं अवरुज्झइ से।।90।।

भावार्थ-जो तीव्र द्वेष को प्राप्त होता है वह प्राणी अपने ही दुर्दान्त दोष के कारण उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है। इसमें मन के भाव का कुछ भी दोष-अपराध नहीं है अर्थात् इसके लिए राग-द्वेष कर्त्ता व्यक्ति स्वयं उत्तरदायी है।

भावाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खणसण्णिओगे।
वए वियोगे य कहं सुहं से, संभोगकाले य अतित्तिलाभे।।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 32, गाथा 93

भावार्थ-भावों में आसक्ति एवं ममत्व रखने वाले जीव को भावानुकूल पदार्थ के उत्पन्न करने में, रक्षण में, उपयोग करने में, व्यय में, वियोग में व्यस्त रहता है, उसे सुख कैसे प्राप्त हो सकता है? कदापि सुख नहीं होता है। उसका उपभोग करते समय भी तृप्ति न होने के कारण दुःख ही होता है। भोगों में सुख कहीं भी नहीं है, सर्वत्र दुःख ही दुःख है।

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरंते।
एवं अदत्ताणि समाययंतो, भावे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो।।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 32, गाथा 96

भावार्थ-असत्य (पर-विनाशी) पदार्थ का भोग करने वाला भोग के पहले, पीछे एवं प्रयोग (उपभोग) करते समय दुःखी होता है और उसका अंत भी बुरा होता है। इस प्रकार भावों से पर पदार्थों को ग्रहण करते हुए वह जीव दुःखी व आश्रयहीन हो जाता है।

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाइं।।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 32, गाथा 8

भावार्थ-दुःख उसी का नष्ट होता है जिसके मोह नहीं है। मोह उसी का नष्ट होता है जिसके तृष्णा नहीं है। तृष्णा उसी के नहीं होती है, जिसके लोभ नहीं है। लोभ उसी के नहीं होता है जो अकिंचन होता है। अर्थात् जो परिग्रह रहित होता है, जो अपने को कुछ नहीं मानता, किसी को अपना नहीं मानता, किसी से कुछ भी कामना नहीं रखता, वह ही दुःख रहित होता है। कहा है-

गोधन, गजधन, रत्नधन, कंचन खान सुखान।
जब आवे संतोष धन, सब धन धूरि समान।।
कुदरत का कानून है, सब पर लागू होय।
विकृत मन व्याकुल रहे, निर्मल सुखिया होय।।
द्वेष और दुर्भाव के, जब जब उठे विकार।
मैं भी दुःखिया हो उठूँ, दुःखी करूँ संसार।।
शुद्ध धर्म धारण करें, करें दूर अभिमान।
मिले अमित संतोष सुख, धर्म सुखों की खान।।
द्वेष और दुर्भाव से, आकुल-व्याकुल होय।
स्नेह और सद्भाव से, हर्षित पुलकित होय।।
निर्धन या धनवान हो, अनपढ़ या विद्वान्।
जिसने मन मैला किया, उसके व्याकुल प्राण।।
दुर्गुण से ही दुःख मिले, सद्गुण में सुखधाम।

जन व्यवहारी नाम से, सधे न कोई काम।।
कुदरत का कानून है, कृपा करे ना क्रोध।
विकृत मन होवे दुःखी, होय सुखी चित्त शोध।।
राग-द्वेष की मोह की, जब तक मन में खान।
तब तक सुख का, शांति का, जरा न नाम निशान।।
शील रतन मोटो रतन, सब रतनों की खान।
तीन लोक की संपदा, रही शील में आन।।

कर्म सिद्धांत व आगमों में दुःख को दोष, पाप व दुष्प्रवृत्ति का फल बताया है। समस्त दोषों की उत्पत्ति विषयों के सुख की कामना से होती है, विषय सुख की कामना उत्पन्न होते ही सहज स्वभाव से सदा विद्यमान समता व शांति भंग हो जाती है और चित्त अशांत, कुपित, क्षुब्ध व खिन्न हो जाता है। इसे ही क्रोध कहा गया है यथा-**''कामात् क्रोधोऽभिजायते''** अर्थात् कामना से क्रोध-क्षोभ पैदा होता है। कामना-पूर्ति होने पर, जिस व्यक्ति, वस्तु से कामना पूरी होती है, वह उसे स्थायी, सुखद, सुंदर प्रतीत होती है। इससे उस भोग्य पदार्थ के प्रति ममत्व-मेरापन का भाव हो जाता है। जो वस्तु सड़न, गलन स्वभाव वाली है, उसे सुंदर मानना, जिसका वियोग अवश्यम्भावी है, उसे स्थायी मानना, जो मेरे से भिन्न है उसे मेरी मानना भ्राँति है, धोखा है, माया है। कामना पूर्ति जनित सुख को बार-बार भोगने के लिए प्राप्त वस्तु आदि से तादात्म्य, ऐक्य, अहंभाव बुद्धि हो जाना, उसे 'मैं' मानना 'मान' कहा गया है। उस भोग्य पदार्थ को सदा बनाये रखने तथा उसी जाति के अन्य भोग भोगने व पदार्थों को पाने की तृष्णा होने को लोभ कहा गया है। विषय सुख की इन चारों स्थितियों में 'पर' के प्रति, संसार के प्रति आकर्षण रहता है, अतः इन्हें कषाय कहा गया है। विषय-सुख की कामना न हो तो राग, द्वेष, मोह आदि दोषों की उत्पत्ति ही नहीं होती है।

विषय सुख-कामना पूर्ति से मिलता है, यह मानना भूल है। कामना पूर्ति का अर्थ है-कामना का न रहना, कामना का अभाव होना। अत: यह सुख भी कामना के अभाव से, चित्त के शांत होने से मिलता है, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति से नहीं। यदि सुख वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि से मिलता तो इन सबके विद्यमान रहते हुए यह सुख बना रहना चाहिए था और इन सबकी वृद्धि के साथ इस सुख में भी वृद्धि होती जानी चाहिए थी, परंतु ऐसा नहीं होता है। यह सुख कुछ क्षणों से अधिक प्रतीत नहीं होता है तथा भोग्य-वस्तुओं की वृद्धि सैकड़ों हजारों गुना हो जाने पर भी, सुविधाओं के बढ़ जाने पर भी सुख में वृद्धि नहीं होती है। अपितु सुख पाने की कामनाएँ दिन-दुगुनी रात चौगुनी बढ़ती जाती है, जिसकी पूर्ति न होने से सुख का अभाव अधिकाधिक बढ़ता जाता है। अभाव का बढ़ना दीनता व दरिद्रता का द्योतक है।

विषय-भोग के सुख की कामना की उत्पत्ति व अपूर्ति अशांति की और पूर्ति पराधीनता की जननी है। कामना पूर्ति क्षोभ, खिन्नता व दु:ख की जननी है। अत: विषय सुख अशांति, पराधीनता व खिन्नता में आबद्ध करता है जिससे प्राणी की शांति, स्वाधीनता व प्रसन्नता का अपहरण हो जाता है, विघ्न उत्पन्न हो जाता है।

कर्म-सिद्धांतानुसार कर्म का विपाक वैसा ही होता है, जैसा भाव होता है। दुर्भावों का फल अशुभ, दु:खद तथा सद्भावों का फल शुभ-सुखद मिलता है। शुभ भावों से शुभ अनुभाव वाले पुण्य कर्म का और अशुभ भावों से अशुभ अनुभाव के पाप कर्म का सर्जन होता है। शुभ अनुभाव शांति, प्रसन्नता व सम्पन्नता के सुख का और अशुभ अनुभाव अशांति, खिन्नता, चिंता, भय, द्वन्द्व, दीनता व दरिद्रता का हेतु होता है। कर्म के इस अकाट्य, सनातन नियम का कोई अपवाद नहीं है। कोई दु:ख, विपत्ति, अप्रिय,

अनिष्ट अवस्था ऐसी नहीं है जो पाप, दोष, बुराई का फल न हो। जिसे अशांति, चिंता, संघर्ष, कलह, अंतर्द्वन्द्व, भय, खिन्नता, अभाव, नीरसता, दासता, विपन्नता के दुःखों से, अनिष्ट दशाओं से बचना है, उसे भोगेच्छा, स्वार्थपरता, संकीर्णता, क्रूरता, निर्दयता, वक्रता, अभिमान, लालच व सुख-लोलुपता से बचना ही होगा। इसके अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं है। कोई बुराइयों से जुड़ा रहे और फिर चाहे कि दुःख न आने पावे, यह कदापि संभव नहीं है। संक्षेप में कहें तो समस्त दुःखों व दोषों का कारण इन्द्रियों के क्षणिक सुख का भोग है। सुख के भोगी को दुःख भोगना ही पड़ता है। कर्मसिद्धांत के इस नैसर्गिक नियम को कोई नहीं टाल सकता है। सुख जीव का स्वभाव है। स्वभाव का अभाव कभी नहीं होता है। चाहे कुछ काल के लिए उसका अंतराल हो जाए। सुख का अनुभव स्वभाव में स्थित होने पर ही होता है। कामना उत्पत्ति के कारण अपने स्वभाव से अंतराल, अंतर, दूरी हो गई थी वह दूसरी कामना के अभाव हो जाने पर मिट जाती है जिससे स्वाभाविक सुख का अनुभव होता है। सुख कामना या विकार के अभाव से मिलता है। इस तथ्य को स्वीकार करना, अनुभव करना ही सम्यग्ज्ञान व सम्यग्दर्शन है। इस अनुभव का आदर करते हुए क्रोध-मान, माया-लोभ आदि प्रवृत्तियों का त्याग करना सम्यक् चारित्र है। क्रोध, मान, माया व लोभ के त्याग से क्षमा, मार्दव, आर्जव व संतोष के गुण प्रकट होते हैं। क्षमाशील व्यक्ति किसी से वैर व द्वेष नहीं रखता है। उसके निर्दयता, क्रूरता, कठोरता, संवेदनशीलता, स्वार्थपरता के भाव नहीं रहते हैं। वह किसी भी जीव को बुरा नहीं समझता है, घृणा नहीं करता है, वह मन से उसका बुरा नहीं चाहता है, वचन से उसकी बुराई नहीं करता है व काया से उसका अहित नहीं करता है। उसमें प्राणी मात्र को दुःखी देखकर करुणा, अनुकम्पा, दयालुता, सेवा के भाव जागते हैं। वह सर्व हितकारी प्रवृत्ति करता है, अपने सामर्थ्य, शक्ति, योग्यता व पात्रता

का उपयोग अपने निकटवर्ती जीवों के हितार्थ करता है। मार्दव स्वभाव वाले व्यक्ति के हृदय में प्राणिमात्र के प्रति मृदुता, मधुरता, आत्मीयता, प्रीति का भाव जागृत होता है। उसके हृदय में निकटवर्ती प्राणियों को सुखी देखकर प्रमोद भाव जागृत होता है। उसका अहं गल जाता है और प्रीति भाव जागृत हो जाता है। उस प्रीति का सुख सदा उमड़ता रहता है, वह प्रीति के सुख का उपभोग करता रहता है। इससे उसकी विषय भोगों के उपभोग की कामनाएँ गल जाती हैं, जो उपभोगान्तराय के क्षय में हेतु हैं।

सरलता गुण से निष्कपटता, हृदय में शुद्धता आती है, जिससे मैत्री भाव जागृत होता है, ममता भाव गलता है। ममता वहीं होती है जहाँ किसी से कुछ सुख पाने की इच्छा होती है। मैत्री में सुख देने की भावना होती है, सुख पाने की नहीं। मित्र सभी को भला लगता है, अच्छा लगता है, सुंदर लगता है। मित्रता से हृदय में सरसता आती है, सरसता से नीरसता मिट जाती है। नीरसता के मिटने से भोगों की कामना उत्पन्न नहीं होती है, क्योंकि नीरसता की भूमि में ही कामना की उत्पत्ति होती है। भोगों की कामना उत्पन्न न होना ही भोगांतराय का क्षय होता है। अतः सरलता गुण से भोगांतराय का क्षय होता है और सर्व प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव होता है। उसका हृदय सरस रहता है। मैत्रीभाव से माया कषाय का क्षय होता है, क्योंकि मित्रता का नाश माया कषाय से ही होता है। जैसा कि कहा है-**"माया मित्ताणि नासेइ।"** -दशवैकालिक सूत्र 8.37

जब विषय सुख की लोलुपता, लालसा व प्रलोभन मिट जाते हैं तब संसार में कुछ भी पाना शेष नहीं रहता है। पाना शेष न रहने से वस्तु, भोग, उपभोग आदि की कामना शेष नहीं रहती है। कामना शेष न रहने से अभाव का अभाव हो जाता है। यही दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय का क्षय है, सच्ची सम्पन्नता है। पाना शेष न रहने से करना

शेष नहीं रहता है, यही कृत-कृत्य होना है, यही वीर्यान्तराय का क्षय है। जिसे भोग-विलास का, विषयों का सुख नहीं चाहिए उसे अपने सुख के लिए संसार में कोई भी वस्तु नहीं चाहिये। वह किसी से कुछ भी आशा नहीं रखता है। यहाँ तक कि अपने पास जो शरीर, इन्द्रियादि वस्तुएँ, योग्यताएँ व सामर्थ्य है उन्हें भी अपने सुख के लिए नहीं मानकर संसार के हितार्थ मानता है। उसमें असीम-अनंत औदार्य गुण प्रकट हो जाता है। इसे अनंत दान कहा है। जिसे अपने लिए किसी भी वस्तु, देश, काल, परिस्थिति आदि की कामना की आवश्यकता नहीं है, वह सदा के लिए अभाव से मुक्त हो जाता है। यही अनंत लाभ, अनंत ऐश्वर्य है। अतः जिसने भोग सुख का त्याग कर दिया उसमें बहिर्मुखी वृत्ति नहीं रहती, जिससे निज स्वभाव के, स्वाधीनता के, मुक्ति के पूर्व अखण्ड अव्याबाध सुख का अनुभव होता है, यही अनंत भोग है। अहं भाव मिटने से मार्दव, माधुर्य गुण प्रकट होता है जिसमें प्रीति का रस उमड़ता रहता है। फिर उसे किसी उपभोग की आवश्यकता नहीं रहती, यही अनंत उपभोग है।

यह नियम है कि कारण के अनुसार ही कार्य होता है। इसी नियमानुसार सम्पन्नता और विपन्नता का संबंध, आंतरिक सद्गुणों-सद्प्रवृत्तियों से एवं दुर्गुणों-दुष्प्रवृत्तियों से है। जिसके अंतःकरण में सुख-लोलुपता, द्वेष, घृणा, वैर-भाव, क्रोध, घमंड, छल-छद्म, लोभ, भोग-विलास, स्वार्थपरता, कृपणता, क्रूरता, मिथ्याभिमान, कदाग्रह का निवास है उसका चित्त सदा अशांत, चिन्तित, भयभीत तथा अभाव, द्वन्द्व, हीनभाव, दीनभाव, नीरसता व दरिद्रता से ग्रस्त ही रहता है, चाहे उसके पास अपार धन सम्पत्ति भी हो। उसकी धन-सम्पत्ति उसके चित्त की इन अनिष्ट दशाओं से छुटकारा नहीं दिला सकती। इसके विपरीत जिसके अंतःकरण में क्षमाशीलता, दयालुता, वत्सलता, सहृदयता, सरलता,

सज्जनता, विनयता, मृदुता, उदारता, मुदिता आदि सद्गुणों का, साधुत्व का, निवास है, उसके चित्त में समता, शांति, प्रसन्नता, प्रीति का परमानंद लहराता रहता है। उसे किसी की भी आवश्यकता नहीं होती है। वही संपत्तिशाली है। कहा भी है-''एकांत सुखी साधु-वीतरागी।'' साधु व वीतरागी के समस्त सम्राट् व सेठ सिर नमाते हैं। साधु सम्राट् से अधिक सुखी, सम्पन्न व पुण्यवान होता है जबकि साधुओं के पास बाह्य वस्तुएँ भूमि, भवन आदि सम्राटों व सेठों की तुलना में कुछ भी नहीं होती हैं।

समस्त कामनाओं से मुक्त अंत:करण की पूर्ण संतोष अवस्था से ही शांति व आनन्द की अनुभूति होती है, यही सुख है-वास्तविक सम्पत्ति है। कामना पूर्ति से प्रारंभ होने वाला सुख मिथ्या भ्रमात्मक व क्षणिक होता है। इसके पश्चात् सुख प्राप्ति के लिए उसी कामना पूर्ति की जाति की अन्य अनेक कामनाओं का जन्म होता है। उन कामनाओं की जितनी पूर्ति होती है, उनसे मिलने वाला सुख उतनी ही अधिक कामनाओं को जन्म देता है और यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक वह शारीरिक व मानसिक रूप से थककर निराश नहीं हो जाता है। कामना में ही समस्त दारुण सुख अंतर्निहित है। निष्काम होना ही समता के साम्राज्य में प्रवेश करना है। यही वास्तविक सम्पन्नता है।

सम्पन्नता

यह नियम है कि विषयों की कामना पूर्ति से सुख के भोगी को दु:ख भोगना ही पड़ता है अथवा यों कहें कि दु:ख उसी को भोगना पड़ता है जो विषय-सुख का भोगी है, कामी है। अत: दु:ख से छूटने का एकमात्र यही उपाय है कि हम विषय-सुख की कामना का त्याग करें, परंतु यहीं यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि हम इस सुख का त्याग कर दें तो फिर हमारा जीवित रहने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है अर्थात् हमारा

जीवित रहना व्यर्थ हो जाता है। अत: हमें जीवन में सुख तो चाहिए ही। इस प्रकार हमारे सामने दो स्थितियाँ हैं। एक तो यह है कि कामना पूर्ति के सुख के भोगी को दु:ख भोगना ही पड़ता है और हमें दु:ख भोगना पसंद नहीं है और दूसरी यह है कि यदि हम इस सुख को त्याग देते हैं तो सुख रहित जीवन भी हमें पसंद नहीं है, यह हमारे सामने समस्या है। इस समस्या का समाधान तभी संभव है जब हमें ऐसा सुख मिले जिसके साथ दु:ख जुड़ा न हो, दु:ख रहित सुख हो।

दु:ख रहित सुख पाने के लिए हमें सुख की विविधताओं पर विचार करना होगा। सुख का एक रूप या प्रकार तो है इन्द्रियभोग से प्राप्त विषय-सुख; जो इष्ट पदार्थ खाने, देखने, सूँघने, सुनने आदि इन्द्रियों के भोग से मिलता है और सुख का दूसरा रूप या प्रकार है आध्यात्मिक सुख; जो सेवा, त्याग, असंगता, मित्रता, उदारता आदि सद्‌गुणों से मिलता है अर्थात् जब चित्त शांत होता है तो उसको अपना एक सुख या रस मिलता है, जिसे शांत रस कहते हैं। इसी प्रकार जब हम किसी की सेवा करते हैं, जिससे उसका दु:ख दूर होता है तो उससे हमें प्रसन्नता होती है। किसी गुणवान, उदारचेत्ता पुरुष को देखते हैं तो हमें प्रमोद होता है। यह प्रसन्नता व प्रमोद भी एक प्रकार का सुख है। इसी प्रकार शरीर और संसार से असंग होने से, देहातीत-लोकातीत होने से स्वाधीनता का, मुक्ति का अनुभव होता है। इसका भी अपना सुख है।

प्रथम प्रकार का सुख जो शरीर, इन्द्रिय व संसार की वस्तुओं के भोग से संबंधित है उस सुख के साथ पराधीनता, विवशता, परवशता, जड़ता, मूढ़ता, शक्तिहीनता, नीरसता, रोग, बुढ़ापा, अभाव, अतृप्ति आदि समस्त दु:ख ऐसे ही जुड़े हुए हैं, जैसे काया के साथ छाया। प्रकृति का यह अटल नियम है कि विषय-सुख के साथ दु:ख रहता ही है।

विषय सुख की प्रतीति विषय भोग व भोग की वस्तुओं से होती है। अत: जहाँ विषय सुख का भोग है वहाँ अप्राप्त वस्तुओं की कामना, प्राप्त वस्तुओं के प्रति ममता व तादात्म्य तथा स्वार्थपरता रहती ही है। कामना से अशांति की, ममता से पराधीनता की, तादात्म्य से जड़ता की, स्वार्थपरता से संकीर्णता की उत्पत्ति होती ही है। अशांति, पराधीनता, जड़ता, संकीर्णता किसी को भी पसंद नहीं हैं। ये सभी को दु:ख रूप ही लगती हैं। अत: इन दु:खों से मुक्ति पाने के लिए विषय-सुख तथा कामना, ममता, तादात्म्य का त्याग करना ही होगा।

अक्षय सुख

कामना के त्याग से शान्ति व संपन्नता की अनुभूति होती है। शांति का रस या सुख कामना पूर्ति के सुख की तरह प्रतिक्षण क्षीण होने वाला नहीं हेाता है प्रत्युत अक्षय व अक्षुण्ण होता है। जब तक पुन: कामना की उत्पत्ति नहीं होती है तब तक शान्ति व सम्पन्नता का सुख बराबर बना रहता है। इसमें कमी या क्षीणता नहीं आती है और न यह नीरसता में ही बदलता है। अत: शांति व संपन्नता का रस या सुख अक्षय सुख है जिसकी उपलब्धि कामना त्याग से ही संभव है।

अव्याबाध सुख

ममता के त्याग से स्वाधीनता की अनुभूति होती है। स्वाधीनता से स्व रस, निज रस, अविनाशी रस या सुख की अनुभूति होती है। यह सुखानुभूति अविनाशी स्वरूप की होती है। अत: यह भी अविनाशी होती है। स्वाधीनता स्वाश्रित होने से उसके सुख में विघ्न व बाधा डालने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकता। स्वाधीनता ही मुक्ति है। अत: स्वाधीनता या मुक्ति का सुख अबाधित, अव्याबाध, अखंड होता है। यह अक्षय तो होता ही है, पूर्ण होने से अखंड भी होता है।

अनन्त सुख

कामना-ममता के त्यागने पर शरीर व संसार से तादात्म्य या अहंभाव मिट जाता है, जिसके मिटते ही राग-रहित वीतराग अवस्था का अनुभव होता है। राग-रहित होते ही अनन्त प्रेम का प्रादुर्भाव होता है, फिर प्रेम का रस सागर की लहरों की तरह लहराता है, सदैव उमड़ता रहता है, इस रस की न तो क्षति होती है, न निवृत्ति होती है, न पूर्ति होती है, न अपूर्ति होती है, न तृप्ति होती है, न अतृप्ति होती है। यह सुख क्षतिरहित होने से अक्षय, निवृत्त नहीं होने से अव्याबाध, पूर्ति-अपूर्ति रहित होने से अखंड-पूर्ण एवं तृप्ति-अतृप्ति रहित होने से अनन्त नित्य नूतन होता है। यह विलक्षण रस है, अतः बुद्धिगम्य नहीं होकर अनुभव गम्य है।

अनन्त वैभव व सम्पन्नता

मैत्रीभाव या प्रेम की प्राप्ति वहीं होती है जहाँ स्वार्थपरता नहीं है। जहाँ स्वार्थपरता है वहाँ दृष्टि अपने ही सुख पर रहती है, भले ही इससे दूसरों का अहित हो या उन्हें दुःख हो। इससे संघर्ष और संताप उत्पन्न होता है। स्वार्थी व्यक्ति सिमट या सिकुड़ कर एक संकीर्ण से, छोटे-से घेरे में आबद्ध हो जाता है। उसकी संवेदनशीलता तिरोहित हो जाती है। उसके हृदय में क्रूरता, कठोरता व जड़ता आ जाती है। फिर वह हिंसक पशु से भी निम्न स्तर वाला दानव का जीवन जीने लगता है। पशु के समान ही इन्द्रिय भोग तो भोगने ही लगता है साथ ही अमानवीय अधम व्यवहार भी करने लगता है और परिणाम में भयंकर दुःख भोगता है। इसके विपरीत जो प्राप्त सामग्री, योग्यता, बल का उपयोग उदारतापूर्वक दूसरों के हित में करता है उसे इस सेवा से जो प्रसन्नता या सुख मिलता है, वह निराला ही होता है। यह सुख प्रतिक्षण क्षीण होने वाला नहीं होता है, अक्षुण्ण या अक्षय रस वाला होता है। यही कारण है कि जब-जब उसे पूर्वकृत सेवा

की घटना की स्मृति आती है, हृदय प्रेम व प्रसन्नता से भर जाता है, अर्थात् सेवा का सुख नित्य नूतन रहता है कभी पुराना नहीं होता है, जबकि स्वार्थी व भोगी व्यक्ति को जब-जब पूर्व में भोगे भोग की घटना की स्मृति आती है तब-तब उसके हृदय से पुनः उस भोग को भोगने की कामना उत्पन्न होती है जिससे हृदय में अशांति व अभाव उत्पन्न हो जाता है अर्थात् भोग के सुख का परिणाम शून्य, दरिद्रता व दुःख है तथा सेवा के सुख का परिणाम, नित्य नूतन व अक्षय रस की उपलब्धि एवं संपन्नता है।

सेवक का हृदय उदार होता है। उदारता विभुता प्रदान करती है। विभुता का ही दूसरा नाम वैभव है, संपन्नता है। तात्पर्य यह है कि सेवक वैभवयुक्त एवं सम्पन्न तथा स्वार्थी व्यक्ति अभावयुक्त व दरिद्र होता है। कारण कि सेवक का हृदय सदैव प्रेम के रस से सरस व हरा भरा रहता है। उसमें नीरसता, सूनापन, ऊबना, रिक्तता, खालीपन नहीं आता है। यह नियम है कि जहाँ नीरसता होती है वहाँ ही नीरसता को मिटाने के लिए नवीन सुख पाने की कामना उत्पन्न होती है। प्रेम के बिना नीरसता जाती ही नहीं, प्रेम के बिना शान्ति का रस या सुख स्थायी नहीं हो सकता तथा स्वाधीनता का सुख दृढ़ नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि कामना रहित होने से शान्ति का और राग, ममता व मोह रहित होने से मुक्ति व स्वाधीनता का रस मिलता है, जिसकी अंतिम परिणति अनन्त करुणा, अनन्त प्रेम के रस में होती है, जिसके साथ ही अनन्त ऐश्वर्य (लाभ) अनन्त सौन्दर्य (भोग), अनन्त माधुर्य (उपभोग), अनन्त सामर्थ्य (वीर्य) की अभिव्यक्ति होती है। यही सच्ची संपन्नता है।

आशय यह है कि शांति का रस अक्षय होने पर भी प्रेम के अभाव में टिक नहीं सकता। अतः शान्ति में रमण न कर मुक्ति और प्रीति के रस की उपलब्धि का पुरुषार्थ करना चाहिये। शान्ति का सम्पादन अच्छा है

परन्तु शांति में रमण करना प्रगति में बाधा है। शान्ति में रमण न करने से शान्ति, मुक्ति में और मुक्ति प्रीति में परिणत हो जाती है। यही कैवल्य की उपलब्धि है।

आशय यह है कि सम्पन्न वही है जो कमी रहित है, अभाव रहित है। अभाव व कमी दरिद्रता की द्योतक है। अभाव का अनुभव तभी होता है जब कुछ पाने की कामना हो और उसकी प्राप्ति न हो। वस्तु की प्राप्ति श्रम, शक्ति व काल पर निर्भर करती है। अत: कामना-पूर्ति तत्काल नहीं होती है और जब तक कामना की पूर्ति नहीं होती तब तक कामना अपूर्ति-जन्य अभाव का अनुभव होता है जो दरिद्रता का ही रूप है। अत: कामना अपूर्ति की अवस्थाओं में दरिद्रता व अभाव (अलाभ) का दु:ख भोगना ही पड़ता है। यह सर्वविदित है कि सब कामनाओं की पूर्ति किसी की कभी भी नहीं होती, केवल कुछ कामनाओं की ही पूर्ति होती है। अत: मानव मात्र को कामना-अपूर्ति जन्य अभाव (कमी व दारिद्र्य) का दु:ख सदा बना ही रहता है।

यही नहीं, जिस कामना की पूर्ति हो जाती है उससे जो सुख प्रतीत होता है, वह सुख भी प्रतिक्षण क्षीण होता हुआ अंत में नीरसता में बदल जाता है। इस प्रकार कामना पूर्ति से सुख पाने रूप जिस उद्देश्य की सिद्धि हुई, उस सिद्धि के मिलने न मिलने का अर्थ समान हो जाता है।

कामना पूर्ति जनित रस (सुख) नीरसता में बदलता ही है। नीरसता किसी को भी पसन्द नहीं है। अत: नीरसता मिटाने के लिए नवीन कामना की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार कामना पूर्ति के साथ कामना की उत्पत्ति जुड़ी हुई है और कामना उत्पत्ति के साथ अभाव, दरिद्रता आदि दु:ख जुड़े हुए हैं। अत: कामना अपूर्ति से ही नहीं, कामना पूर्ति से भी अभाव, दरिद्रता आदि दु:ख जुड़े हुए हैं। तात्पर्य यह निकला कि कामना की उत्पत्ति

हो, चाहे कामना की अपूर्ति हो, चाहे कामना की पूर्ति हो सभी अवस्थाओं में अभाव व दरिद्रता जुड़ी हुई है। अतः कामना के त्याग से ही दरिद्रता का अंत संभव है। दरिद्रता का अंत ही समृद्धि का, संपन्नता का सूचक है। कारण कि कामना न रहने पर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता है। 'पाना' शेष न रहना ही सच्ची समृद्धि व सम्पन्नता है। पूर्ण रूप में कामना रहित होना दान, लाभ, भोग, उपभोग व करने की लेशमात्र भी कामना न रहना वीतराग होना है। अतः वीतरागता से ही सच्ची समृद्धि व सम्पन्नता की उपलब्धि होती है, जिसका अंत कभी नहीं होता है। जहाँ वीतरागता है वहाँ अनंत समृद्धि, अनंत संपन्नता, अनंत वैभव है।

❑❑❑

(25)

पुण्य का पालन : पाप का प्रक्षालन

- आत्मा जिससे पवित्र हो, वह पुण्य है।[1]
- आत्मा क्षायोपशमिक, क्षायिक व औपशमिक भाव से पवित्र होती है।
- क्षायोपशमिक, क्षायिक व औपशमिक भाव मोक्ष के हेतु हैं।[2]
- इन भावों से कषाय क्षीण होता है।
- कषाय क्षीण-(क्षय) होने से सत्ता में स्थित पाप कर्मों के स्थिति-बंध एवं अनुभाग-बंध का अपकर्षण (क्षय) होता है अर्थात् पाप कर्मों की निर्जरा होती है।
- कषाय की क्षीणता से आध्यात्मिक (आंतरिक) एवं भौतिक (बाह्य) विकास होता है। आध्यात्मिक विकास से घाती और अघाती कर्मों की समस्त पाप प्रकृतियाँ क्षीण होती हैं जिससे आत्मा की शुद्धि में वृद्धि होती है।
- भौतिक विकास से शरीर, इन्द्रिय, प्राण आदि की उपलब्धि होती है अर्थात् पुण्य का उपार्जन होता है। शुभ (पुण्य) से अपने को बचाना पाप है।[3(अ)]
- पुण्य के उपार्जन से पाप के आस्रव का निरोध होता है।

- पापास्रव का निरोध संवर है।
- पाप और पुण्य कर्मों का फल उनके अनुभाग के रूप में मिलता है। अत: पाप-पुण्य का आधार उनका अनुभाग है।[4] स्थितिबंध व प्रदेश बंध में फल देने की शक्ति नहीं है।
- स्थिति बंध एवं प्रदेश बंध की न्यूनाधिकता से कर्मों का फल न्यूनाधिक नहीं होता है।
- पुण्य के अनुभाग का सर्जन कषाय के क्षय से (कमी से) होता है, कषाय के उदय से नहीं होता है। कषाय का पूर्ण क्षय क्षपक श्रेणी में होता है। अत: वहीं बध्यमान पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध होता है।
- पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग उत्कृष्ट होने पर अन्तर्मुहूर्त्त पश्चात् केवलज्ञान हो जाता है।
- पुण्य का अनुभाग उत्कृष्ट होने पर पुण्य परिपूर्ण हो जाता है फिर पुण्य का उपार्जन शेष नहीं रहता है। अत: वीतराग के साता वेदनीय को छोड़कर अन्य किसी पुण्य कर्म का उपार्जन नहीं होता है।
- पुण्य के प्रदेशों का अर्जन (पुण्याश्रव) और पुण्य के अनुभाग का सर्जन कषाय के क्षय (क्षीणता) अर्थात् शुद्धोपयोग से ही होता है। अशुद्धोपयोग से नहीं होता है। अशुद्धोपयोग से पाप का आश्रव ही होता है।[5]
- शुद्ध आत्मा के अभिमुख करने वाले परिणाम अथवा औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक भाव शुद्धोपयोग है।[6]
- पुण्य के परिणाम से पूर्व संचित पाप कर्मों के स्थिति बंध एवं अनुभाग बंध का अपवर्तन (क्षय) होता है एवं पाप कर्मों का पुण्य

कर्मों में संक्रमण होता है। जिससे पाप कर्मों के प्रकृतिबंध व प्रदेशबंध का क्षय होता है।

- अतः पुण्य का परिणाम पाप कर्मों के प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध, इन चारों प्रकार के बन्धनों के क्षय में हेतु है।

- पुण्य की समस्त प्रकृतियाँ अघाती ही होती हैं, सर्वघाती व देशघाती नहीं होती है, अतः पुण्य से आत्मा के किसी गुण का कभी भी अंश मात्र भी घात नहीं होता है।

- पुण्य कर्म चार हैं- वेदनीय कर्म, गोत्र कर्म, नाम कर्म और आयु कर्म। इन चारों कर्मों की पुण्य प्रकृतियों का उपार्जन चारों कषायों के क्षय (क्षीणता) से होता है।

- क्रोध (द्वेष, क्रूरता) कषाय के क्षय व कमी से (अनुकंपा, करुणा आदि) से साता वेदनीय का उपार्जन होता है।[7]

- मान कषाय (मद) के क्षय व कमी से (निरभिमानता, विनम्रता से) उच्चगौत्र का उपार्जन होता है।[8]

- माया (वक्रता) कषाय के क्षय व कमी से (ऋजुता से) शुभ नाम कर्म का उपार्जन होता है।[9]

- लोभ कषाय के क्षय से (संतोष से) व कमी से शुभ आयु कर्म का उपार्जन होता है।[10]

- इन चारों कर्मों की पाप प्रकृतियों का आश्रव व बंध उपर्युक्त चारों कषायों के उदय से होता है।[11]

- पुण्य का आस्रव (प्रदेश) व अनुभाग का सर्जन कषाय के क्षय (क्षीणता) से होता है। परन्तु पुण्य कर्म का स्थिति बंध (शुभ आयु कर्म को छोड़कर) उदय में रहे शेष कषायों से होता है।

- पुण्य के अनुभाग की वृद्धि स्थिति बंध का क्षय करने वाली होती है।
- वीतराग केवली के मुक्ति-प्राप्ति के अन्तिम समय में जब तक पाप-पुण्य कर्मों का पूर्ण क्षय होता है तब तक पुण्य का अनुभाग उत्कृष्ट ही रहता है। अंश मात्र भी क्षय नहीं होता है। केवली समुद्घात से भी उत्कृष्ट अनुभाग में क्षीणता नहीं आती है।[12]
- पुण्य कर्म के स्थिति-बंध का क्षय पाप कर्म के स्थिति बंध के क्षय के साथ स्वतः होता जाता है, इसके लिए किसी साधना की आवश्यकता नहीं होती है।
- पुण्य कर्म किसी भी गुण का घातक नहीं है। पुण्य कर्म का उदय एवं उसका सदुपयोग आत्मोत्थान में सहायक होता है।
- यह नियम है कि पुण्य के अनुभाग की वृद्धि से पाप तथा पुण्य दोनों कर्मों के स्थिति बंध (तीन शुभ आयु को छोड़कर) का अपवर्तन होता है, जिससे संसार घटता है। अतः अनंत पुण्य का उपार्जन संसार भ्रमण घटाने में सहायक होने से उपादेय है।
- मनुष्य भव के बिना मुक्ति नहीं मिलती है और मनुष्य भव अनंत पुण्य से ही मिलता है। अतः अनंत पुण्यवान को ही मुक्ति मिलती है।
- पुण्य का भावात्मक व आंतरिक रूप सरलता, मृदुता, विनम्रता, करुणा आदि गुण हैं। ये जीव के स्वभाव हैं। पुण्य का क्रियात्मक व बाह्य रूप दान, दया, सेवा, स्वाध्याय, संत-चर्चा, सत्-चिंतन आदि हैं।
- पुण्य का आन्तरिक फल पाप कर्मों का क्षय करना है और पुण्य का बाह्य व आनुषंगिक फल शरीर, इन्द्रिय आदि की उपलब्धि है, पुण्य कर्म प्रकृतियों का उपार्जन है। यह फल न साध्य है, न साधना है, अपितु साधना का सहयोगी अंग है।

- पाप कर्म लोहे की बेड़ी के समान संसार कारागार में आबद्ध करने वाला है, अत: अकल्याणकारी है, दोष है, दूषण है।
- पुण्य कर्म स्वर्णाभूषण (नागल्या) के समान जीवन का शृङ्गार है, शोभास्पद है। स्वर्ण की बेड़ी नहीं है।[13]

सारांश यह है कि पुण्य के पालन से पाप का प्रक्षालन होता है।[14] जिससे मुक्ति की प्राप्ति होती है। अथवा यों कहें कि पाप तो करने पर ही होता है। जबकि 'पुण्य' पाप के प्रक्षालन से, क्षयोपशम भाव से एवं दोषों के त्याग से स्वत: होता है।

संदर्भ ग्रन्थ

1- तत्त्वार्थ सूत्र, अध्ययन 6, सूत्र 2-3 की राजवार्त्तिक टीका व अन्य प्राचीन टीकाएँ।
2- जयधवला पुस्तक 1, पृष्ठ 5 तथा धवला पुस्तक 7, पृष्ठ 9।
3- पंचसंग्रह का उद्वर्तन, अपवर्तन, संक्रमण प्रकरण
3 (अ) तत्त्वार्थसूत्र अ. 6 सूत्र 3 की सर्वार्थ सिद्धि टीका में 'रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम्'।
4- तत्त्वार्थ सूत्र, अध्ययन 6, सूत्र 2-3 की राजवार्त्तिक टीका।
5- जय धवला पुस्तक 1, पृष्ठ 96 गाथा 52।
6- आगमभाषयौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकं भावत्रयं भण्यते। अध्यात्मभाषया पुन: शुद्धात्माभिमुखपरिणाम: शुद्धोपयोग- इत्यादिपर्यायसंज्ञां लभते।। - समयसार तात्पर्यवृत्ति गाथा 320, द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा 45।
7- 8-9-10-11 भगवती सूत्र शतक 8 उद्देशक 9, शतक 7 उद्देशक 6 तथा तत्त्वार्थ सूत्र अध्ययन 6 सूत्र 12 से 24 तक।
12- धवला पुस्तक 12, पृष्ठ 18।
13- बहुश्रुत पं. श्री समर्थमलजी म.सा., श्री रूपचन्दजी कटारिया आदि के साथ समयसार की गाथा पर विचार।
14- मूक माटी में पुण्य प्रकरण, लेखक-आचार्य श्री विद्यासागरजी म.सा.।

❑❑❑

(26)

पुण्य : सोने की बेड़ी नहीं, आभूषण है

विषय-कषाय जन्य सुखों की पूर्ति अपने से भिन्न (पर) पदार्थों से होती है। ऐसा सुख-भोग विकार है, विभाव है, दोष है। इन्द्रियों के विषय भोग, सम्मान, सत्कार आदि की पूर्त्ति शरीर, इन्द्रिय, वस्तु, व्यक्ति परिस्थिति, बल आदि के अधीन है। अतः विषय-कषाय का भोगी व्यक्ति शरीर, इन्द्रिय, मन, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, धन-सम्पत्ति आदि का दास या पराधीन हो जाता है, इनसे बंध जाता है। अतः भोग से व्यक्ति शरीर, इन्द्रिय, भोग्य वस्तुओं आदि की पराधीतना में बंधनों में, कारागार में आबद्ध हो जाता है। इस प्रकार पाप बेड़ी तो लोहे की ही होती है, बेड़ी कहीं पर भी, कभी भी स्वर्ण की नहीं बनायी जाती है। अतः सोने की बेड़ी कहना बेड़ी शब्द के अर्थ को खोना है। विषय-कषाय आदि पापों का सेवन करने वाला व्यक्ति अपने सुख प्राप्ति के लिए हिंसा, झूठ, शोषण, अपहरण, धोखाधड़ी, कलह, संघर्ष आदि अशोभनीय, अनादरणीय आचरण करता है। अतः दोष दूषण हैं।

पाप के विपरीत पुण्य है। क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायों में पापों में कमी होने व इनका क्षय होने से क्षमा, मृदुता, सरलता, सज्जनता, विनम्रता, उदारता, वत्सलता आदि गुण प्रकट होते हैं, जिनसे आत्मा पवित्र होती है। दोषों-पापों का क्षय होना, गुणों का प्रकट होना

और आत्मा का पवित्र होना ये तीनों युगपत् होते हैं, इन तीनों में एकता एवं अभिन्नता है। दोषों व पापों का क्षय होना, गुणों का प्रकट होना, आत्म-स्वभाव का प्रकट होना है, आत्मा धर्म है और आत्मा का पवित्र होना पुण्य है। इस प्रकार पाप का क्षय, धर्म और पुण्य ये तीनों एक ही अवस्था के रूप हैं। पाप-कषायों के क्षय व कमी से क्षमा, मृदुता, सरलता आदि आत्म-गुणों का प्रकट होना आत्मा के लिए शोभास्पद है तथा इन गुणों का क्रियात्मक रूप, सहृदयता, विनम्रता, संवेदनशीलता, मधुरता, सज्जनता, उदारता, परोपकार, सेवा आदि सद्प्रवृत्तियाँ व्यक्ति के जीवन के लिए शोभास्पद है तथा इन सद्प्रवृत्तियों से सुंदर समाज का निर्माण होता है, जो समाज के लिए शोभास्पद है। इस प्रकार पुण्य आत्मा, जीवन एवं समाज इन सबके लिये शोभास्पद होने से अलंकार है, आभूषण है, बेड़ी नहीं। भूषण है, दूषण नहीं। पुण्य को आभूषण की उपमा देना भी एक अर्थ में अपूर्ण हैं। कारण कि आभूषण शरीर पर सदैव धारण नहीं किया जाता है तथा शरीर से आभूषण पृथक् होता है। अतः यह उपमा सद्प्रवृत्ति रूप पुण्य पर ही घटित होती है। आत्म-गुणों के प्रकट होने रूप पुण्य पर घटित नहीं होती है। आत्म-गुण आत्मा के अभिन्न अंग है, जो आत्मा से अलग नहीं होते हैं और सद्प्रवृत्ति यदा-कदा होती है, निरन्तर नहीं। अतः आत्मगुण तो शरीर के समान हैं और सद्प्रवृत्ति आभूषण के समान है।

आशय यह है कि बेड़ी कारागार की पराधीनता की द्योतक है। कारागार उसी को मिलता है जो अपराधी व दोषी है। कारागार की श्रेणी में भेद व भिन्नता का कारण अपराधी के अपराध में भेद व भिन्नता होना है। परन्तु कारागार किसी भी श्रेणी का हो, वह अपराधी को ही मिलता है, निरपराधी को नहीं। अतः बेड़ी लोहे की हो अथवा स्वर्ण की हो, वह दोष व अपराध की अर्थात् पाप की ही सूचक है, पुण्य की नहीं।

❑❑❑

(27)

पुण्य-पाप विषयक ज्ञातव्य तथ्य

(पुस्तक का सार संक्षेप)

- जिससे आत्मा पवित्र हो वह पुण्य है। आत्मा पवित्र होती है-राग, द्वेष, विषय, कषाय आदि दोषों में कमी आने से। अत: पुण्य निर्दोषता का द्योतक है। निर्दोषता विभाव एवं अधर्म नहीं है। इसके विपरीत जिससे आत्मा का पतन हो वह पाप है। आत्मा का पतन राग-द्वेष, विषय-कषाय आदि दोषों की वृद्धि से होता है। अत: पाप दोष का द्योतक है, दोष अधर्म है।

- दया, दान, करुणा, सेवा आदि सद्प्रवृत्तियों से पुण्य का उपार्जन होता है। हिंसा, झूठ, क्रूरता, राग-द्वेष, विषय-वासना आदि दुष्प्रवृत्तियों से पाप का उपार्जन होता है।

- संयम, त्याग, तप, संवर, व्रत, प्रत्याख्यान आदि समस्त निवृत्तिपरक साधनाओं से पुण्य की असीम वृद्धि होती है और पाप का क्षय होता है। इसके विपरीत विषय-कषाय, असंयम आदि से पुण्य का क्षय और पाप की वृद्धि होती है।

- पुण्य की वृद्धि से पाप प्रकृतियों का पुण्य प्रकृतियों में संक्रमण हो

जाता है, अतः पुण्य से पाप का क्षय होता है। इसके विपरीत पाप की वृद्धि से पुण्य प्रकृतियों का पाप प्रकृतियों में संक्रमण होता है, अतः पाप से पुण्य का क्षय होता है।

- यह नियम है कि पुण्य की वृद्धि होती है तो पाप क्षीण होता है और पाप की वृद्धि होती तो पुण्य में क्षीणता होती है। अतः पाप और पुण्य एक-दूसरे के विरोधी हैं, सहयोगी नहीं हैं।

- पुण्य से आत्म-गुणों का विकास होता है और पाप से आत्म-गुणों का ह्रास होता है। अतः पुण्य आत्मा का भूषण है और पाप आत्मा का दूषण है।

- पुण्य प्रकृतियाँ पूर्ण रूप से अघाती हैं। इनसे आत्मा के किसी भी गुण का लेशमात्र भी घात नहीं होता है। प्रत्युत पुण्य आत्म-गुणों के विकास में सहायक है। अतः पुण्य मंगलकारी, कल्याणकारी और पाप विनाशक है।

- सम्यक्त्वी के पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग का हनन व क्षय नहीं होता है। केवल पाप प्रकृतियों के अनुभाग का ही हनन या क्षय होता है।

- वीतराग केवली के मुक्ति-प्राप्ति के पूर्व तक पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग का लेशमात्र भी हनन नहीं होता है अर्थात् पुण्य का अनुभाग उत्कृष्ट ही रहता है। उसके मुक्ति-प्राप्ति के अंतिम समय तक उच्च गोत्र, आदेय, यशकीर्ति आदि पुण्य प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग का उदय ज्यों का त्यों रहता है।

- पुण्य के अनुभाग का सर्जन न तो योग से होता है और न कषाय से होता है। अपितु कषाय की कमी से होता है अर्थात् विशुद्धि भाव से, संयम, संवर, त्याग, तप रूप धर्म से, आत्म-शुद्धि से होता है। पुण्य आत्म-शुद्धि का फल है।

- पुण्य प्रकृतियों का स्थिति-बंध पाप प्रकृतियों के स्थिति बंध की न्यूनाधिकता के साथ-साथ स्वतः न्यून व अधिक होता रहता है, क्योंकि तीन आयु को छोड़कर समस्त पाप-पुण्य कर्म प्रकृतियों के स्थिति बंध का समान रूप से कषाय ही कारण है। कषाय के घटने से सत्ता में स्थित समस्त पुण्य-पाप प्रकृतियों का स्थिति बंध स्वतः घटता है तथा कषाय के बढ़ने से बढ़ता है।

- स्थिति बंध कषाय से होता है। अतः कषाय से जितना पाप प्रकृतियों का स्थिति बंध होता है उसकी तुलना में पुण्य प्रकृतियों का स्थिति बंध कम होता है तथा पाप के स्थिति बंध के क्षय के साथ पुण्य प्रकृतियों के स्थिति बंध का क्षय स्वतः हो जाता है। पुण्य के स्थिति-बंध के क्षय के लिए अलग से कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है।

- पुण्य के अनुभाग का क्षय किसी भी साधना से संभव नहीं है। साधना से तो पुण्य का अनुभाग बढ़ता ही है, अतः मुक्ति में जाने के लिए पुण्य के क्षय की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है पाप के क्षय की।

- यह नियम है कि जितना पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग बढ़ता जाता है उतनी ही उनकी स्थिति घटती जाती है। पुण्य की स्थिति बढ़ती

है तो पुण्य का अनुभाग घटता है। पुण्य प्रकृति के अनुभाग और स्थिति में विरोध है। पुण्य का अनुभाग शुभ और स्थिति अशुभ है।

- किसी भी साधक के केवलज्ञान-प्राप्ति में पुण्य प्रकृतियों का उदय बाधक नहीं है, क्योंकि पुण्य प्रकृतियाँ पूर्ण रूप से अघाती होने से जीव के किसी गुण का अंश मात्र भी घात नहीं करती हैं।

- यदि मुक्ति-प्राप्ति के समय पुण्य के छूट जाने से पुण्य को हेय माना जाय तो उस समय यथाख्यात चारित्र भी छूट जाता है। अतः यथाख्यात चारित्र को भी हेय मानना होगा जो आगम-विरुद्ध है।

- पाप-पुण्य कर्मों का फल उनके अनुभाग के रूप में ही मिलता है। वीतराग केवली के आदेय, यशकीर्ति आदि समस्त पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग उत्कृष्ट होता है और मुक्ति-प्राप्ति के अंतिम समय तक उत्कृष्ट ही रहता है। अतः पुण्य का फल किंचित् भी हेय व त्याज्य नहीं है।

- पुण्य सोने के आभूषण के समान है जिससे आत्म-गुणों की शोभा बढ़ती है, आभूषण सौभाग्य का द्योतक होता है।

- पुण्य औषधि के समान है जो राग, द्वेष, विषय, वासना, कषाय, भोग आदि विकारों को, रोगों को मिटाता है।

- पुण्य ईंधन के समान है जो पाप रूप दोषों को जलाकर स्वयं शांत हो जाता है।

- पुण्य नौका के समान है जिस पर चढ़कर साधक सिद्धि पा लेता

है। नौका छूट जाने से नौका हेय या त्याज्य नहीं हो जाती है। वैसे ही पुण्य छूट जाने से पुण्य हेय नहीं हो जाता है।

- मिथ्यात्वी जीव पुण्य से ही पाप प्रकृतियों की स्थिति व अनुभाग कम करके सम्यग्दर्शन के सम्मुख होता है।

- मिथ्यात्वी जीव के पुण्य का अनुभाग बढ़कर जब तक चतु:स्थानिक नहीं हो जाता है तब तक वह सम्यग्दर्शन के सम्मुख नहीं होता है। अत: पुण्य सम्यग्दर्शन में सहायक होता है, बाधक नहीं।

- कषाय रूप औदयिक भाव ही कर्म बंध का कारण है। शुभभाव किसी कर्म के उदय से नहीं होता है। अत: शुभ भाव रूप पुण्य किसी कर्म का कारण नहीं है।

- यदि शुभ योग और शुभ भाव को कर्म क्षय का कारण न माना जाय तो कर्म क्षय हो ही नहीं सकते। यहाँ तक कि सम्यक्त्व की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। क्योंकि अशुभ योग तो कर्म बंध का ही कारण है, उससे तो कर्म क्षय हो ही नहीं सकते।

- कषाय या पाप में कमी होना ही शुभभाव है, यही आत्मा का शुद्धिकरण भी है, अत: शुभ भाव आत्म-विशुद्धि का ही द्योतक है।

- शुभ भाव से आत्मा की शुद्धि होती है, इसलिये शुभ योग को संवर कहा है।

- दया, दान, करुणा, वात्सल्य, अनुकंपा आदि भाव औदयिक भाव नहीं हैं, क्योंकि ये किसी कर्म के उदय से नहीं होते हैं। अत:

स्वभाव हैं। इन्हें विभाव मानना, स्वभाव न मानना जैन संस्कृति व आगम के विपरीत है।

✍ दया, दान, अनुकंपा, वात्सल्य, मैत्री आदि भाव पुण्योपार्जन के हेतु हैं। यदि पुण्योपार्जन को विभाव माना जाय तो उत्कृष्ट पुण्य का उपार्जन क्षपक श्रेणी की उत्कृष्ट साधना से होता है। इससे श्रपकश्रेणि रूप साधना को भी विभाव मानने का प्रसंग उत्पन्न होता है, जो भूल है। अतः दया, दान, करुणा आदि को विभाव मानना आगम विरुद्ध है।

✍ मोहनीय कर्म की किसी भी प्रकृति को आगम व कर्म सिद्धांत में प्रशस्त या शुभ या पुण्य रूप नहीं कहा है और न पुण्य का हेतु ही कहा है। अतः राग प्रशस्त नहीं हो सकता। किसी व्यक्ति, वस्तु, गुरु, देव, धर्म के प्रति यदि राग हो तो वह पाप रूप ही होता है, बुरा ही होता है। वह संवररूप होता है। वह प्रमोद किसी बाह्य वस्तु, शरीर आदि के प्रति नहीं होता, अपितु स्वाभाविक गुणों के प्रति होता है। अतः उसे विभाव मानना भूल है।

✍ पुण्य को पाप के समान हेय या त्याज्य समझना भ्रान्ति है तथा इस भ्रान्ति को प्रश्रय देना पुण्य को त्यागने के लिए प्रेरित करना है, जो भूल है। यह नियम है कि जहाँ पुण्य का अभाव है वहाँ निश्चित रूप से पाप है, क्योंकि शुद्ध भाव व धर्म के साथ पुण्य का उतना ही घनिष्ठ संबंध है जितना काया के साथ छाया का, वस्तु के साथ वर्ण, गंध, रस और स्पर्श का तथा धूप के साथ प्रकाश का।

- स्वभाव से प्रतिकूल ले जाने वाली प्रवृत्ति पाप है और स्वभाव की ओर बढ़ाने वाली प्रवृत्ति पुण्य है।

- दया, दान, करुणा, अनुकंपा, वात्सल्य, सेवा आदि सद्प्रवृत्तियों के साथ लगे कषाय के कारण से पुण्य का स्थिति बंध होता है। करने का राग व अभिमान, कर्तृत्व भाव तथा प्रतिफल पाने की आशा रूप भोक्तृत्व भाव रूप कषाय के अभाव में किसी भी कर्म का स्थिति बंध संभव नहीं है। अतः कर्म बंध का मुख्य हेतु कषाय ही है। दया, दान, करुणा आदि आत्म-गुण बंध के हेतु नहीं है।

- उत्तराध्ययन सूत्र अध्याय 32 में कहा है-**'रागो या दोसो बिय कम्मबीयं'** अर्थात् राग और द्वेष ये दो ही कर्म के बीज हैं, कर्म बंध के हेतु हैं। राग-द्वेष पाप हैं अतः कर्म बंध का हेतु पाप ही है, पुण्य नहीं है।

- पुण्य केवल सद्प्रवृत्तियों से ही होता है ऐसी बात नहीं है, क्योंकि सद्प्रवृत्तियों से जितना पुण्य का उपार्जन होता है उससे अनन्त गुणा अधिक पुण्य का उपार्जन संयम, त्याग, तप, संवर, इन्द्रिय-निरोध रूप निवृत्ति से होता है। यही कारण है कि क्षपकश्रेणि में पाप कर्मों की महान् निर्जरा व पुण्य का उत्कृष्ट अनुभाग होता है।

- सद्प्रवृत्तियों से जो पुण्य का उपार्जन होता है वह भी दुष्प्रवृत्ति रूप दोषों के त्याग से व दोषों में कमी होने से होता है। अतः पुण्य उपार्जन का हेतु दोषों का त्याग अथवा दोषों में कमी होना है।

- दया, दान, करुणा, परोपकार, अनुकंपा, वात्सल्य आदि सद्प्रवृत्तियों

का भावात्मक फल राग-द्वेष आदि दोषों को गालना है जिसमें अक्षय-अव्याबाध-अनंत सुख की अनुभूति होती है और क्रियात्मक फल से श्रेष्ठ व्यक्तित्व व सुंदर समाज का निर्माण होता है।

- सेवा व परोपकार की जिस प्रवृत्ति से राग-द्वेष, विषय-कषाय, स्वार्थपरता, इन्द्रिय-भोग, हिंसा आदि दोष बढ़ते हों वह प्रवृत्ति बाहर से भले ही पुण्य रूप दिखे, परंतु वह पाप ही है।

- जिस क्रिया, प्रवृत्ति, कार्य व भाव से आत्मा का पतन हो वह पाप है और जिस क्रिया, प्रवृत्ति, कार्य व भाव से आत्मा पवित्र हो वह पुण्य है। यही पुण्य-पाप की कसौटी है।

- भोग पुण्य प्रकृतियों का हो अथवा पाप प्रकृतियों का, त्याज्य ही है, क्योंकि भोग मोह के उदय का सूचक तथा कर्म-बंध का हेतु है।

- साधना प्रवृत्तिपरक हो अथवा निवृत्तिपरक, उसमें पुण्य के अनुभाग में वृद्धि ही होती है, क्षय नहीं होता है। पुण्य के अनुभाग में क्षीणता पाप प्रवृत्तियों में वृद्धि होने से होती है। पाप की वृद्धि से ही पुण्य का संक्रमण पाप में होकर पुण्य क्षीण हो जाता है तथा पुण्य के अनुभाग का भी अपवर्तन होता है।

- पुण्य के उत्कृष्ट अनुभाग के समय स्थिति बंध जघन्य होता है। जबकि पाप के उत्कृष्ट अनुभाग बंध के साथ उत्कृष्ट स्थिति बंध होता है।

- पुण्य और पाप दोनों का ही स्थिति बंध होना व स्थिति बंध में वृद्धि होना अशुभ है कारण कि पुण्य-पाप दोनों के स्थिति बंध में वृद्धि कषाय रूप पाप की वृद्धि से होती है।

- पाप प्रकृतियों के बंध के साथ पुण्य प्रकृतियों का बंध नियम से होता है। केवल पाप प्रकृतियों का बंध कभी नहीं होता है। अत: 10वें गुणस्थान तक के जीवों के पाप के साथ पुण्य प्रकृतियों का और पुण्य के साथ पाप प्रकृतियों का बंध अवश्य होता है, यों कहें कि पुण्य और पाप दोनों का बंध निरंतर होता ही रहता है।

- मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सयोगी केवली गुणस्थान तक सब जीवों के पुण्य व पाप की कर्म प्रकृतियों का उदय सदैव रहता है। अकेले पाप व अकेले पुण्य प्रकृतियों का उदय कभी नहीं रहता है।

- भावों की विशुद्धि व पाप के त्याग से पुण्य स्वत: होता है।

- जो कार्य शरीर, इन्द्रिय या संसार के सुख पाने की इच्छा से किया जाता है वह भोग है, पाप है, पुण्य नहीं है।

- विषय भोग की इच्छा की उत्पत्ति, विषय भोग भोगना, लोभ आदि कषाय वृत्तियों का रसास्वादन करना पापोदय का फल है तथा पाप के बंध का हेतु है। भोग तथा भोग की निमित्त सामग्री के संग्रह रूप परिग्रह को आगम में पाप कहा है। पाप को पुण्योदय का फल मानना तात्त्विक भूल है। यही कारण है कि तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती राज-पाट, धन-धान्य, भूमि-भवन आदि परिग्रह रूप पाप का व भोगों का त्याग कर साधु बनते हैं जिससे उनके पाप का क्षय होकर असीम पुण्योदय होता है।

- यह नियम है कि जो जितना अधिक भोगी है वह उतना ही बड़ा पापी है और जो भोग का जितना त्याग करता है वह उतना ही

अधिक पुण्यवान है। यही कारण है कि जैसे-जैसे उच्च स्तरीय देवलोकों में जाते हैं विषय भोग घटते जाते हैं, पुण्योदय होने से विषय सुख की इच्छा घटती जाती है। विषयभोग व परिग्रह पापोदय का प्रतीक है।

- क्षायिक, औपशमिक क्षायोपशमिक एवं पारिणामिक भाव से कर्म बंध कभी नहीं होते हैं। केवल उदयभाव से ही कर्म बंध होता है, वह भी केवल मोहजन्य उदय भाव से। अन्य उदय भाव से नहीं होता है। अत: कर्म बंध का कारण मोह रूप पाप ही है पुण्योदय व पुण्य भाव नहीं।

- कषाय की मंदता अर्थात् कषाय में कमी होना पुण्य है। मंद या कम कषाय पुण्य नहीं है। क्योंकि कषाय मंद हो या अधिक, अशुभ है, पाप है। पाप रूप कम कषाय को पुण्य मानना तात्त्विक भूल है।

- सम्यग्दृष्टि जीव के सत्ता में स्थित पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग चतु:स्थानिक होता है और पाप प्रकृतियों का अनुभाग द्विस्थानिक होता है।

- जीव के सत्ता में स्थित पाप व पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थिति बंध घटकर अंत:कोटाकोटि सागरोपम हो जाने पर ही उसे सम्यग्दर्शन होता है।

- शुभ से पुण्य का और अशुभ से पाप का उपार्जन होता है। शुभ गुण होते हैं और अशुभ अवगुण होते हैं। गुण स्वभाव रूप और अवगुण विभाव रूप होते हैं, अत: गुणों की वृद्धि से अर्थात् स्वभाव

की ओर बढ़ने से पुण्य का उपार्जन होता है। इसके विपरीत अवगुणों की वृद्धि से अर्थात् विभाव की ओर बढ़ने से पाप का उपार्जन होता है। अतः पुण्य स्वभाव का और पाप विभाव का द्योतक है।

✍ पुण्य का उपार्जन किसी भी दोष से संभव नहीं है, गुण से ही संभव है। दोष ही त्याज्य होता है, गुण नहीं। गुण के त्याग का विधान कहीं नहीं है। अतः पुण्य न त्याज्य है और न हेय है, अपितु उपादेय है।

✍ दोषों की कमी से या त्याग से पुण्य का उपार्जन होता है, परंतु त्याग के साथ जुड़े सांसारिक वस्तु, सम्मान आदि के रूप में प्रतिफल पाने की भोगेच्छा से पुण्य का स्थिति बंध होता है। अतः पुण्य का अनुभाग शुभ एवं पुण्य का स्थिति बंध अशुभ है।

✍ मिथ्यात्व गुणस्थान से सयोगी केवली गुणस्थान तक कोई भी जीव प्रवृत्ति किये बिना नहीं रह सकता। अतः वह निरंतर मन, वचन, काय इनमें से किसी न किसी से कोई न कोई प्रवृत्ति अवश्य करता है। प्रवृत्ति दो ही प्रकार की होती है शुभ और अशुभ। अतः शुभ प्रवृत्ति में रत होना, अर्थात् पाप करना। यही कारण है कि कोई भी साधक यहाँ तक कि सयोगी केवली तक भी सदैव शुभ योग युक्त रहते हैं, शुभ योग का त्याग नहीं करते हैं।

✍ शुभ योग की भूमिका में ही संयम, चारित्र, सामायिक, व्रत, प्रत्याख्यान आदि धर्म संभव हैं।

- जो त्याग मुक्ति-प्राप्ति का लक्ष्य बनाकर किया जाता है अर्थात् जिसमें सांसारिक सुख भोग की आकांक्षा नहीं है वही धर्म है, उसी से उत्कृष्ट पुण्य का उपार्जन होता है।

- पाप के त्याग रूप शुभभाव से पुण्य का उपार्जन होता है। जैसे मद के त्याग से उच्च गोत्र का, निरतिचार व्रत पालन, सामायिक, प्रत्याख्यान आदि से तीर्थङ्कर नामकर्म का, मन-वचन-काय की कुटिलता के त्याग से शुभनामकर्म का पुण्य उपार्जन होता है।

- शुभास्रव (पुण्यास्रव) दोष रूप नहीं होता है।

- भोगेच्छा का उत्पन्न होना, भोग भोगना पाप है, अत: जो भोगी है वह पापी है और जो जितना अधिक भोगी है वह उतना ही अधिक पापी है। विषय भोगी को पुण्यात्मा मानना पापात्मा को पुण्यात्मा मानना है, जो भूल है। भूल के त्याग में ही कल्याण है।

- जहाँ राग है वहाँ पाप है, जहाँ अनुराग है वहाँ पुण्य है। राग में आसक्ति होती है, अनुराग में प्रमोद, प्रीति, मैत्री, वात्सल्य भाव होता है। राग में वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि पर-पदार्थों से सुख पाने की इच्छा होती है। अनुराग में प्राप्त सामग्री, सामर्थ्य, योग्यता का उपयोग दूसरों की सेवा में करने से प्रमोद होता है। राग भोगों के प्रति होता है, अनुराग गुणों के प्रति होता है। राग कर्म बंध का कारण है और अनुराग कर्म-क्षय का हेतु है।

- सामान्यत: सभी जीवों के पुण्य व पाप इन दोनों कर्म प्रकृतियों का

बंध एवं उदय निरंतर होता रहता है। अतः पुण्यानुबंधी पुण्य-पाप एवं पापानुबंधी पुण्य-पाप रूप चौकड़ी में पुण्य के उदय का संबंध साता वेदनीय के उदय से और पाप के उदय का संबंध असाता वेदनीय के उदय से है और अनुभाग का संबंध संक्लेश विशुद्धि भाव से है। विशुद्धि भाव से होने वाले कर्म बंध को पुण्यानुबंधी कहा गया है एवं संक्लेश भाव से होने वाले कर्म बंध को पापानुबंधी कहा गया है।

- पुण्य के फल से पाप का बंध मानना अथवा पाप के फल से पुण्य का बंध मानना भूल है।

- साता वेदनीय के उदय में विशुद्धि भाव का होना पुण्यानुबंधी पुण्य है और असातावेदनीय के उदय में विशुद्धि भाव का होना पुण्यानुबंधी पाप है। पुण्यानुबंधी इसलिये कहा गया है कि इससे सभी पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग में वृद्धि होती है।

- सातावेदनीय के उदय में संक्लेश भाव का होना पापानुबंधी पुण्य और असाता वेदनीय के उदय में संक्लेश भाव का होना पापानुबंधी पाप है। संक्लेशभाव को पापानुबंधी इसलिये कहा गया है कि इससे पाप के अनुभाग में वृद्धि होती है।

- विशुद्धि रूप शुभ भाव ही पुण्य है। विशुद्धि से कषाय घटता है, जिससे आत्मा के ज्ञान-दर्शन आदि गुणों का आवरण दूर होता है और इन गुणों का प्रकटीकरण होता है, जिससे प्राणों का विकास

होता है। प्राणों का विकास ही प्राणी का विकास है। प्राणबल के विकास से ही इन्द्रिय तन, मन आदि की उपलब्धि होती है। यह पुण्य कर्म का फल है जो अघाती रूप है।

- यदि विद्यमान कषाय में कमी हो रही है तो सत्ता में स्थित पाप प्रकृतियों के अनुभाग और स्थिति बंध में कमी (अपवर्तन) हो जाती है। यदि कषाय में वृद्धि हो रही है तो सत्ता में स्थित पाप प्रकृतियों की स्थिति व अनुभाग में वृद्धि हो जाती है।

- यह नियम है कि जिन पाप व पुण्य प्रकृतियों का वर्तमान में बंध हो रहा है, उन प्रकृतियों में सत्ता में स्थित उनकी विरोधिनी प्रकृतियों का संक्रमण हो जाता है अर्थात् विशुद्धि भाव से पुण्य प्रकृतियों का उपार्जन हो रहा है तो सत्ता में स्थित पुण्य प्रकृतियों का पाप प्रकृतियों में रूपांतरण हो जाता है।

- आत्म-विकास के साथ पुण्य का उपार्जन व अनुभाग में वृद्धि स्वत: होती है।

- पुण्य का अनुभाग द्विस्थानिक से बढ़कर चतु:स्थानिक होने पर ही सम्यग्दर्शन होता है और वह पुण्य का अनुभाग आगे के सभी गुणस्थानों में चतु:स्थानिक ही रहता है।

- पुण्योपार्जन (पुण्यास्रव) का हेतु सर्वत्र शुद्धोपयोग तथा अनुकंपा रूप स्वभाव को ही बताया है। शुद्धोपयोग, अनुकंपा, दया को ही सर्वत्र धर्म कहा है। अत: पुण्य का उपार्जन तथा धर्म सहभावी है,

सहकारी है। जहाँ धर्म है वहाँ पुण्य नियम से है। पुण्य के अभाव में धर्म संभव नहीं है।

- संवर और निर्जरा में जितनी वृद्धि होती जाती है उतनी पुण्य के अनुभाग में भी वृद्धि होती जाती है।
- संवर (संयम) और निर्जरा (तप) की साधना से पाप का क्षय एवं पुण्य का वर्द्धन होता जाता है।
- पुण्य की वृद्धि साधक को साधना पथ में आगे बढ़ाने में सहायक होती है।
- पाप की वृद्धि साधना पथ में बाधक होती है।
- पाप का उपार्जन (पापास्रव) अशुद्धोपयोग एवं निर्दयता से होता है।
- पुण्य-पाप की कर्म प्रकृतियों के प्रदेशों में हीनाधिकता होने से उनके अनुभाग में हीनाधिकता नहीं होती है।
- पुण्य प्रकृतियाँ अघाती हैं। ये आत्मा के किसी गुण का घात नहीं करती हैं इसलिये पुण्य प्रकृतियों का क्षयोपशम नहीं होता है। क्षयोपशम घाती कर्म की प्रकृतियों का ही होता है।
- कषाय की कमी से पुण्य के आस्रव में वृद्धि होती है और उस समय जितना कषाय शेष रह जाता है उससे पुण्य का स्थिति बंध होता है। अत: पुण्य का स्थिति बंध जितना कम होता जाता है, उतना पुण्य का अनुभाग बढ़ता जाता है।

- साधक जैसे-जैसे साधना मार्ग में आगे बढ़ता जाता है वैसे-वैसे पूर्वोपार्जित पाप कर्मों का पुण्य प्रकृतियों में संक्रमण होता जाता है अर्थात् पाप का पुण्य में रूपान्तरण, मार्गान्तरीकरण, उदात्तीकरण होता जाता है।

- तीन आयु को छोड़कर समस्त पुण्य-पाप की प्रकृतियों का क्षय उनकी स्थिति बंध के क्षय से होता है और स्थिति बंध का क्षय कषाय के क्षय से होता है। अतः जैसे-जैसे कषाय में कमी आती जाती है वैसे-वैसे पुण्य-पाप कर्मों की स्थिति-बंध का क्षय होता जाता है।

- 'पाप' दुष्प्रवृत्ति से होता है और 'पुण्य' विषय-कषाय, राग-द्वेष, मद, वक्रता आदि दुष्प्रवृत्तियों के त्याग से होता है अर्थात् पाप की निवृत्ति से पुण्य होता है।

- शुभ योग से पाप कर्म की स्थिति व अनुभाग का अपवर्तन होता है, अतः शुभ योग को संवर कहा है।

- शुभ योग के साथ रहा हुआ कषाय रूप अशुभ भाव कर्म की स्थिति बंध का कारण है। शुभ योग कर्म बंध का कारण नहीं है।

- शुद्ध भाव से चेतना का आंतरिक विकास होता है, उसके साथ ही योग से बाह्य विकास भी होता है। दोष या पाप में कमी आना आंतरिक विकास है जो संवर है और प्राणशक्ति, पाँच इन्द्रिय, मन, वचन, काय आदि की शक्ति का विकास बाह्य विकास है। बाह्य विकास को पुण्य कर्म कहा गया है।

- स्वभाव का पूर्ण नाश कभी नहीं होता है, प्रत्येक जीव में किसी न किसी अंश में स्वभाव सदा प्रकट ही रहता है। अतः प्राणी मात्र के किसी न किसी प्रकृति के रूप में पुण्य का उदय सतत रहता है।

- पुण्य से विकारों की उत्पत्ति नहीं होती है। विकारों की उत्पत्ति पाप से ही होती है, अतः भोगेच्छा की उत्पत्ति एवं भोग प्रवृत्ति पाप ही है, पुण्य नहीं और पुण्य का फल भी नहीं है। मोहजन्य है, मोह का फल है, औदयिक भाव है।

- उच्च गोत्र, यशकीर्ति, देवगति आदि समस्त पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग जब तक उत्कृष्ट न हो तब तक किसी को भी केवलज्ञान नहीं होता है और केवलज्ञान तथा मुक्ति प्राप्त न होने का हेतु पुण्य कर्म नहीं है। अपितु पुण्य के अनुभाग में कमी रहना है।

- उच्च गोत्र, देवगति, यशकीर्ति आदि पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग उत्कृष्ट होने पर अन्तर्मुहूर्त्त में केवलज्ञान हो जाता है तथा वह जीव उसी भव में मुक्त होता है।

- मनुष्य भव आदि पुण्य प्रकृतियाँ साधक के लिए साधना में एवं मुक्ति में सहायक हैं।

- जीव के मुक्ति में बाधक कारण पाप प्रकृतियों का उदय है न कि पुण्य प्रकृतियों का उदय। क्योंकि पाप के क्षय होते ही पुण्य के स्थिति बंध का क्षय स्वतः हो जाता है।

- भावों की विशुद्धि पुण्य है और अशुद्धि पाप है। पाप-पुण्य का यही आधार है।

✍ पुण्य में महत्त्व त्याग व अनुकम्पा का है, प्रवृत्ति का नहीं। पुण्य प्रवृत्ति कम हो या अधिक, उस प्रवृत्ति से जितना राग-द्वेष गलता है वही महत्त्व की बात है।

✍ 1. पुण्य तत्त्व, 2. पुण्यास्रव, 3. पुण्य प्रवृत्ति, 4. पुण्य का अनुभाग और 5. पुण्य कर्म में अंतर है। 1. पुण्यतत्त्व है-शुभ या शुद्ध परिणाम 2. पुण्यास्रव है-शुभ योग व शुद्ध परिणामों के फलस्वरूप पुण्य की कर्म-वर्गणाओं का आना, उनका उपार्जन होना। 3. पुण्य प्रवृत्तियाँ हैं-दया, दान, सेवा, परोपकार आदि सद्प्रवृत्तियाँ 4. पुण्य का अनुभाग है-फलदान शक्ति और 5. पुण्य कर्म बंध है-पुण्यास्रव से अर्जित कर्म का कषाय के कारण से आत्मा के साथ बंध कर सत्ता में स्थित होना।

✍ पुण्य तत्त्व, पुण्यास्रव, पुण्य प्रवृत्ति, पुण्य का अनुभाग, ये सब त्याज्य व हेय नहीं हैं। केवल पुण्य का स्थिति बंध ही क्षय योग्य है, परंतु उसके क्षय के लिए कोई प्रयत्न व साधना अपेक्षित नहीं है। वह पाप कर्म की स्थिति-क्षय के साथ स्वतः क्षय हो जाता है।

✍ पुण्य का अनुपालन पाप का प्रक्षालन है।

✍ पाप प्रवृत्ति से प्राणी की प्राण शक्ति का ह्रास होता है। अतः पाप प्राणातिपात है।

✍ घाती कर्मों का उदय जीव के गुणों का घात करता है तथा इनके क्षयोपशम और क्षय से जीव के गुण प्रकट होते हैं। इसलिए चारों

घाती कर्म की समस्त प्रकृतियाँ विभाव हैं, स्वभाव नहीं हैं। परंतु अघाती कर्मों का उदय जीव के किसी गुण का घात नहीं करता है, इसलिये वे दोष रूप नहीं हैं और अघाती कर्मों के क्षय से कोई गुण प्रकट नहीं होता है अत: ये गुण रूप भी नहीं है। अर्थात् अघाती कर्म गुण-दोष रहित हैं, स्वभाव-विभाव रहित हैं।

- क्रोध, लोभ, माया और मान इन चारों कषायों के क्षय (क्षीणता) से क्रमश: क्षमा, मुक्ति, ऋजुता और मृदुता ये चार गुण प्रकट होते हैं। इन चारों गुणों से क्रमश: चारों अघाती कर्मों की पुण्य प्रकृतियों का उपार्जन होता है यथा-क्षमा (निर्वैरता-मैत्री) से सातावेदनीय का, मुक्ति (निर्लोभता, आदि परिग्रह त्याग) से शुभ आयु कर्म का, ऋजुता (सरलता, निष्कपटता) से शुभ नाम कर्म का एवं मृदुता (हृदय की कोमलता-निरहंकारता-विनम्रता) से उच्च गोत्र का उपार्जन होता है।

- पाप के क्षय 'क्षीणता' से और संवर-निर्जरा से आत्मा पवित्र होती है। आत्मा की पवित्रता से पुण्य कर्म का उपार्जन होता है।

- पुण्य कर्म का अनुभाग बंध कषाय की उदय अवस्था में होने पर भी कषाय के उदय से नहीं होता है, कषाय के क्षय से होता है।

- पाप कर्मों का उपार्जन कषाय से होता है और पुण्य कर्मों का उपार्जन कषाय के क्षय से होता है।

- पुण्य कर्म के उदय के अभाव में उनकी विरोधिनी पाप प्रकृतियों का उदय नियम से होता है।

- अघाती कर्मों की पुण्य प्रकृतियों का उदय भौतिक विकास का तथा अघाती कर्मों की पाप प्रकृतियों का उदय भौतिक ह्रास का द्योतक है। घाती कर्मों की पाप-प्रकृतियों का उदय आध्यात्मिक ह्रास का एवं इनका क्षयोपशम, उपशम तथा क्षय आध्यात्मिक विकास का सूचक है। मन, वचन, काय आदि की प्राण शक्ति का विकास भौतिक विकास है, यही प्राणी का विकास है।

- दया, दान वैयावृत्त्य आदि सद्प्रवृत्तियों का भावात्मक फल राग-द्वेष आदि दोषों का निवारण है तथा आध्यात्मिक विकास है और इन सद्प्रवृत्तियों के क्रियात्मक रूप का परिणाम भौतिक विकास है।

- पुण्य का आस्रव शुद्धोपयोग से कषाय के क्षय व क्षीणता से होता है और पाप का आस्रव अशुद्धोपयोग (कषाय के उदय) से होता है।

- पुण्य का आस्रव पाप के आस्रव का निरोध व अवरोध करता है।

- आयुकर्म की पुण्य प्रकृतियों को छोड़कर शेष समस्त पुण्य कर्मों की प्रकृतियों की स्थिति का क्षय कषाय के क्षय से होता है।

- पुण्य और पाप ये दोनों भाव परस्पर में विरोधी हैं एवं इन दोनों का आस्रव परस्पर विरोधी है।

- कषाय की मंदता शुद्धोपयोग व शुभ योग रूप होती है, जबकि मंद कषाय अशुभ व पाप रूप होता है।

- कषाय की मंदता से कर्मों (स्थिति बंध) का क्षय होता है और मंद कषाय से कर्मों का (स्थिति) बंध होता है।

- पुण्य के अनुभाग का हेतु न तो योग है और न कषाय है, प्रत्युत कषाय की मंदता है।
- शुभ भाव किसी कर्म के उदय से नहीं होता है, अतः औदयिक भाव नहीं है प्रत्युत क्षायोपशमिक भाव है। शुभ भाव रूप पुण्य औदयिक भाव नहीं होने से कर्म-बंध के हेतु नहीं हैं एवं क्षायोपशमिक भाव होने से कर्म क्षय के हेतु हैं।
- जो हेतु पाप के क्षय के हैं वे ही पुण्य की उपलब्धि के भी हेतु हैं।
- पुण्य का उपार्जन (अनुभाव की वृद्धि) पुण्य कर्म के क्षय (स्थिति का क्षय) का सूचक है।
- धन-सम्पत्ति आदि बाह्य द्रव्य कर्मोदय में सहयोगी (निमित्त) कारण हैं।

❑❑❑

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल के विविध सेवा सोपान

जिनवाणी हिन्दी मासिक पत्रिका का प्रकाशन

जैन इतिहास, आगम एवं अन्य सत्साहित्य का प्रकाशन

अखिल भारतीय श्री जैन विद्वत् परिषद् का संचालन

उक्त प्रवृत्तियों में दानी एवं प्रबुद्ध चिन्तकों के रचनात्मक सक्रिय सहयोग की अपेक्षा है ।

सम्पर्क सूत्र

मंत्री

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

दुकान नं. 182 के ऊपर, बापू बाजार

जयपुर-302003 (राजस्थान)

दूरभाष : 0141-2575997, फैक्स : 0141-4068798

ई-मेल : sgpmandal@yahoo.in